काव्यालोक

द्वितीय उद्योत

अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना और ध्वनि

रचयिता

अनेक हिन्दी-संस्कृत-ग्रन्थों के प्रणेता

पण्डित रामदहिन मिश्र

'अध्ययन का व्रत लेकर भी जिसने अर्थ को न जाना, या जानने का सचाई के
साथ कभी प्रयत्न नहीं किया या प्रयत्न करता हुआ भी अपने संकल्प
को विजयी नहीं बना सका, उस अधीती के लिये शोक है।'

प्रकाशक

ग्रन्थमाला-कार्यालय

बाँकीपुर

प्रथम संस्करण]   संवत् २००१   [मूल्य ५)

प्रकाशक
देवकुमार मिश्र
ग्रन्थमाला-कार्यालय
बाँकीपुर



मुद्रक—
बी. के. शास्त्री;
ज्योतिष-प्रकाश प्रेस, काशी ४४१०

विषय-सूची

——o——

सहायक ग्रन्थों की सूची

संस्कृत

१ अग्निपुराण—श्री वेदव्यास
२ अभिधावृत्तिमातृका—मुकुल भट्ट
३ अमरकोष—अमर सिंह
४ अंग्रेजी और संस्कृत डिक्स्नरी—आप्टे
५ एकावली—विद्याधर
६ औचित्यविचारचर्चा—क्षेमेन्द्र
७ काव्यप्रकाश—(प्रदीप और उद्योत) मम्मट भट्ट
८ काव्यप्रदीप—गोविन्द
९ काव्यमीमांसा—राजशेखर
१० काव्यानुशासन—हेमचन्द्र
११ काव्यालंकार—भामह
१२ काव्यालंकारसारसंग्रह—उद्भट
१३ काव्यालंकारसूत्र—वामन
१४ काव्यालंकार—रुद्रट
१५ काव्यादर्श—दण्डी
१६ कुवलयानन्द—अप्पय दीक्षित
१७ गीता श्री वेदव्यास
१८ चन्द्रालोक—जयदेव
१९ त्रिवेणिका—आशाधर भट्ट
२० ध्वन्यालोक (लोचन और दीधिति)—ध्वनिकार और आनन्दवर्द्धन
२१ नाट्यशास्त्र—श्री भरतमुनि
२२ निरुक्त—महर्षि यास्क
२३ न्यायभाष्य—वात्स्यायन
२४ न्यायमाला—माधवाचार्य
२५ महाभाष्य—पतञ्जलि
२६ मुक्तावली—विश्वनाथ तर्कपञ्चानन
२७ मंजूषा—नागेश भट्ट
२८ रसगंगाधर—जगन्नाथ
२९ रसतरंगिणी—भानु मिश्र
३० वाक्यपदीय—भर्तृहरि
३१ वक्रोक्तिजीवित—कुन्तल

३२ वृत्तिवार्तिक—अप्पयदीक्षित
३३ व्यक्तिविवेक—महिम भट्ट
३४ वेदान्तपरिभाषा—धर्मराजाध्वरीन्द्र
३५ शब्दव्यापारविचार—मम्मट भट्ट
३६ शृङ्गारप्रकाश (अपूर्ण)— भोजराज
३७ शृङ्गारतिलक—रुद्रभट्ट
३८ श्रीकण्ठचरित—मंखक
३९ सरस्वतीकण्ठाभरण—भोजराज
४० साहित्यदर्पण (रुचिरा और विवृति)—विश्वनाथ
४१ सिद्धान्तकौमुदी - भट्टोजि दीक्षित
४२ सिद्धहेम व्याकरण—हेमचन्द्र

हिन्दी

१ आधुनिक हिन्दीसाहित्य का इतिहास—कृष्णशंकर शुक्ल
२ आधुनिक हिन्दीसाहित्य का विकास—डाक्टर कृष्णलाल
३ इंदौर का भाषण—रामचन्द्र शुक्ल
४ काव्यकल्पद्रुम (दो भाग)—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार
५ काव्यनिर्णय—भिखारी दास
६ काव्य में रहस्यवाद—रामचन्द्र शुक्ल
७ काव्य में अभिव्यञ्जनावाद—सुधांशु
८ गोस्वामी तुलसीदास—रामचन्द्र शुक्ल
९ चिंतामणि—रामचन्द्र शुक्ल
१० जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त—सुधांशु
११ प्राचीन और नवीन काव्यधारा—सूर्यबली सिंह.
१२ प्रसादजी की कला—गुलाबराय
१३ भ्रमरगीतसार—रामचन्द्र शुक्ल
१४ वाङ्मय-विमर्श—विश्वनाथप्रसाद मिश्र
१५ बिहारी की सतसई—पद्मसिंह शर्म्मा
१६ व्यंग्यार्थमञ्जूषा—लाला भगवानदीन
१७ साहित्यदर्पण (विमला)—शालग्राम शास्त्री
१८ साहित्यसिद्धान्त—सीताराम शास्त्री
१९ संस्कृतसाहित्य का संक्षिप्त इतिहास—जोशी और भारद्वाज
२० साकेत—एक अध्ययन—नगेन्द्र

२१ साहित्यालोचन—श्यामसुन्दर दास

२२ साहित्यमीमांसा—सूर्यकान्त शास्त्री

२३ हिन्दीसाहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल

२४ हिन्दी रसगङ्गाधर—पुरुषोत्तम शर्म्मा चतुर्वेदी साहित्याचार्य

२५ हिन्दीसाहित्य : बीसवीं सदी – नन्ददुलारे बाजपेयी एम. ए.

नोट—जिन कवियों या लेखकों के काव्यों या ग्रन्थों से उदाहरण लिये गये हैं उनके नाम पृथक् रूप से निर्दिष्ट कर दिये गये हैं।

बँगला—काव्यविचार—सुरेन्द्र दास गुप्त एम. ए.। काव्यजिज्ञासा—अतुलचन्द्र गुप्त। साहित्य—कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

अंग्रेजी—Principles of literary criticism—Abercrombie

" " " —Rechard

A defence of poetry—Shelley

हिन्दी मासिक—नागरीप्रचारिणी पत्रिका। विशाल भारत। विश्वभारती पत्रिका। सरस्वती। साहित्यसन्देश। माधुरी।

बँगला मासिक—भारतवर्ष। प्रवासी। वसुमती। बङ्ग श्री।

कवियों और लेखकों की नामावली

भूमिका

साहित्यसंगीतकलाविहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।

साहित्य क्या है ?

साहित्य शब्द का बहुत व्यापक अर्थ है । इस नामरूपात्मक जगत् में नाम और रूप का—शब्द और अर्थ का केवल सहयोग ही साहित्य नहीं है, अपितु उसमें अनुकूल एक के साथ रुचिर दूसरे का सहृदय-श्लाघ्य सामञ्जस्य स्थापित करना भी है । साहित्य इस रीति से बाह्य जगत् के साथ हमारा आन्तरिक सौमनस्य स्थापित करता है । कवीन्द्र रवीन्द्र का कथन है कि सहित शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है । वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रन्थ-ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है, किन्तु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अन्तरङ्ग[1] मिलन भी है जो साहित्य के अतिरिक्त किसी अन्य से संभव नहीं । इस कथन में प्राचीन आचार्यों के विचारों की ही झलक है ।

साहित्य का साधारण धर्म

जहाँ तक मनोवेगों को तरंगित करने, सत्य के निगूढ़ तत्त्व को चित्रण करने और मनुष्यमात्रोपयोगी उदात्त विचार व्यक्त करने का सम्बन्ध है वहाँ तक संसार का साहित्य सबके लिये समान है— साधारण है । साहित्य एक युग का होने पर भी युगयुगान्तर का होता है और सारे संसार का वांछनीय परम दुर्लभ पदार्थ है ।

आस्वादनीय रस और मननीय सत्य, साहित्य के ऐसे साधारण धर्म हैं, जिनकी उपलब्धि सभी देशों के वाङ्मय में होती है । इसमें जो शाश्वत सौन्दर्य और अनिर्वचनीय आनन्द होता है, वह देश-विशेष का, काल-विशेष का, जाति-विशेष का, समाज-विशेष का नहीं होता । कारण यह कि परीक्षित होने पर अपने रूप में प्रकाशित ये दोनों, वैज्ञानिक सत्य के समान वैशिष्ट्य-शून्य, एकरस और एकरूप होते हैं ।

---

१ 'बांगला जातीय साहित्य' नामक प्रबन्ध ।

शब्दशक्ति—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना, गुण, दोष, अलंकार आदि में भी कुछ ऐसे सामान्य तत्व हैं जिनकी समालोचना से यह प्रत्यक्ष हुए बिना नहीं रहेगा कि कुछ विषयों में इनकी भी सर्वत्र समानता तथा एकरूपता है। इनकी सार्वजनीनता का कारण मानवात्मा की एकता ही है। यद्यपि इस दृष्टि से देखने पर विश्व-साहित्य अभिन्न सा प्रतीत होता है तथापि प्रत्येक साहित्य में दैशिक, कालिक, और मानसिक आधार के भेद से अपनी एक विशिष्टता दीख पड़ती है, एक स्वतंत्र सत्ता झलकती है जो एक साहित्य को दूसरे साहित्य से भिन्न करने में समर्थ होती है।

'सहित' शब्द में 'ष्यञ्' प्रत्यय जोड़ना

पन्तजी ने पल्लव की भूमिका में एक खण्ड वाक्य लिखा है—जब तक हमारे वयोवृद्ध समालोचक......साहित्य शब्द में ष्यञ् प्रत्यय जोड़ कर सत्साहित्य की सृष्टि करने में व्यस्त हैं··· इत्यादि। यह व्यङ्ग्य-बाण प्राचीन संस्कृत के आचार्यों और वर्तमान प्रतिष्ठित आलोचकों और कलाकारों को लक्ष्य कर छोड़ा गया है। पन्तजी पाश्चात्य साहित्य-समालोचकों के चाकचिक्य से चौंधिया गये हैं। उनके इस व्यंग्य से यही प्रतीत होता है कि वे साहित्य शब्द की इतनी ही साधनिका जानते हैं कि "हित के साथ रहने का जो भाव है, वही साहित्य है।" तात्पर्य यह कि प्राचीनों ने उपदेशात्मक काव्य लिखे और आदर्शवाद को ही सामने रक्खा। आज के प्राचीनानुयायी कवि भी इसी दृष्टि को लेकर काव्य-रचना कर रहे हैं जिससे हिन्दी-साहित्य की श्री वृद्धि नहीं हो सकती। अतः पाश्चात्य समालोचना के आधार पर साहित्य की सृष्टि वांछनीय है।

जब हम कहते हैं कि साहित्य, संगीत और कला से अनभिज्ञ व्यक्ति 'साक्षात् पशु है'[1] तब क्या हम अपने को अनुभूति की विभूति से विमुख पाते हैं? जब हम उद्घोषित करते हैं कि कवियों का सुयश विना साहित्यज्ञों के फैल नहीं सकता[2] और जब हम यह कहते हैं कि कोई भावक अर्थात् समालोचक वचन का भावक होता है, कोई हृदय का भावक होता

---

१ भर्तृहरि के उपर्युक्त संस्कृत उद्धरण का भाव है।

२ विना न साहित्यविदा परत्र
गुणाः कथंचित् प्रथते कवीनाम्। मङ्खक

है और कोई सात्विक तथा आङ्गिक अनुभावों का भावक होता है[1] तब यह कैसे कहा जाय कि काव्य की मार्मिक समालोचना की उपेक्षा की गयी है ? जब हम इस सरस उक्ति को उपस्थित करते हैं कि शब्द और अर्थ का जो अनिर्वचनीय शोभाशाली सम्मेलन होता है वही साहित्य है। शब्दार्थ का यह सम्मेलन वा विचित्र विन्यास तभी संभव हो सकता है जब कि कवि अपनी प्रतिभा से जहाँ जो शब्द उपयुक्त हो वही रख कर अपनी रचना को रुचिकर बनाता है[2] तब न तो हमको कला में अकुशल, शैली से अनभिज्ञ और अभिव्यञ्जना से विमुख ही कहा जा सकता है और न हम केवल उपदेशक ही माने जा सकते हैं। अब यह सहृदय विवेचकों पर ही निर्भर है कि हमारे प्राचीन आचार्य 'सहितस्य भावः साहित्यम्' को ष्यञ् प्रत्यय करके बनाना ही जानते थे या साहित्य-कला के मर्मज्ञ भी थे। हमारी उपेक्षा ही इन बातों को विस्मृति के गर्भ में डाल रही है।

रही सत्साहित्य की सृष्टि की बात। हित—शुभ, शिक्षा, उपदेश से युक्त साहित्य यदि वह निरतिशय आनन्द प्रदान करने में भी समर्थ हो तो इसे किसी ने असत्साहित्य नहीं कहा है बल्कि उसे सत्साहित्य होने का गौरव स्वतः प्राप्त है। आचार्यों के मतानुसार हित-साधना साहित्य का एक विशिष्ट प्रयोजन भी है। अब तक वादों के बातूल से विप्लुत होकर जिन्होंने काव्यरचना की है उन्हें वह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है जो सहित साहित्य को प्राप्त है। इस प्रकार के, साकेत के संतुलन में, सत्साहित्य होने का सौभाग्य एक आध को ही अद्यावधि उपलब्ध हुआ है। स-हित के सम्बन्ध में विश्वास है कि इन महान् व्यक्तियों के उद्धरणों से धैर्य और सन्तोष हो जाना चाहिये।

तुलसी दास जी ने जहाँ स्वान्तःसुखाय कहकर काव्य का आत्मानन्द ही उद्देश्य निर्दिष्ट किया है वहाँ—

१—कीरति भणिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

---

१ वाग्भावको भवेत्कश्चित् कश्चिद्धृदयभावकः।
सात्विकैराङ्गिकैः कश्चिदनुभावैश्च भावकः॥ राजशेखर
विशेष देखना हो तो 'काव्यमीमांसा' के चौथे अध्याय का अन्तिम भाग देखिये।

२ साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥ कुन्तक

कह कर कला की उपयोगिता का भी समर्थन किया है।

२—कवियों का उद्देश्य या तो शिक्षा देना होता है या आनन्द देना। अतः यथार्थ और उपयोगी को आनंद से मिला दो। हौरेश

३—सौन्दर्य जिस स्थान पर पूर्ण विकसित होता है वहाँ अपनी प्रगल्भता को छोड़ देता है। वहाँ पर फूल अपनी वर्ण गन्ध की अधिकता को फल की गूढ़ गम्भीर मधुरता में परिणत कर देता है और उसी परिणति में ही—उसी चरम विकास में ही सौन्दर्य और मङ्गल का मिलाप हो जाता है[१]। कवीन्द्र रवीन्द्र

४—जीवन-यापन की विधि एक कला है और कला का कार्य किसी भी मानवीय आदर्श को कलात्मक नैपुण्य द्वारा साकार रूप प्रदान करना है[२]। रावर्ट पी डाउन्स

५—जो असुन्दर है, जो अनैतिक है, जो अकल्याण है वह किसी प्रकार न तो धर्म हो सकता है और न कला। 'कला के लिये कला' यदि यह बात सत्य है तो वह कभी अनैतिक तथा अकल्याणकर हो ही नहीं सकती। अकल्याणकर और अनैतिक होने से 'कला के लिये कला' यह बात कभी सत्य हो ही नहीं सकती—सैकड़ों, हजारों व्यक्तियों के चिल्ला कर कहने पर भी सत्य नहीं हो सकती[३]।

शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय

उपदेश ने तो पन्तजी का भी पिण्ड नहीं छोड़ा। उन्होंने इधर जनहित का विशेष रूप से राग आलापना शुरू किया है। जैसे,

धर्मनीति औ सदाचार का मूल्याङ्कन है जनहित।
सत्य नहीं वह जनता से जो नहीं प्राण सम्बन्धित।

पीछे की कवितायें भी 'सहित के साथ ष्यञ्' प्रत्यय के उदाहरण हैं। क्या ये पंक्तियाँ और ऐसी ही अन्य पंक्तियाँ असत्साहित्य की निदर्शक हैं?

अखिल यौवन के रंग उभार हड्डियों के हिलते कंकाल,
कचों के चिकने काले व्याल केंचुली कांस सिवार;
गूँजते हैं सब के दिन चार, सभी फिर हाहाकार।

अब तो आप भी उक्त व्यङ्ग्य-बाण के लक्ष्य हो ही गये!!

प्राचीन साहित्यशास्त्र की आवश्यकता

हमारे साहित्यिक मित्रों का कहना है कि जब हम सभी साहित्यिक विषयों में पाश्चात्यों का अन्धानुकरण कर रहे हैं और अपने सदसद्विचार को भूलते

---

१ साहित्य

२ Living is an art. An art has been Correctly defind as 'skill' in giving embodiment to the ideal. Robert P, Downçe.

३ बँगला निबन्ध।

जाते हैं, भले ही भूले न हों, पर जब उपेक्षा की दृष्टि से उन्हें देखते हैं तब आपका यह पोथा किस काम आवेगा ? इसका सीधा सा उत्तर हमारे आचार्य दे गये हैं।

अज्ञातपाण्डित्यरहस्यमुद्रा
ये काव्यमार्गे दधतेऽभिमानम् ।
ते गारुडीयाननधीत्य मन्त्रान्
हालाहलास्वादनमारभन्ते ॥ श्रीकण्ठचरित

साहित्य के स्रष्टाओं, विशेषतः काव्य-निर्माताओं को साहित्यशास्त्र के रहस्यों को जान लेना अत्यावश्यक है। ऐसा न करने से वही लोकोक्ति चरितार्थ होगी कि—बिच्छू का मन्त्र न जाने साँप के बिल में हाथ दे। इसीको महाकवि मङ्खक ने कितने सुन्दर ढंग से ऊपर कहा है जिसका आशय यह है—

पाण्डित्य के रहस्यों—ज्ञातव्य प्रच्छन्न विषयों की बारीकी विना जाने-सुने जो काव्य करने का अभिमान करते हैं वे सर्पविषनाशक मन्त्रों को न जानकर हलाहल विष चखना चाहते हैं।

गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के दो मार्ग होते हैं, एक राजमार्ग और दूसरा वक्र मार्ग। कोई वक्र मार्ग से या कुशकण्टकाकीर्ण मार्ग से प्रस्थान करने को प्रस्तुत हो तो दूसरा क्यों अपना राजमार्ग छोड़ दे ? हजारों वर्षों से जब हमारा वह राजमार्ग निरन्तर अक्षुण्ण रहकर प्रशस्त होता आ रहा है और अद्यावधि हमारे साहित्यशास्त्र (Poetics) के, केवल संस्कृतविद्यालयों में ही नहीं, अंग्रेजी के महाविद्यालयों में भी, अध्ययन-अध्यापन का क्रम वर्तमान रखकर उस राजमार्ग का अनुसरण किया जा रहा है तब भी क्या उसकी, उसको प्रशस्त करने की आवश्यकता का निर्देश करना आवश्यक है ? कुछ लोग यह कहते हैं कि पहले परमुखापेक्षिता या पराधीनता का बाजार बहुत गर्म था। कवि-स्वातन्त्र्य शास्त्रीय नियमों से ऐसा जकड़ दिया गया था, शास्त्रीय रूढ़ियाँ इतनी प्रबल हो उठी थीं कि कवि टस से मस नहीं हो सकता था। उनसे नम्र निवेदन यह है कि वे पहले आधुनिक युग के प्रख्यात जर्मन कवि रेनर मारिया रिल्के की सम्मति पढ़ें कि वे कविता के एक पद के लिये कितने अध्ययन, कितने निरीक्षण और कितने विविध उपकरणों की आवश्यकता बताते हैं तब कहें कि हमारे प्राचीन आचार्य अपने नियमों के बंधन में विशेषतः बाँधते हैं

कि पाश्चात्य नियम-विधायक आचार्य[1]। दूसरी बात यह कि वे वस्तुस्थिति की स्वाभाविकता पर ध्यान दें। पहले लक्ष्य की सत्ता रहती है या लक्षण की? लक्ष्य को दृष्टि में रखकर ही लक्षण बनाये जाते हैं। लक्ष्यकार कवि जैसे जैसे चलता है लक्षणकार आलोचक वैसे वैसे उसका अनुसरण करता है। पर शर्त यह होती है कि लक्ष्य इस योग्य हो कि लक्षणकार को अपने अनुसार प्रतिसंस्कार करने के लिये परवश करे। तीसरा बात यह कि शास्त्रीय मर्यादाओं के रहते हुए भी प्रतिभाशाली प्राचीन महाकवियो ने, या कवियों ने वह काव्य-सृष्टि की है जो विश्वसाहित्य में अतुलनीय है।

हम इसको स्वीकार करते हैं कि प्रतिभा—रचनाशक्ति ईश्वरप्रदत्त होती है या वह पूर्वजन्मार्जित संस्कार है पर उसका सदुपयोग शास्त्रीय ज्ञान से ही हो सकता है; प्रतिभाप्रसूत पंक्तियाँ ज्ञानालोक से हो आलोकित हो सकती हैं। ज्ञान की गहनता और अध्ययन की अधिकता के परिमार्जन से ही रचना संगत, संयत और संस्कृत हो सकती है। इसीसे आचार्यों ने श्रुत और अभ्यास से सहित प्रतिभा को काव्य का कारण माना है[2]। यदि प्रतिभाशाली व्यक्तियों में शिक्षा की मर्यादा नही हो तो हमारे शिक्षित कलाकारो और भोजपुरी भाषा के कवि भिखारी में क्या अन्तर रह जायगा, जिसके नाटक हजारों दर्शकों को रस में सराबोर कर देते हैं और जिसकी प्रतिभा की प्रशंसा सरस्वती तक में निकल चुकी है!

सब से बडी बात तो यह है कि जो लोग साहित्य-शास्त्र की विवेचना करते हैं वे प्रायः संस्कृत के मर्मज्ञ विद्वान् नहीं होते। अंग्रेजी के बल पर जैसे-तैसे संस्कृत को मनमानी व्याख्या करके शास्त्रीय मर्यादा भंग करते हैं और मिथ्या भ्रम फैलाते हैं। अतः नवीन साहित्यिकों को शास्त्रीय विषयों की विवेचना द्वारा विपथगामी न होने देने की भी इस समय नितान्त आवश्यकता है।

जब कि सिल्वाँलेवी जैसे पाश्चात्य विद्वान् यह कहते है कि कला के क्षेत्र में भारतीय प्रतिभा ने संसार को एक नूतन और श्रेष्ठ दान दिया है जिसे प्रतीक रूप से 'रस' शब्द द्वारा प्रकट कर सकते हैं और जिसे एक वाक्य में इस प्रकार कह सकते हैं कि कवि प्रकट

---

१ देखिये सूर्यकान्त शास्त्री एम. ए. की साहित्यमीमांसा पृष्ठ ६१

२ प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव ॥ जयदेव

(Express) नहीं करता, व्यञ्जित वा ध्वनित (suggest) करता है,[1] तब तो हमारे शास्त्र का महत्त्व 'यत्परो नास्ति' है। इस दशा में भी जब भारतीय शिक्षित कलाकार हमारे साहित्यशास्त्र की उपेक्षा करते हैं तब किस सहृदय भारतीय को आश्चर्य, खेद और दुःख न होगा ! हम तो शुक्ल जी के शब्दों में यही कहेंगे कि साहित्य के शास्त्रपक्ष की प्रतिष्ठा काव्यचर्चा की सुगमता के लिये माननी चाहिये, रचना के प्रतिबन्ध के लिये नहीं। इस सम्बन्ध में अब विशेष कुछ कहना पिष्ट-पेषणमात्र होगा।

साहित्यशास्त्र का नूतन संस्करण

अब न तो संस्कृत काव्यशास्त्र के साहित्यदर्पण, रसगंगाधर, काव्यप्रकाश आदि का केवल अनुवाद ही काम देगा और न इनके आधार पर बने काव्यनिर्णय आदि ग्रन्थ ही। यह भी संभव नहीं कि अंग्रेजी के काव्यशास्त्र (Poetics) की पूँछ पकड़ कर के ही साहित्य के स्वर्ग में पहुँच जाँय। अब दोनों दृष्टिकोणों से देखकर ही कविता का स्वाद लेना होगा; सौन्दर्य का साक्षात्कार करके आनन्दोपभोग करना होगा। प्राच्य और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की विवेचना को सम्मिलित रूप से अपना कर आधुनिक काव्यशास्त्र के अन्तरङ्ग और बहिरङ्गका ज्ञान, जो प्राच्य और पाश्चात्य प्रणाली के संमिश्रण से प्रस्तुत है, प्राप्त करना होगा। अब वर्तमान हिन्दी-साहित्य की सूक्ष्म समीक्षा करके ही हिन्दी में साहित्य-शास्त्र के निर्माण की आवश्यकता है। हम न इसके लिये संस्कृत को ही तिलांजलि दे सकते हैं और न अंग्रेजी को ही मधुमय समझ कर चाट जा सकते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से काव्यशास्त्र का नया प्रतिसंस्कार करना होगा। नूतन काव्य-शास्त्र ही हिन्दी-साहित्य के मर्मोद्घाटन करने में, रसोद्घाटन करने में, समर्थ होगा। आज प्रतिभाशाली प्रसाद, पन्त, महादेवी वर्म्मा आदि कवियों की कवितायें, नवीन दृष्टिकोण से शब्दतत्त्व, शब्दशक्ति, छन्द, अलंकार, रस, रीति अभिव्यञ्जना आदि को परखे बिना कभी हृदयङ्गम हो सकती हैं ? नवनिर्मित गीतिकाव्य (Lyric) नाटक, गद्यकाव्य, उपन्यास आदि को नये रंग-रूप से समझे बिना उनके अन्तरङ्ग में कभी पैठ सकते हैं ? नित-नूतन उगते हुए रहस्यवाद, छायावाद, कलावाद, प्रतीकवाद, प्रगतिवाद आदि वादों से भी विमुख न होना होगा। हिन्दी-साहित्यकारों की प्रतिभा अपनी उपज्ञात सृष्टि से हिन्दी को समृद्ध और संपन्न

---

१ 'विशाल भारत' जनवरी १९३८ पृष्ठ ६० का लेख।

करती जा रही है। उसके अन्तर में पैठना होगा। उसका निरन्तर चिन्तन और मनन करना होगा। अब पुराना पिंगल भी काम न देगा।

हिन्दी-साहित्य की स्वतन्त्रता

मनुष्य ही से समाज बनता है। मननशील मनुजों में चेतनता एक विशिष्ट धर्म है। विशिष्ट मानवसम्बन्ध से उसका समुदाय भी विशिष्ट चेतनधर्मी होता है। विशिष्ट समाज का नाम जाति भी है। इसीसे एक विशिष्ट जाति के साहित्य को भी विशिष्ट चेतनधर्मी होना चाहिये। यही कारण है कि प्रत्येक साहित्य में अपनी अपनी विशिष्ट प्रतिभा के अनुसार विशिष्ट धर्म विद्यमान रहता है। सभी साहित्यों में मानवप्रतिभा का विश्वव्याप्त साधारण धर्म और जातीय प्रतिभा का जातिगत विशिष्ट धर्म दोनों ही दीख पड़ते हैं। चेतन धर्म की विशिष्टता के कारण ही मानवमन अनन्त काल से लेकर आज तक नव-नव भावों से नव-नव रूपों में आत्मप्रकाश करता चला आ रहा है और उसके साथ ही साथ सहृदय-समाज भी नव-नव देश-काल के नव-नव साधनाप्राण हृदयों का रसास्वादन भी करता चला आ रहा है।

अन्यान्य साहित्यों के समान हमारा हिन्दी-साहित्य भी वैसा ही है। इस पर देश, काल और अवस्था का जो प्रभाव पड़ा है उसका रूप प्रत्यक्ष दीख पड़ता है। हिन्दी-साहित्य के जन्मकाल, विकासकाल, प्रसारकाल तथा प्रगतिकाल वा यों कहिये कि आदिकाल, पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) मध्यकाल (रीतिकाल) नवीन काल, और इसका एक अवान्तर भेद वर्तमान काल की नवीन धाराओं पर ध्यान देने से यह बात प्रकट हुए बिना नहीं रहेगी।

यद्यपि मानवजाति की मानवता को लेकर मनुष्यमात्र में समानता है तथापि ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा-दीक्षा और कामना-साधना आदि सबके एक से नहीं। राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक एकता और विभिन्नता को लेकर इनकी आख्या और व्याख्या की विविधता और विचित्रता का अन्त नहीं। संस्कृति और सभ्यता, देश देश के जाग्रत प्राणों की आशा-आकांक्षा, विभिन्न आदर्शों का प्रभाव, प्रगति की प्रेरणा आदि में असमानता है। ये ही सब जातीय जीवन को वैशिष्ट्य देते हैं; ये ही सजीव जातीय विशेषतायें विभिन्न रूपों में प्रकट होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने में समर्थ होती हैं।

हिन्दी-साहित्य की व्यापकता

मुसलमानी शासनकाल में हिन्दी पर संस्कृत की परंपरागत भावधारा के साथ साथ मुसलमानी भावधारा का भी प्रभाव पड़ने लगा और इनके भावमिश्रण

के साथ शब्दमिश्रण से भाषा भी अपनी सजीवता का प्रमाण देने लगी। वर्तमान-काल में हिन्दी-साहित्य पर प्रबल रूप से अंग्रेजी भावधारा का प्रभाव पड़ने लगा है और उसका साहित्य और संस्कृति उसमें घर करने लगी है। हिन्दी की प्रगति वा उसकी नवीन धारा में विश्व के उथल-पुथल का आभास भी मिलने लगा है। हिन्दी का साहित्य अपने पड़ोसी विभिन्न जातीय भाषा-साहित्यों से ही केवल भायप नहीं जोड़ रहा है, बल्कि विदेशी साहित्य के स्वारस्य और सौन्दर्य को भी आत्मसात् कर रहा है। यही कारण है कि इसकी समृद्धि सबकी आँखों में चकाचौंध पैदा करती हुई दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ रही है। इस प्रकार भिन्न भिन्न भावों के संमिश्रण और समन्वय से हिन्दी-साहित्य समर्थ और समृद्ध हो रहा है।

साहित्यशास्त्र की स्वाभाविकता

जैसे प्रयुक्त प्रयोगों पर ही व्याकरण की भित्ति खड़ी होती है वैसे ही प्रस्तुत उदाहरणों से साहित्य का शरीर पुष्ट होता है। रसगंगाधरकार के दूसरों के उदाहरण न लेने की गर्वोक्ति से या रीतिकालीन लक्ष्यलक्षणाकार कवियों या आचार्यों के रचे काव्यशास्त्र की एकांगिता से साहित्यशास्त्र का व्यापक प्रभाव नहीं पड़ सकता; उसका महत्त्व नहीं बढ़ सकता। क्योंकि उससे साहित्य की गति-विधि का कुछ भी पता नहीं लगता। अतः साधनालब्ध साहित्य को साङ्गोपाङ्ग हृदयङ्गम करके उनके उदाहरणों से साहित्य-शास्त्र का सौध खड़ा करना होगा, जिससे साहित्य-साधकों के हृदय में अनुशासन का आकर्षण पैदा हो।

हिन्दी-साहित्य का प्रकृत, अनुकृत, विकृत, संस्कृत, हुंकृत वा झंकृत, कोई रूप क्यों न हो, विभिन्न उद्‌गमों से आगत उपादानों से गठित, विभिन्न प्रभावों से प्रभावित और विभिन्न साधनों से साधित क्यों न हो, वह सब कुछ उसमें विलीन होकर अपनी पृथक् सत्ता खो बैठा है। अब हिन्दी-साहित्य की अपनी प्राणवत्ता है; उसकी अपनी धड़कन है। हिन्दी के एकान्त साधक, परम पुजारी या अनन्योपासक अपनी अनोखी अनुभूति तथा अनुपम अभिव्यञ्जना से उसकी ऐसी स्वतन्त्र प्रतिष्ठा कर रहे हैं जिससे उसने हिन्दीपन के गौरव को नहीं खोया है, यद्यपि यत्र तत्र इसके कुछ अपवाद मिल जाते हैं। हम पर अब 'अरुण अधरों की पल्लव प्रात' वा 'अरुण कलियों से कोमल घाव' के लिखने पर कोई दबाव नहीं डाल सकता। हमारी लाक्षणिकता की लपेट में यह सब कुछ समा सकता है। अंग्रेजी लाक्षणिकता भी हिन्दी के नये रूप में इस प्रकार घुल-मिल गयी है कि उसका अजनबीपन बिलकुल मिट गया है। अब हमें हिन्दी की इस स्वतन्त्रता की रक्षा करनी होगी। यही

स्वतन्त्र सत्ता आधुनिक हिन्दी-साहित्य की विशेषता है। आत्मप्रकाश की इस विशिष्ट प्रवृत्ति को अब हिन्दी साहित्य का व्यक्तित्व मानना होगा। जिस काव्य-शास्त्र का काव्य जीवन के साथ संपर्क न होगा, जिस साहित्य में वर्तमान की गतिविधि का दिग्दर्शन न होगा उस काव्यशास्त्र की मर्यादा कैसे प्रतिष्ठित हो सकती है? किन्तु यह तभी सम्भव है जबकि अपनी संस्कृति तथा स्वतन्त्र सत्ता को हम बनाये रहेंगे। इसके लिये हमें अपने काव्यशास्त्र को ही मूल आधार बनाना होगा।

साहित्य—काव्य—शास्त्र

साहित्य शब्द प्रायः काव्य का वाचक है। **शब्दकल्पद्रुम** ने तो **मनुष्यकृत श्लोकमय ग्रन्थविशेष** को ही साहित्य अर्थात् काव्य कहा है। **भर्तृहरि** का उपर्युक्त पद्यार्ध साहित्य शब्द से काव्य का ही बोध कराता है। जब तक व्याप-कार्थक साहित्य शब्द के साथ किसी भेदक शब्द का योग नहीं होता, जैसे कि अंग्रेजी साहित्य, संस्कृत साहित्य, ऐतिहासिक साहित्य आदि, तब तक साहित्य शब्द से काव्यात्मक साहित्य का ही सामान्यतः बोध होता है।

ऐसा कोई शब्द नहीं, अर्थ नहीं, विद्या नहीं, शास्त्र नहीं, कला नहीं जो किसी न किसी प्रकार इस काव्यात्मक साहित्य का अंग न हो।[1] अतः इस सर्वग्राही सर्वव्यापक, सर्वक्षोदक्षम कवि-कर्म का शासक होने के कारण इस साहित्यविद्या को **साहित्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, काव्यानुशासन** आदि समाख्या प्राप्त हुई है। कभी कभी रसादि समस्त परिकर्म का अलंकरण-क्रिया-कारी होने से इसे **अलंकारशास्त्र** भी कहते हैं। **काव्यालोक** को भी काव्यशास्त्र का ही पर्याय समझना चाहिये।

काव्य का मूल स्रोत

सभ्यता के साथ साहित्य की भी उत्पत्ति होती है। वेद ही हमारा सबसे प्राचीन उपलब्ध साहित्य है। इससे काव्य का भी मूल स्रोत वेद ही है। वैदिक ग्रन्थों में भी काव्य की झलक पायी जाती है।

ऋग्वेद के **उषा सूक्त** में काव्यत्व अधिक पाया जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि अपौरुषेय, अलौकिक तथा शब्द-प्रधान वेदमन्त्रों को **काव्य-दृष्टि** से न

१ न स शब्दो न तद्वाच्यं न तच्छास्त्रं न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहोभारः महान् कवेः। **भामह**

देखना चाहिये। पर इस बन्धन का उल्लंघन प्राचीनों ने भी किया है। ऋग्वेद का एक मन्त्र है—

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः। ऋग् १।१२४।७

इस वैदिक मन्त्र में 'अभ्रातेव पुंसः' 'गर्तारोहिणीव' 'जायेव पत्ये' 'हस्रेव'। इन चार उपमाओं का निर्देश निरुक्तकार यास्काचार्य ने किया है।

बुद्धिबलापेक्ष व्याख्या की दृष्टि से एक मन्त्र पर ध्यान दीजिये—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश। ऋग्० ४।५८।३

इस मन्त्र की चार व्याख्यायें हैं—१ यास्क के अनुसार यज्ञपरक २ दूसरे के मत से सूर्यपरक ३ पतञ्जलि के मत से शब्दपरक और ४ राजशेखर के मत से काव्य-पुरुष-स्तुति-परक[१]।

पतञ्जलि के मत से महादेव शब्द है। वृषभाकार शब्द के चार सींग हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। तीन पाद हैं—भूत, भविष्यत् और वर्तमान। दो सिर हैं—दो प्रकार के शब्द नित्य और कार्य। सात हाथ हैं—सातो विभक्तियाँ। तीन स्थानों में—हृदय, कंठ और सिर में बँधा है और बोलता है। महादेव अन्तर्यामी है। क्योंकि शब्द ने मर्त्यों में अर्थात् मरणधर्मा मनुष्यों में प्रवेश किया है।

इस मन्त्र में रूपकातिशयोक्ति अथवा रूपक अलंकार है। महान् देव में यज्ञ, सूर्य, शब्द और काव्यपुरुष के अध्यवसान से साध्यवासना लक्षणा है। अर्थ की वृष्टि करने से शब्द वृषभपदवाच्य है। महादेव शब्द को वृषभ रूप में मानने से सारोपा लक्षणा की झलक है। शब्द के व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव से नित्य और कार्य ये दो भेद हैं। व्यङ्ग्य आन्तर है और व्यञ्जक वैखरी रूप है।

साहित्य के आदि आचार्य भगवान् भरत मुनि माने जाते हैं, यद्यपि इनके पूर्ववर्ती और कई आचार्य हो गये हैं। कई लोग इन्हें व्यास के समकालीन मानते हैं जैसा कि 'भरतेन प्रणीतत्वात् भारती रीति रुच्यते' इस अग्नि-पुराण के श्लोकार्द्ध से सिद्ध होता है। पर इतिहास इन्हें इसवी सदी से दो सौ वर्ष पूर्व का मानता है[२]। ये आदि भरत नहीं, भरतमुनि के वंश में होने से भरत कहलाये।

---

१ देखो मन्त्र का भाष्य और 'काव्यमीमांसा'।

२ देखो 'जोशी' और 'भारद्वाज' का संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

ये भरत मुनि अपने नाट्यशास्त्र में लिखते हैं कि ऋग्वेद से नाट्य विषय, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रसों को ग्रहण किया[1]।

ब्राह्मण, निरुक्त आदि ग्रन्थों से स्पष्ट है कि उस समय के इतिहास-मिश्रित मन्त्र ऋचाओं में और गाथाओं में थे[2]। अनेक उपनिषदों ने इतिहास और पुराण को पंचम वेद माना[3] है। इतिहास और पुराण प्रायः काव्यमय ही हैं। रामायण आदि काव्य और महाभारत महाकाव्य है ही।

काव्य क्या है ?

काव्य के लक्षण अनेक हैं पर आचार्यों के मतभेदों से खाली नहीं। निर्विवाद कोई लक्षण हो ही कैसे सकता है जब कि विचारों और तर्क-वितर्कों का अन्त नहीं है और जब कि काव्य का स्वरूप ही ऐसा व्यापक और सर्वग्राही है। कोई काव्य को शब्द-प्रधान मानता है और कोई शब्दार्थ-प्रधान। इनके पक्ष-विपक्ष में अनेक मतमतान्तर हैं।

सबसे अर्वाचीन लक्षण पण्डितराज जगन्नाथ का है—"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। इसकी व्याख्या यों की जा सकती है। जिस शब्द या जिन शब्दों के अर्थ अर्थात् मानस प्रत्यक्ष गोचर वस्तु, के बार बार अनुसंधान करने से—मनन करने से रमणीयता अर्थात् अनुकूल वेदनीयता अलौकिक चमत्कार की अनुभूति से संपन्न हो, वह काव्य है। पुत्रोत्पत्ति वा धनप्राप्ति के प्रतिपादक शब्दों के द्वारा जो आह्लादजनक अनुभूति होती है वह अलौकिक नहीं, लौकिक है। क्योंकि उसमें मन रमा देने की शक्ति नहीं होती, मोद-मात्र उत्पन्न करने की होती है। रमणीयता और मोदजनकता में बड़ा अन्तर है। दूसरे, उसमें क्षणिक रमणीयता की उपलब्धि हो सकती है—तात्कालिक आनन्द हो सकता है। उस रमणीयता में क्षण क्षण उदीयमान वह नवीनता नहीं जो मन को बार बार मोहित कर दे। प्रत्युत ऐसी बातें बार बार दुहराई जाती हैं तो अरुन्तुद हो उठती हैं। अतः उनसे अलौकिक आनन्द नहीं हो सकता, सनातन रमणीयता का उपभोग नहीं किया जा सकता।

---

१ जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि। नाट्यशास्त्र १।१७

२ तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रं ऋङ्मिश्रं, गाथामिश्रं भवति। निरुक्त ४।६

३ इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं......। छान्दोग्य ७ अ०।

इससे यहाँ रमणीयता का अर्थ अलौकिक आनन्द की प्राप्ति है और इस रमणीयता के वाहक शब्द ही हैं।

साहित्यदर्पण का लक्षण है—**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्** अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है। यह भी एक प्रकार से अर्वाचीन ही लक्षण कहा जा सकता है और विशेष रूप से वर्तमानकाल में मान्य भी है। इसकी व्याख्या यों हो सकती है। सर्वप्रधान होने के कारण रस ही जिसका जीवनभूत—आत्मा है, **ऐसा वाक्य काव्य** कहलाता है। इसीसे कहा है कि काव्य में वाणी की विदग्धता विलक्षणता-विमिश्रित चातुर्य की प्रधानता होने पर भी उसका जीवन रस ही है।

हमारे काव्यलक्षणकार आचार्य दो श्रेणी में विभक्त हैं। एक काव्य में शब्द की प्रधानता माननेवाले और दूसरे शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता मानने वाले। शब्द-सौष्ठव को प्रधानता देनेवाले आचार्यों का यह अभिप्राय नहीं कि काव्य में अर्थ का अस्तित्व ही नहीं माना जाय या दूषित अर्थवाले शब्दों को काव्य कहा जाय। इनमें मतभेद का कारण यह है कि काव्य में शब्द या शब्दावली या वाक्य की प्रधानता है या शब्द और अर्थ दोनों की।

दर्पणकार यद्यपि शब्द (वाक्य शब्द-समूह ही होता है) के पक्षपाती हैं तथापि उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों को प्रश्रय दिया है। वे लिखते हैं—**काव्य में माधुर्य आदि गुण, उपमा आदि अलंकार और वैदर्भी आदि रीतियाँ शरीर-स्थानीय शब्द और अर्थ की उत्कर्षक होकर आत्म-स्थानीय रस की वैसी ही उत्कर्षक होती हैं जैसे कि शौर्य आदि गुण, कटक कुंडल आदि अलंकार और अवयवों का सुगठन देह को भूषित करते हैं; उसके आत्मा का उत्कर्ष सूचित करते हैं**[1]।

दोनों लक्षणों से पन्तजी की अरुचि

उक्त दोनों लक्षणों से पन्तजी को अरुचि वा अजीर्ण हो गया है। वे लिखते हैं कि हमलोग 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' को अच्छी तरह समझ गये हैं। आपकी यह उक्ति व्यङ्ग्यात्मक है। क्या शब्द-शिल्पी पंतजी अपने सरस तथा रमणीयार्थक काव्य को अरमणी-

---

१ गुणाः शौर्यादिवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, देहद्वारेणेव शब्दार्थद्वारेण तस्यैव काव्यस्यात्मभूतं रसमुत्कर्षयन्तः काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते। साहित्यदर्पण

यार्थक और नीरस कहना चाहते हैं ? जब ये दोनों बातें आपके काव्य में सर्वत्र विद्यमान हैं तो यह उपेक्षापूर्ण उक्ति क्यों ? आप भले ही इनकी उपेक्षा करें पर आधुनिक प्राच्य और पाश्चात्य आचार्य इनका समादर करते हैं।

काव्य के पाश्चात्य व्याख्याकारों ने कहा है कि काव्य के अन्तर्गत वे ही पुस्तकें आनी चाहिये जो विषय तथा उसके प्रतिपादन की रीति की विशेषता के कारण मानव-हृदय को स्पर्श करने वाली हों और जिनमें रूप-सौष्ठव का मूल तत्व और उसके कारण आनन्द का जो उद्रेक होता है उसकी सामग्री विशेष रूप से वर्तमान हो। व्याख्याकार का आशय अर्थ की रमणीयता से ही है। रस्किन ने तो स्पष्ट कहा है कि कविता कल्पना के द्वारा रुचिर मनोवेगों के लिये रमणीय क्षेत्र प्रस्तुत करती है[1]।

शुक्लजी के शब्दों में जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आयी है उसे कविता कहते हैं[2]।

पंतजी जब वाणी का आश्रय लेकर यह कहते हैं कि 'प्रत्येक शब्द का स्वतन्त्र हृत्स्पन्दन, स्वतन्त्र अङ्ग-भङ्गी, स्वाभाविक साँसें हैं' और फिर काव्य के शब्द भी परस्पर अन्योन्याश्रित होने के कारण एक दूसरे के बल से सशक्त रहते अपनी संकीर्णता की झिल्ली तोड़ तितली की तरह भाव तथा राग के रंगीन पंखों में उड़ने लगते हैं और जब काव्य के लिये अपनी भूमिका में रस की इतनी वकालत की है तब रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द और रसात्मक वाक्य को काव्य समझना ही होगा, बार बार अच्छी तरह समझना होगा।

पन्तजी की काव्य-परिभाषा

पन्तजी ने पल्लव में जो काव्य की परिभाषा लिखी है उसमें शब्द-जाल ही अधिक है; हार्दिक उद्‌गार ही विशेष है; स्वरूप-निर्देश कम। वह यह है—

कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है, अपने

---

१ साहित्यालोचन पृष्ठ ५४ पंचम संस्करण।

२ चिन्तामणि।

उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही में बहने लगता; उसमें एक प्रकार की संपूर्णता तथा संयम आ जाता है।

शेली का भी ऐसा ही लक्षण है—कविता स्फीत तथा पूर्णतम आत्माओं के रमणीय और उत्तम क्षणों का लेखा है[1]। और, मैथ्यू आर्नल्ड के लक्षण का एक अंश है—कविता मनुष्य की परिष्कृततम वाणी है।

आपका लक्षण इन्हीं उपर्युक्त लक्षणों पर निर्भर करता है। फिर भी यह उच्छिष्ट लक्षण दूषित है। आपने 'रमणीय' के स्थान पर 'परिपूर्ण' को बिठाया तो पर उसका निर्वाह नहीं कर सके। आपने आगे 'परिपूर्ण' को 'उत्कृष्ट' बना दिया, पर रमणीय का स्वारस्य नहीं आया।

दूसरी बात यह कि आकाश शून्य होता है। उसका 'सूक्ष्म' विशेषण विचारणीय है। आकाश शब्दमय होता है, संगीतमय नहीं। यही शास्त्रीय विवेचन है। कवियों का ही जीवन केवल पूर्ण नहीं होता, साधकों का भी जीवन पूर्णता को प्राप्त करता है। क्या उनका भी सूक्ष्माकाश संगीतमय होकर छन्दों में बहता है? आपका परिपूर्ण क्षण व्याख्या-सापेक्ष है। तथापि इतना तो कहा ही जा सकता है कि क्षणों की परिपूर्णता केवल कल्पित ही संभव है। क्योंकि पूरक वस्तुओं की कोई सीमा निर्दिष्ट नहीं की गयी।

कविता केवल परिपूर्ण क्षणों की वाणी ही नहीं हो सकती। कवीन्द्र रवीन्द्र का कहना है कि **भगवान् की आनन्द-सृष्टि स्वयं अपने अन्दर से निकल रही है। मानव-हृदय की आनन्द-सृष्टि उसीकी प्रतिध्वनि है। इसी जगत्-सृष्टि के आनन्द-गीत की झंकार हमारी हृदय-वीणा-तन्त्री को अहरहः स्पन्दित करती है। यही जो मानस-संगीत है—भगवान् की सृष्टि के प्रतिघात से हमारे अन्दर जो यही सृष्टि का आवेग है—उसीका विकास साहित्य[2] है।** आनन्द-गीत की झंकार जब हृदयतन्त्री को अहरहः अर्थात् निरन्तर स्पन्दित करेगी तो परिपूर्ण क्षणों की अपेक्षा किये बिना ही झंकार उठेगी।

---

१ Poetry is the record of the best and happiest moments of the happiest and best minds.

English critical assays Page 151.

२ साहित्य।

नवीन कलाकारों के लक्षणों का भी अन्त नहीं। जितने मुँह उतनी बातें। एक दूसरे से प्रायः भिन्न। कोई कविता का स्वरूप उसका आनन्द-दायक होना, कोई मनोवेग-मूलक होना, कोई आत्मवृत्ति मूलक होना, कोई हृद्‌योद्गार-मूलक होना, कोई कलात्मक होना मानते हैं। सुश्री महादेवी वर्मा के शब्दों में कहना चाहिये कि कविता मनुष्य के हृदय के समान ही पुरातन है। परन्तु अबतक उसकी कोई परिभाषा नहीं बन सकी जिसमें तर्क-वितर्क की संभावना नहीं रही हो।

काव्य-विषयक प्राचीन विचारधारा

अग्निपुराण में साहित्य-शास्त्र वा अलङ्कार-शास्त्र की बातों का सब से प्राचीन उल्लेख है और कहते हैं कि भरत मुनि ने अपनी कारिकाओं में उसके ३३६ से ३४६ तक के दस अध्यायों में वर्णित अलंकार शास्त्र के विषयों का संक्षिप्त वर्णन किया है। किन्तु ऐतिहासिक अनुसंधान से भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र ही अलंकार-शास्त्र का सर्व-प्रथम ग्रन्थ सिद्ध होता है। अग्निपुराण के षष्ठ से दशम शतक तक का अंश, जिसमें साहित्य और कोष का भाग है, बहुत बाद का माना जाता है। इस ऐतिहासिक उलझन का सुलझाव साहित्य का विवेच्य विषय नहीं है।

नाट्यशास्त्र में काव्य का कोई स्पष्ट लक्षण नहीं है। किन्तु वागभिनय नामक सत्रहवें अध्याय में काव्य को छत्तीस लक्षणों से सम्पन्न करने की बात कही गयी है जिसे हम लक्षण नही स्वरूप-कथन कह सकते हैं[1]।

अग्निपुराण में सबसे पहले काव्य का लक्षण मिलता है जिसका अभिप्राय

---

१ एतानि वा काव्यविभूषणानि
षट्त्रिंशदुद्देश्यनिदर्शनानि।
काव्येषु सोदाहरणानि तज्ज्ञैः
सम्यक् प्रयोज्यानि बलानुरूपम्।

नाट्यशास्त्र काशी संस्करण १७।४२। इसका पाठान्तर अन्य संस्करण में ऐसा है—

षट्त्रिंशदेतानि हि लक्षणानि
प्रोक्तानि वै भूषणसम्मितानि।
काव्येषु भावार्थगतानि तज्ज्ञैः
सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसं तु।

यह है कि अभीष्ट अर्थ जितनी पदावली से प्रकाशित किया जा सके उतनी से ही किया जाय, यही संक्षिप्त वाक्य-विधान ही काव्य है[1]।

अभिप्राय यह कि कवि जैसे सुन्दर शब्दों का चयन करता है वैसे ही अर्थ को भी रमणीय बनाने का प्रयत्न करता है। काव्य में ढले हुए शब्द और अभिलषित अर्थ कवि के अपने होते हैं। काव्यविधान में वह शब्द और अर्थ, दोनों की समान भाव से अपेक्षा रखता है। सारांश यह कि शब्द और अर्थ दोनों ही कविकृति में सम्मिलित हैं। इससे शब्द और अर्थ दोनों काव्य हैं।

इसीके बाद भामह ने काव्य का लक्षण किया कि सम्मिलित शब्द और अर्थ ही काव्य है[2]। अर्थात् बाह्य शब्द और आन्तर अर्थ ही सम्मिलित होकर काव्य को स्वरूप-प्रदान करते हैं।

काव्य को प्रधानतः शब्दगत मानना चाहिये या उभयगत, इस जिज्ञासा में दण्डी ने लिखा कि इष्ट अर्थ के द्वारा आत्मप्रकाशन के लिये विशेष रूप से चुन लिया गया जो पदसमूह है वह काव्य का शरीर है[3]। क्योंकि सुविचित और सुप्रयुक्त शब्द के बिना इष्ट अर्थ की स्थिति ही असंभव है।

अर्थ शब्द का मर्मोद्घाटन मात्र है। उससे शब्द की उपयोगिता ही सिद्ध होती है। दण्डी का लक्षण अग्निपुराण के लक्षण का नवीन संस्करण है।

दण्डी का यह विचार परवर्ती आचार्य रुद्रट को रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ और उन्होंने कहा कि शब्द और अर्थ दोनों ही काव्य हैं[4]। इसी बात को आनन्दवर्द्धनाचार्य ने एक प्रसङ्ग पर यह कहकर प्रकारान्तर से स्वीकार किया है कि काव्य का शरीर शब्द और अर्थ दोनों हैं[5]।

यद्यपि पूर्वाचार्यों के लक्षणों में भी गुण, दोष, अलङ्कार आदि की भी चर्चा है पर वामन ने शब्दार्थों का अलङ्कारयुक्त होना आवश्यक बताया। उनका कहना है कि सौन्दर्य ही अलङ्कार है और अलङ्कार होने के कारण हो

---

१ संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। व्यासः

२ शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। काव्यालङ्कार

३ शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। काव्यादर्श

४ ननु शब्दार्थौ काव्यं
शब्दस्तत्रार्थवाननेकविधः। रुद्रट

५ शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्। ध्वन्यालोक

काव्य का काव्यत्व है। वह सौन्दर्य रूप अलङ्कार, दोष के त्याग और गुण तथा अलङ्कार के योग से ही उपलब्ध होता है[१]।

तदनन्तर भोज ने काव्य का लंबा-सा यह लक्षण लिख मारा कि कवि निर्दोष, गुणयुक्त, अलङ्कार से अलंकृत और सरस काव्य का निर्माण करके ही कीर्ति और आनन्द को प्राप्त कर सकता है[२]। एक प्रकार से इन्होंने भी शब्दार्थ ही को काव्य माना। क्योंकि अर्थ के बिना रस और अलङ्कार का अस्तित्व ही संभव नहीं।

काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने भी दोष-रहित और गुण-सहित शब्द और अर्थ, दोनों को ही काव्य माना है[३]। इन्होंने अलङ्कार पर उतना जोर नहीं दिया। यत्र-तत्र निरलङ्कार भी निर्दोष और सगुण शब्दार्थ काव्य है, ऐसा उनका मत है। लक्षण में तो नहीं पर अन्यत्र के विवेचन से प्रतीत होता है कि काव्य सरस होने की बात को भी वे स्वीकार करते हैं।

काव्य के कारण

काव्य का कारण प्रतिभा है। नयी-नयी स्फूर्ति, नव-नव उन्मेष, टटकी-टटकी सूझ को प्रतिभा कहते हैं। पण्डितराज के विचार से प्रतिभा शब्द और अर्थ की वह उपस्थिति या आमद है जो काव्य का रूप खड़ा करती[४] है। यही बात मंखक ने बड़े ढंग से कही है—सराहिये उस कवि-चक्रवर्ती को जिसके इशारे पर शब्दों और अर्थों की सेना सामने कायदे से खड़ी हो जाती है[५]। वामन ने प्रतिभान अर्थात् प्रतिभा को कवित्ववीज कहा है[६]।

---

१ काव्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः।
स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्। काव्यालङ्कारसूत्र

२ निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिञ्च विन्दति। सरस्वतीकण्ठाभरण

३ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि। मम्मट

४ सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः। रसगङ्गाधर

५ अभ्रंकषोन्मिषितकीर्तिसितातपत्रः
स्तुत्यः स एव कविमण्डलचक्रवर्ती।
यस्येच्छयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते
द्राग्वाच्यवाचकमयः पृतनानिवेशः॥ श्रीकण्ठचरित

६ कवित्ववीजं प्रतिभानम्। वामन

रुद्रट ने प्रतिभा को शक्ति[1] नाम से अभिहित किया है। यह पूर्वजन्मार्जित एक विशेष प्रकार का संस्कार है जिसे आचार्य मम्मट आदि ने भी माना है। यह दो प्रकार की होती है। एक सहजा और दूसरी उत्पाद्या। सहजा कथंचित् होती है अर्थात् ईश्वरदत्त या अदृष्टजन्य होती है और उत्पाद्या व्युत्पत्तिलभ्य[2] है।

जिनको प्रतिभा नहीं है वे भी कवि हो सकते हैं। क्योंकि सरस्वती की सेवा व्यर्थ नहीं जाती। आचार्य दण्डी कहते हैं कि यद्यपि काव्य-निर्माण का प्रबल कारण पूर्वजन्मार्जित प्रतिभा जिसको नहीं है वह भी श्रुत से अर्थात् व्युत्पत्ति-विधायक शास्त्र के श्रवण-मनन से तथा यत्न से अर्थात् अभ्यास से सरस्वती का कृपापात्र हो सकता[3] है। अर्थात् सरस्वती सेवित होने से सेवक को कवि की वाणी देती है।

इससे स्पष्ट होता है कि काव्य के कारण प्रतिभा, शास्त्राध्ययन और अभ्यास हैं। कितने आचार्यों ने इन तीनों को ही कारण माना है। लोकशास्त्रादि के अवलोकन से प्राप्त निपुणता का ही नाम व्युत्पत्ति है और गुरूपदिष्ट होकर काव्यरचना में बार-बार प्रवृत्त होना अभ्यास है।

ये तीनों काव्य-निर्माण में इस प्रकार सहायक होते हैं कि प्रतिभा से साहित्य-सृष्टि होती है, व्युत्पत्ति उसको विभूषित करती है और अभ्यास उसकी वृद्धि। जैसे मिट्टी और जल से युक्त बीज लता का कारण होता है वैसे ही व्युत्पत्ति और अभ्यास से सहित प्रतिभा ही कविता-लता का बीज है—कारण है। इसका ऊपर सप्रमाण उल्लेख हो चुका है।

---

१ मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥ रुद्रट

२ प्रतिभेत्यपरैरुदिता, सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।

× × ×

उत्पाद्या तु कथञ्चित् व्युत्पत्त्या जन्यते परया। रुद्रट

३ न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना— गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥ काव्यादर्श

जो आधुनिक समालोचक यह कहते हैं कि 'प्रतिभा' ही केवल कवित्व का कारण हो सकती है, इस पर प्राचीनों ने जोर नहीं दिया। संस्कृत आलङ्कारिकों की दृष्टि में अशास्त्राभ्यासी कवि नहीं हो सकता। उनकी दृष्टि से ग्रामीण गीतों में कवित्व नहीं हो सकता आदि। यह कहना ठीक नहीं है। हेमचन्द्र ने स्पष्ट लिखा है कि काव्यरचना का कारण केवल प्रतिभा ही है। व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके संस्कारक हैं, काव्य के कारण नहीं[1]। भामह का तो कहना यह है कि मन्दबुद्धि भी गुरूपदेश से शास्त्राध्ययन में समर्थ हो सकता है पर काव्य तो कभी-कभी किसी प्रतिभाशाली के ही सौभाग्य में होता[2] है। यदि ग्राम-गीतों में कवित्व का अभाव माना जाता तो कवि-कोकिल विद्यापति के गीत इतने समादृत नहीं होते। यही कारण है कि कजली और लावनी के रसिया भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को कहने के लिये वाध्य होना पड़ा कि 'भाव अनूठो चाहिये भाषा कोऊ होय'। हाँ, यह बात अवश्य है कि आशुकवियों, कव्वालियों, लावनी और कजली बाजों की तुरत की तुकबंदियों में कवित्व कादाचित्क ही होता है।

काव्य के फल

प्राचीन शास्त्रानुसार काव्य के फल तो यशोलाभ, द्रव्यलाभ,[3] लोक-व्यवहारज्ञान, सदुपदेशप्राप्ति, दुःखनिवारण, परमानन्दलाभ आदि अनेक हैं पर आधुनिक कलाकारों की दृष्टि में आनन्दलाभ के अतिरिक्त किसी का कोई उतना महत्त्व नहीं है। किन्तु सभी कलाकार और विवेचक इस विचार के नहीं हैं। वे काव्य के सदुद्देश्यों का समर्थन करते हैं। उदाहरण-स्वरूप महान् कलाकारों के कुछ उद्धरण दिये जा चुके हैं।

प्राचीनों की प्राचीन बातें भले ही न रुचें पर आधुनिक वर्डस्वर्थ की यह बात तो अवश्य मानी जायगी कि राग के द्वारा सत्य का हृदय में सजीव पहुँचाना कविता है। फिर सदुद्देश्य-सिद्धि के बारे में क्या सन्देह हो सकता है। क्योंकि

---

१ प्रतिभैव च कवीनां काव्यकारणकारणम्। व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कार-कारकौ न तु काव्यहेतू। काव्यानुशासन

२ गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः। काव्यालंकार

३ काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कवितासंम्मिततयोपदेशयुजे। काव्यप्रकाश

प्राचीनों की प्राचीन बातें भले ही न रुचें पर आधुनिक वर्डस्वर्थ की यह बात तो अवश्य मानी जायगी कि राग के द्वारा सत्य का हृदय में सजीव पहुँचाना कविता है। फिर सदुद्देश्य सिद्धि के बारे में क्या सन्देह हो सकता है ? क्योंकि सत्यलाभ जीवन का एक महान् उद्देश्य है। साहित्य से सत्य तो सुन्दर भी होता है। फिर और क्या चाहिये ? कालिदास और तुलसीदास की बात जाने दीजिये। व्यावहारिक दृष्टि से देखिये तो कौन ऐसा लेखक और कवि है जो यशोऽभिलाषी न हो। द्रव्यलाभ फल न होता तो नोबुल पुरस्कार के लिये नहीं तो कम से कम देवपुरस्कार और मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक के लिये किसी कलाकार की लार क्यों टपकती ? आधुनिक कवियों के काव्यों में भी नीति की ऐसी बातें मिलतीं हैं जिनसे लोक-व्यवहार का ज्ञान भलीभाँति हो सकता है। पाठ्य पुस्तकों की कवितायें तो प्रायः ऐसी ही होती हैं। हाँ, दुःख-निवारण एक ऐसी बात है जिसे सहज ही सब नहीं मान सकते। प्राचीन उदाहरणों को छोड़िये। बाहु-पीड़ा मिटाने के लिये 'हनुमान-बाहुक' की रचना सम्बन्धी तुलसीदास की किंवदन्ती का जबतक अस्तित्व रहेगा तबतक आस्तिक जन कविता का यह उद्देश्य भी अवश्य मानेंगे।

रीति

काव्य में शब्द की प्रधानता हो या शब्द और अर्थ की, उसके वा उनके कुछ आवश्यक उपकरण हैं। वे हैं रीति, गुण, अलंकार, रस और ध्वनि। आरम्भ के तीन शब्द के और अन्त के दो अर्थ के उपकरण हैं। पर यह सामान्य भेद है। क्योंकि कई आचार्यों ने गुण को अर्थ का भी उपकरण माना है।

रीति की परम्परा बहुत पुरानी है। भामह से भी पहले की। दण्डी रीति के समर्थक थे पर अलंकार के प्रभाव से मुक्त न थे। वामन ही प्रधानतः रीति के समर्थक या उन्नायक थे। उन्होंने अपने मत का ऐसा समर्थन किया कि अलङ्कार कुछ फीका पड़ गया।

वामन विशिष्ट पद-रचना को रीति[1] कहते हैं। मम्मटने इस 'रीति' को 'वृत्ति' संज्ञा दी है। रीति या वृत्ति का आधुनिक नाम शैली है। किसी वर्णनीय विषय को स्वरूप को खड़ा करने के लिये उपयुक्त शब्दों का चुनाव और उनकी योजना को शैली कहते हैं। देश-विशेष के प्रमुख कवियों की प्रचलित प्रणाली के नाम पर ही रीतियों का वैदर्भी, पांचाली, गौड़ी आदि नामकरण हुआ है। पृथक् पृथक् नादाभिव्यञ्जक वर्णों से संघटित शब्दों के चुनाव से जो वस्तु का

---

१ विशिष्टपदरचना रीतिः। काव्यालङ्कारसूत्र

प्रस्तुतानुगुण झंकार की विशेषता आती थी उसीसे उन वृत्तियों के उपनागरिका, कोमला, परुषा ये नाम पड़े।

अबतक के पूर्ववर्ती आचार्य विशेष रूप से काव्य-कलेवर के बारे में ही विचार-विमर्श कर रहे थे। किसीने उसकी आत्मा पर ध्यान नहीं दिया था। पर वामन ने शब्दार्थ-शरीर में काव्यात्मा की खोज की और उसको रीति कहा[1]। यद्यपि काव्यात्मा के सम्बन्ध में मतभेद है तथापि काव्यात्मा के निर्द्धारण की ओर उन्मुख करने वाले ये ही आचार्य हैं। वामन ने विशिष्ट पद-रचना को रीति कहा और पद-रचना में विशेषता लाने वाले धर्म को गुण[2]। शब्द में जो सौन्दर्य अनुभूत होता है वह इन्हीं गुणों के आदान से और दोषों के परित्याग से। इस प्रकार उनके मत से काव्य में गुण और रीति का संयोग अनिवार्य है।

गुण

वामन ने गुणों की व्याप्ति पिछले आलङ्कारिकों के समान शब्द ही तक सीमित नहीं मानी है। ओज आदि गुणों को वे अर्थगत भी मानते हैं। भोजराज तो यहाँ तक कहते हैं कि अलंकृत काव्य भी गुणहीन होने से श्रवणीय नहीं। अतः काव्य को अलंकृत होने की अपेक्षा गुणयुक्त होना आवश्यक है[3]।

काव्य में जो गुण पदावली को विभूषित करता है वह शब्द-गुण है, जो वर्णनीय वस्तु को उत्कृष्ट बनाता है वह अर्थगुण है और जो शब्द और अर्थ दोनों को उपस्कृत करता है वह उभय-गुण है।

गुणों के विषय में आचार्यों में बड़ा मतभेद है। इनमें व्यास, (अग्निपुराण) भरत, दण्डी, वामन और भोज मुख्य हैं। भरत ने दस, अग्निपुराण ने उन्नीस और भामह ने तीन गुण माने हैं। इन्हीं तीनों में—प्रसाद, माधुर्य्य और ओज में ही, अन्य भेदों का अन्तर्भाव कर दिया है। बाद दण्डी ने दस, वामन ने बीस और भोज ने चौबीस गुण माने। पर काव्य-प्रकाश ने अपना प्रकाश डालकर उक्त तीनों गुणों का ही समर्थन किया और दर्पणकार आदि ने भी इन्हें ही माना। अब काव्य में इन्ही तीनों गुणों का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है।

भरत ने जो 'एत एव विपर्यस्ताः' कहकर दोषों के विपरीत जो कुछ है वही गुण है, यह मत प्रकाशित किया सो ठीक नहीं। क्योंकि गुण काव्य का एक

---

१ रीतिरात्मा काव्यस्य। काव्यालङ्कारसूत्र

२ विशेषो गुणात्मा। काव्यालङ्कारसूत्र

३ अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगयोः॥ सरस्वतीकण्ठाभरण

विशिष्ट धर्म है, जिसका पद अलंकार से भी ऊँचा है। इससे उन्हें दोष के अभाव रूप में स्वीकार करना ठीक नहीं। काव्य-दोष अनेक हैं, जिनसे काव्य को मुक्त रखने के लिये सभी आचार्यों ने अपने अपने लक्षणों में दोपाभाव का समावेश किया है।

गुण और अलंकार यद्यपि काव्योत्कर्ष विधायक हैं तथापि इनके धर्म भिन्न हैं। क्योंकि दण्डी के कथनानुसार गुण काव्य के प्राण[1] हैं; वामन के मत से गुण काव्य में काव्यत्व लानेवाला धर्म है और अलंकार काव्य को उत्कृष्ट बनाने वाला धर्म[2] है। गुणों से काव्य में काव्यत्व आता है और अलंकार से काव्य की श्री-वृद्धि होती है।

अलङ्कार

भरत मुनि ने उपमा, रूपक, दीपक और यमक[3] इन चार अलंकारों की चर्चा की है पर इनकी विशेष विवेचना नहीं की है। अग्निपुराण के लक्षण में काव्य का स्फुरदलंकार होना लिखा है। अलंकार-सम्प्रदाय के प्रधान और प्राचीन आचार्य भामह ने शब्दार्थ-वैचित्र्य को वक्रोक्ति—एक प्रकार का बाँकपन-संज्ञा दी है और इस वैचित्र्य को ही अलङ्कार कहा[4] है। बिना वक्रोक्ति के वे अलंकार मानते ही नहीं और इसी वक्रोक्ति के लिये कवियों को प्रयत्नवान् होने का आदेश देते[5] हैं। इस उक्ति-वैचित्र्य को आचार्य दण्डी अतिशयोक्ति कहते हैं और अलंकारों को काव्य के शोभा-धायक धर्म मानते हैं[6]। आचार्य वामन काव्य को अलंकार-सहित होने पर ही ग्राह्य बताते हैं और अलंकार उनके मत से सौन्दर्य है[7]।

---

१ एते वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः। दण्डी

२ काव्यशोभायाः कर्तारो गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः। वामन

३ उपमा रूपकञ्चैव दीपकं यमकं तथा।
अलङ्कारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः॥ नाट्यशास्त्र

४ वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः। काव्यालङ्कार

५ सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥ काव्यालङ्कार

६ अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥ काव्यादर्श

७ काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः। काव्यालङ्कारसूत्र

वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को एक प्रकार से पर्याय मान लिया गया है[१]। अलंकार-मात्र में अनेक आचार्य वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति की सत्ता मानते हैं[२]। ध्वनिकार को भी यह मान्य है। क्योकि काव्य में कुछ अनूठापन लाना सकल-सहृदय-सम्मत है।

प्रसंगतः वक्रोक्ति का यहाँ विचार हो जाना चाहिये। वक्रोक्ति को सिद्धान्त रूप में स्वीकार करने वाले वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ही हैं। वक्रोक्ति से उनका अभिप्राय भणिति-भंगि[३] अर्थात् कहने के विशेष ढंग से है। वक्तव्य विषय का साधारण रूप से वर्णन न करके कुछ ऐसी विदग्धता के साथ वर्णन करे कि उसमें कुछ विच्छित्ति वा विचित्रता आ जाय।

अभिप्राय यह कि शब्द और अर्थ के संयोग से ही साहित्य-सृष्टि होती है। वे शब्द और अर्थ तभी काव्यत्व लाभ कर सकते है जब उनमें वक्रोक्ति हो। कुन्तक का कहना है कि साधारणतः अनेक शब्दों से अर्थ प्रकाश किया जा सकता है पर अनेक शब्दों के रहते हुए भी जो शब्द ठीक विवक्षित अर्थ को प्रकाशित करता है वही वाचक शब्द है। अर्थ वही है जो स्वयं सुन्दर हो और सहृदयों का हृदयाह्लादक हो। इसी सहृदयहृदयाह्लादकारी अर्थ और विवक्षितार्थैकवाचक शब्द की जो विशिष्टता है वही वक्रोक्ति है[४]। कुन्तक के मत से यही वक्रोक्ति कविता का प्राण[५] है। सारांश यह कि काव्य के शब्द और अर्थ के साहित्य में अर्थात् एक साथ मिलकर भाव-प्रकाश करने के सामञ्जस्य में ही काव्यत्व है। कुन्तक के मत से वक्रोक्ति ही कविता कहलाने के योग्य है। किन्तु वक्रोक्ति में चमत्कार के कारण वे सरसता के भी समर्थक हो जाते हैं[६]। भामह के

---

१ एवं चातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम्। काव्यप्रकाश बालबोधिनी टीका।

२ सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते। तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात्। काव्यप्रकाश

३ वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते। वक्रोक्तिजीवित

४ शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारि स्वस्पन्दसुन्दरः॥

५ वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्।

६ सर्वसम्पत्परिस्पन्दि सम्पाद्यं सरसात्मनाम्।
अलौकिकचमत्कारकारिकाव्यैकजीवितम्। वक्रोक्तिजीवित

'वक्राभिधेयशब्दोक्ति' के सिद्धान्त को कुन्तक ने परिष्कृत रूप दिया है। आजकल का अभिव्यञ्जनावाद प्रायः वक्रोक्ति से मिलता-जुलता है। कुन्तक वक्रोक्ति के नाम से एक पृथक् काव्य-सम्प्रदाय स्थापित करने में समर्थ हुए थे।

अतिशयोक्ति का अर्थ है उक्ति का सामान्यातिरिक्त होना और ऐसा कहने में एक प्रकार से वक्रोक्ति आ ही जाती है। इससे दोनों का एक होना असम्भव नहीं। वक्रोक्ति का यह आशय व्यापक रूप से माना गया है, न कि वक्रोक्ति केवल अलंकार है, जैसा कि आजकल प्रचलित है। अलकारों में जब से वक्रोक्ति की गणना होने लगी तब से इसका महत्त्व कम हो गया। पहले अतिशयोक्ति-पूर्ण और वक्रोक्ति-पूर्ण वर्णन को काव्य में अधिक महत्त्व दिया जाता था पर आजकल स्वभावोक्ति को भी एक अलंकार मानते हैं और काव्य-दृष्टि से उसका महत्त्व बढता जाता है। पर स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का भेद प्रत्यक्ष है। स्वभावोक्ति को अलंकार मानने में मतभेद है।

प्रायः प्राचीनों की प्रचंड प्रतिभा काव्य-वस्तु के विवेचन में ही अनवरत संलग्न रही, जिससे अलंकार-वाद का प्रभाव सीमातिक्रम कर गया। प्रारंभ के चार अलंकार भेदोपभेदों और सूक्ष्म विचारों से बढकर डेढ़ सौ के लगभग हो गये। इसके विषय में सभी एकमत नहीं। लक्षणों और उदाहरणों में भी भिन्नता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि साधन-स्वरूप अलंकार साध्य बन गये हैं। यहाँ तक कि काव्य के सौन्दर्य की वृद्धि करने के कारण अलंकार वादियों ने अलंकार ही को काव्यात्मा कह डाला!

अलंकार-वादियों की अपेक्षा रीतिवादी गुणों की मर्यादा स्थापित कर काव्यात्मा के निकट पहुँच गये थे। उन्होंने गुणों का सम्बन्ध रस से स्थापित किया था। व्यञ्जक वर्णों से ही, जो रसों के एक प्रकार के बाह्य रूप हैं, गुणों का निर्माण होता है। रस के साथ अलंकारों का ऐसा सम्बन्ध नहीं है। अलङ्कृत काव्य भी नीरस हो सकता है, अनलङ्कृत काव्य भी सरस। हमारे पूर्वाचार्य रस-सिद्धान्त से परिचित तो थे, पर इसके व्यापक प्रभाव से प्रभावित नहीं हुए थे।

रस

सामान्यतः हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि अर्थ के उपकरण रस और ध्वनि हैं। शब्द-सौष्ठव मात्र उतना मनोरम नहीं हो सकता, वक्तव्य विषय को व्यक्त करने का भिन्न भिन्न प्रकार उतना मनमोहक नहीं हो सकता जितना कि मार्मिक और सरस अर्थ। शब्दों का लालित्य वा उनकी झंकार सुनकर हम भले ही वाह वाह कह दें पर ये हमारे हृदय का स्पर्श नहीं कर सकते, उसमें

गुद-गुदी नहीं पैदा कर सकते। पर अर्थ इस अर्थ के लिये सर्वथा समर्थ है। अलौकिक आनन्द का दान ही हमारे काव्य का ध्येय है। यह आनन्द वाह्याडम्बर से प्राप्त नहीं हो सकता। अलंकार वा विशिष्ट पद-रचना काव्य की आत्मा नहीं हो सकती। काव्यात्मा तो बस अर्थ का उत्कर्ष ही है जो रस के समावेश से ही सिद्ध हो सकता है। जबतक किसी बात से हमारा हृदय गद्‌गद नहीं हो उठता, मुग्ध नहीं हो जाता तबतक हम किसी वर्णन को काव्य कह ही कैसे सकते हैं। किसी भाव के उद्रेक ही में तो अर्थ की सार्थकता है। यह अर्थ हृदयस्पर्शी तभी हो सकता है जब उसमें हृदय के सुप्त भाव को छेड़कर जागरित करने की शक्ति हो। उसी जाग्रत भाव में हम भूल जायँ तो हमें सच्चा आनन्द प्राप्त होगा और वही आनन्द काव्य का **रस** है।

भारतीय काव्य की रस—परम्परा बहुत प्राचीन है। **राजशेखर** ने अपनी **काव्य-मीमांसा** में काव्य-विद्या के अट्ठारह अंगों में रसाधिकारिक अंग का आचार्य **नन्दिकेश्वर** को माना है। काम-शास्त्र के **संक्षेपकों** में भी नन्दिकेश्वर का नाम आया है। ये नन्दिकेश्वर महादेव के अनुचर माने जाते हैं। साहित्य में नाना भाँति से इनका नाम आया है। इनकी विवेचना साहित्य का विषय नहीं। पर यह कहा जा सकता है कि नन्दिकेश्वर के या भरत मुनि के पूर्व जबतक पूर्ण रूप से रस-मीमांसा नहीं हुई थी तब तक रस से केवल **शृङ्गार** ही समझा जाता था। राजशेखर के भरत को रस का आदि प्रवर्तक न मानने से यह भी स्पष्ट है कि भरत ने परंपरागत रस का ही अपने नाट्य-शास्त्र में समावेश किया है जिसकी व्याख्या छठे और सातवें अध्यायों में की है।

भरत का **विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः** यह सूत्र बहुत प्रसिद्ध है, जिसकी व्याख्या अनेक आचार्यों ने भिन्न भिन्न रूप से की है। भरत **शृङ्गार, वीर, रौद्र** तथा **बीभत्स** चार प्रधान और उनसे उद्भूत, **हास्य, करुण, अद्भुत** तथा **भयानक** चार अप्रधान रस मानते हैं। **भामह** का रस-सम्बन्धी कोई निश्चित विचार नहीं। रस से परिचित होनेपर भी उन्होंने वक्रोक्ति और अलङ्कार को ही प्रधानता दी है। **दण्डी** ने माधुर्य गुण के लक्षण में रस का नाम लिया है और **वाग्‌रस** तथा **वस्तुरस** नामक उसके दो भेद[1] किये हैं। शब्दालङ्कारों में **अनुप्रास** को वाग्‌रस का पोषक और अर्थालङ्कारों में **ग्राम्यत्व-दोष** के अभाव को वस्तुरस का पोषक माना है। पर रस-विवेचना स्वतन्त्र रूप से नहीं की है। संभव है वे रस से आस्वाद मात्र ही समझते हों।

---

१ मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। **काव्यादर्श**

वामन ने कान्ति नामक अर्थ-गुण के लक्षण में यह कहकर रस की चर्चा की है कि रसों की दीप्ति[1] अर्थात् प्रगाढ़ अभिव्यक्ति ही कान्ति नामक अर्थ-गुण की आधायक है। उद्भट ने भरत के अनुसार आठ रसों को मानकर विभावादि की व्याख्या की है और उनमें एक शान्त रस जोड़ दिया है। रुद्रट ने इसमें प्रेयस्[2] को जोड़कर दस कर दिया। पर काव्य-तत्व जो रस है उसका कोई सिद्धान्त स्थिर न कर सका। भले ही किसी न किसी रूप में रस को वे मानते रहे।

उपर्युक्त जितने आचार्य हैं सभी अलंकार के ही पक्षपाती हैं। सभी ने रस को अलंकार और रीति का ही उत्कर्षक माना है। काव्य में रस की प्रधानता स्वीकार करने को ये प्रस्तुत नहीं थे। भरत से लेकर ध्वनिकार तक रस से नाट्य-रस ही समझा जाता था। क्योंकि नाटक को ही लेकर उसमें रस की उत्पत्ति, उसकी आवश्यकता आदि का विवेचन है। बाद के आचार्यों ने भी प्रायः उसीका अनुसरण किया है। पर नाटक के काव्याङ्ग होने से काव्यमात्र में रस की स्थिति विवेच्य है। रुद्रभट्ट ने तो स्पष्ट ही कहा है कि भरतादि ने नाट्य ही में रस की स्थिति मानी थी। मैं अब यथामति काव्य में भी उसकी स्थिति का निरूपण करता[3] हूँ। अतः भरत के नाट्य रस का सिद्धान्त काव्य के रस-सिद्धान्त पर भी लागू होता है। अब भक्ति और वात्सल्य मिलाकर रस की संख्या बारह हो गयी है। ध्वनिकार ने काव्य की आत्मा ध्वनि को माना है और यह ध्वनि प्रधानतः रस की ही होती है।

रस-निष्पत्ति वाले भरतसूत्र की कई आचार्यों ने कई प्रकार से जो व्याख्या की है उसका मुख्य तात्पर्य यही है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा सहृदय पुरुषों के हृदय में वासना रूप से वर्तमान स्थायी भाव ही अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त होता है। विभावादि को थोड़े में जान लें।

श्रृङ्गार आदि प्रत्येक रस का रति आदि एक एक स्थायी भाव होता है। ये स्थायी भाव संस्कार रूप से कुछ मानव-हृदयों में वर्तमान रहते हैं। विभाव का अर्थ होता है भाव का कारण। यह दो प्रकार का है। आलंबन और उद्दीपन। रस-प्रतीति में दोनों की आवश्यकता होती है। भावों के बोधक कार्यों को अनुभाव

---

१ दीप्तरसत्वं कान्तिः। काव्यालंकारसूत्र ३।२।१४

२ स्नेह-प्रकृतिः प्रेयान्। काव्यालङ्कार

३ प्रायो नाट्यं प्रति प्रोक्ता भरताद्यैः रसस्थितिः।
यथामति मयाप्येषा काव्यं प्रति निगद्यते। श्रृङ्गारतिलक

कहते हैं। जैसे, आलंबन नायिका और उद्दीपन चन्द्रोदय आदि के द्वारा आलंबित और उद्दीपित नायकगत रति भाव को व्यक्त करने की जो नायक की शारीरिक चेष्टायें होती हैं वे **अनुभाव** हैं। चिन्ता, मोह, दैन्य आदि तैंतीस **संचारी** हैं। ये क्षण-स्थायी होते हैं। एक स्थायी भाव की प्रभुता में बहुत से संचारी भाव उठते और मिटते रहते हैं। लौकिक परिभाषा में इन्हें रस-निष्पत्ति के सहकारी कारण भी कह सकते हैं। भावों में संचरण करने के कारण संचारी और विविधता तथा आभिमुख्य से चरण करने अर्थात् उत्पन्न और विलीन होने से इनकी **व्यभिचारी** संज्ञा भी है।

स्पष्ट यह कि रसों की प्रतीति में तत्तद्रसानुकूल विभाव, अनुभाव तथा संचारी कारण होते हैं। इनसे जब स्थायी भाव परिपुष्ट होते हैं तब रसों की अनूभूति होती है। समझना चाहिये कि इन सबों की संश्लिष्टात्मक अखण्डता ही रस है।

इन्हीं संचारी और व्यभिचारी शब्दों को लेकर भी पन्तजी ने प्राचीनों पर कीचड़ उछालने की निन्द्य चेष्टा की है। वे वहीं लिखते हैं कि '**रसगंगाधर, काव्यदर्श आदि की वीणा के तार पुराने हो गये। वे स्थायी, संचारी, व्यभिचारी आदि भावों के जो कुछ संचार या व्यभिचार करवाना चाहते थे, करवा चुके।** धन्य पन्तजी! यदि आप इन बातों का उल्लेख न भी करते तो भी आपकी प्रतिभा की पूजा होती। ऐसे वाक्यों पर तो कविजनोचित शालीनता शरमाकर सिर नीचा कर लेती है।

प्राचीनों ने व्यभिचार की शिक्षा कभी नहीं दी। आचार्यों और महाकवियों ने अपनी कृतियों की मनोरंजक शक्ति से श्रोता और पाठक पर वह प्रभाव डालने की चेष्टा की है जिससे उनकी चित्तवृत्ति अलक्ष्य रूप से सुसंस्कृत होकर परिवर्तित हो जाय। काव्य ने वही काम किया है जो बुद्धिमती कान्ता अपने निश्छल प्रेम से पति को केवल प्रसन्न करने के लिये ही नहीं, ठीक रास्ते पर रखने के लिये भी करती है। हमारे काव्य अपना अलक्ष्य प्रभाव डालकर विकृत चित्तवृत्ति को उचित मार्ग पर लाने की क्षमता रखते हैं। उनका काव्यगत उद्देश्य **राम** के समान बनाने का है न कि **रावण** के समान।

हम मानते हैं कि संस्कृत के कवियों ने श्रृङ्गार रस का विशेष रूप से वर्णन किया है। उदाहृत पद्यों में श्रृङ्गार रस लबालब भरा पड़ा है। नायिका-भेद के उदाहरणों में भी श्रृङ्गार की परा काष्ठा है। पर आप उसे कुत्सित वा अश्लील नहीं कह सकते। जिन आचार्यों ने अश्लीलता को दोष माना है वे अश्लीलता को प्रश्रय ही कैसे दे सकते थे। ऐसे वर्णनों में प्राचीन कवियों का सदा ही

यह सदुद्देश्य रहा कि समाज असतियों और धूर्तों की चालबाजियों से सदा सचेत रहे और अपने को नीतिभ्रष्ट और कुरुचि-पङ्किल होने से बचावे। रुद्रट तो कहते हैं कि कवि को पर-स्त्री को न तो चाहना है और न उपदेश देना। वह तो केवल उनके वृत्त को काव्याङ्ग के रूप में ही ग्रहण करता[1] है। आज के कलाकार ही अश्लीलता और नग्नता को प्रश्रय दे रहे हैं।

आचार्यों पर व्यभिचार का लांछन लगाने वाले पन्तजी के काव्य में नग्नता का एक निम्न नमूना देखें—

मंजरित - आम्रवन - छाया में हम प्रिये मिले थे प्रथम बार,
ऊपर हरीतिमा नभ गुञ्जित, नीचे चन्द्रातप छना स्फार!
तुम मुग्धा थीं अति - भाव - प्रवण, उकसे थे अंबियों से उरोज,
चंचल प्रगल्भ हँसमुख उदार, मैं सलज तुम्हें था रहा खोज!
छनती थी ज्योत्स्ना शशि - मुख पर मैं करता था मुख - सुधा-पान—
कूकी थी कोकिल, हिले मुकुल, भर गये गंध से मुग्ध प्राण!
तुमने अधरों पर धरे अधर, मैंने कोमल वपु भरा गोद,
था आत्मसमर्पण सरल मधुर, मिल गये सहज मारुतामोद!
मंजरित आम्रद्रुम के नीचे हम प्रिये मिले थे प्रथम बार,
मधु के कर में था प्रणय बाण, पिक के उर में पावक पुकार!

पन्तजी जिन व्यभिचारी भावों से भड़कते हैं उन्हीं की इसमें भरमार है। वे जिन विभाव, अनुभाव, संचारी भावों से अलग रहने की शिक्षा दे रहे हैं उन्हींमें वे फँसे हैं। भला रससिद्ध कवि कैसे इनसे भाग सकता है। इनके विना काव्य में रसोत्पत्ति का होना संभव नहीं। इस कविता में सभी कुछ है। काव्य-रस-रसिक इसको अच्छी तरह समझ रहे हैं। व्याख्या की जरूरत नहीं।

ध्वनि

'ध्वनि' शब्द का अर्थ है 'आवाज'। आघात से जैसे आवाज निकलती है वैसे ही वाच्यार्थ से ध्वनि निकलती है। यह शब्द की एक अर्थ-शक्ति है। शब्द से स्पष्ट न कही जाने पर भी जो बात प्रतिभासित होती है वही ध्वनि है।

---

१ नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः।
कर्तव्यतयाऽन्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः।
किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति।
आराधयितुं विदुषस्तेन न दोषः कवेरत्र। काव्यालंकार

वाच्यार्थ तो शब्दों का ठेठ अर्थ है जिसे गँवार भी समझता है। काव्य में उसका महत्त्व निम्न कोटि का है। उसका जो व्यङ्ग्यार्थ है—ध्वनि है वही चोखा है, असाधारण है, और महत्त्वपूर्ण है। शब्दों से स्पष्ट प्रकट न होने के कारण ही ध्वनिकार ने लिखा है कि कवियों की वाणी में वाच्यार्थ के अतिरिक्त प्रतीयमान—प्रतिभासमान जो ध्वनि-रूप व्यङ्ग्यार्थ होता है वह कोई और ही अपूर्व वस्तु है। वह अर्थ वैसे ही शोभित होता है जैसे सुश्लिष्ट—सुगठित अङ्गोंवाली नायिका के अङ्गों के अतिरिक्त उसका लावण्य हो—लुनाई या सलोनापन हो[1]। शास्त्रीय परिभाषा में प्रधान व्यङ्ग्यार्थ ही ध्वनि कहलाता है।

यद्यपि ध्वनिकार इस ध्वनिमत के आविष्कारक नहीं हैं तथापि उन्होंने उस उपेक्षित और अस्पष्ट ध्वनिवाद को सुव्यवस्थित रूप दिया है। उसमें नव जीवन का सञ्चार किया है। उन्होंने ध्वनि को केवल काव्यात्मा कहकर ही विश्राम नहीं ले लिया, प्रत्युत रस, रीति, गुण और अलंकार की भी मीमांसा करके ध्वनि के साथ उनका सामञ्जस्य भी स्थापित किया है। उन्होंने ध्वनि को इन सबों से एक विलक्षण पदार्थ बताया है। उनके मार्मिक विवेचन और पाण्डित्य-पूर्ण प्रतिपादन के प्रभाव से अलङ्कारवाद आदि सभी मत निष्प्रभ हो गये।

ध्वनिकार के मत से रस, भाव आदि ध्वनियों में प्रधान हैं। ये ध्वनित ही होते हैं, उक्त नहीं। वस्तु और अलंकार भी ध्वनित होते हैं पर रस, भाव आदि की ध्वनि को जो प्रधानता प्राप्त है वह उन्हें प्राप्त नहीं। क्योंकि रस, भाव आदि से ही काव्य प्राणवान् होता है। इस ध्वनित होने वाले रस का परवर्ती आचार्यों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि प्रायः सभी इसके किसी-न-किसी प्रकार से अनुयायी बन गये।

क्रौंच पक्षी का एक जोड़ा काम-कौतुक में निमग्न था। इसी समय एक व्याध ने कामोन्मत्त नर-क्रौंच को मार गिराया। वह पृथ्वी पर तड़फड़ाने लगा। क्रौंची क्रौंच की मर्मकृन्तक कराह को सुनकर करुण क्रन्दन करने लगी। यह दृश्य देखकर कवि के हृदय में जो करुणा उमड़ आयी उसने भारतीय काव्य-साहित्य के पहले श्लोक को जन्म दिया। वह श्लोक है—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

इस श्लोक का साधारण अर्थ है कि "रे व्याध, तुमने क्रौंच की जोड़ी से

---

१ ध्वन्यालोक का श्लोक इस ग्रन्थ के २०१ वें पृष्ठ में देखें।

कार्म-मोहित क्रौंच को मार डाला। इसीसे अनन्त काल तक तुम्हारी कोई पूछ न हो"। पर इस वाच्यार्थ में कोई विशेष चमत्कार नहीं। स्वयं आश्चर्य-चकित होकर आदि कवि ने अपने शिष्य से कहा कि शोकार्त हृदय से निकला हुआ यह लय-तान-समन्वित श्लोक (यश) ही रहे, अन्यथा न हो। इसके मूल में कवि की करुण भावना निहित है। उस समय महर्षि के मन में जो करुण रस उत्पन्न हुआ वही इस श्लोक से ध्वनित है। इसीसे इस श्लोक को काव्यत्व प्राप्त है। इससे महर्षि वाल्मीकि के करुणा-विगलित कोमल मानस का जो मार्मिक भाव व्यक्त होता है वह सहृदय के हृदयों को आकर्षित कर लेता है। इसी पर तो ध्वनिकार ने लिखा है कि —

> काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
> क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

क्रौंच-द्वन्द के वियोग से उत्पन्न आदि कवि के शोक ने जो श्लोक का रूप धारण किया वह करुण रस का प्रत्यक्ष उद्‌गार था। वही करुण रस की ध्वनि काव्यात्मा है।

अर्थ

काव्य का सर्वस्व अर्थ ही है। शब्द तो उसके वाहन-मात्र है। अर्थ ही पर शब्द-शक्तियाँ निर्भर हैं। रस अर्थगत ही है। शत-प्रतिशत अलङ्कार प्रायः अर्थालङ्कार ही हैं। रीति-गुण भी अर्थ से असम्बद्ध नहीं कहे जा सकते। कहना चाहिये कि बात की करामात तभी है जब वह सार्थक हो। निरर्थक सुललित पदावली भी उन्मत्त-प्रलाप की कोटि में ही रक्खी जायगी।

अर्थ तीन प्रकार के होते हैं—अभिधेय, लक्ष्य और व्यङ्ग्य। ये शब्द की क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना नामक शक्तियों से प्रकट होते हैं। व्यङ्ग्य ही ध्वनि है—वही व्यञ्जना का फलोपधायक रूप है। व्यङ्ग्य और ध्वनि के स्वरूप में कोई विभेद नहीं।

आशाधर भट्ट ने अपनी 'त्रिवेणिका' में इन तीनों शक्तियों को गङ्गा, यमुना और सरस्वती की उपमा दी है। गङ्गा ही इन तोनों में प्रधान है। इसका विस्तार विश्वविदित है। ऐसी ही अभिधा शक्ति है। सबसे पहले यही अपना व्यापार करती है। इससे कोई शब्द बचा नहीं है। गङ्गा में ही यमुना आ मिली है। अभिधा के आधार पर ही लक्षणा है। अभिधा के बिना लक्षणा का अस्तित्व असंभव है। व्यञ्जना प्रच्छन्न है, जैसे सरस्वती। अभिधा और लक्षणा दोनों व्यञ्जना के मूल हैं। दोनों से ही व्यञ्जना होती है जो अभिधा गङ्गा और लक्षणा

यमुना सी स्पष्ट—दृष्टिगोचर नहीं। जैसे प्रयाग में इन तीनों के संगम से त्रिवेणी बनती है वैसे ही इन तीनों के संगम से काव्य-निर्माण होता है। इन्हीं तीनों शक्तियों से उपलब्ध अर्थ का विवेचन द्वितीय उद्योत में है।

समालोचना

आधुनिक काल में समालोचना को बड़ा महत्त्व दिया जा रहा है। पन्तजी ने समालोचना को लेकर भी प्राचीनों पर छींटाकसी की है। वे लिखते हैं कि हिन्दी में सत्समालोचना का बड़ा अभाव है।......जब तक समालोचना का रूपान्तर न हो, वह विश्व-भारती के आधुनिक विकसित तथा परिष्कृत स्वरों में अनुवादित न हो जाय, तब तक हिन्दी में सत्साहित्य की सृष्टि भी नहीं हो सकती......इत्यादि।

इसमें आया हुआ आपका 'अनुवादित' शब्द बड़ा भ्रामक है। पहले तो 'अनुनादित' का भ्रम हुआ। पीछे इसका अर्थ इस रूप में लिया गया कि विवादी, संवादी और अनुवादी जो तीन प्रकार के स्वर हैं उनमें का ही संभवतः 'अनुवाद' हो। पर 'अनुवादित' शब्द 'भाषान्तर' के अर्थ में ही रूढ़ है और इस अर्थ में कोई संगति नहीं बैठती। अस्तु। यह तो समझ के बाहर को बात है कि बिना समालोचना के 'अनुनादित' या 'अनुवादित' हुए सत्साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। क्यों? क्या अब तक का या आपके पूर्व का साहित्य सत्साहित्य नहीं है? क्योंकि उस समय विकसित तथा परिष्कृत स्वरों में 'अनुवाद' न था!

यहाँ यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य-समलोचकों का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न रहा है, जिससे उनकी दिशायें भी भिन्न भिन्न हैं। आज कोई इनकी तुलना करके जो किसी पक्ष की हीनता का द्योतन करता है वह न्यायोचित नहीं। पाश्चात्य दृष्टिकोण को लेकर प्राच्य आलोचक आचार्यों की निन्दा करना और भी अन्याय है। प्राच्य आलोचना की पद्धति अपने में सर्वथा पूर्ण और सर्वंकष है। उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है। प्राच्य और पाश्चात्य पद्धतियों में जो भेद दिखाई पड़ता है वह इन पद्धतियों के प्रस्थान-भेद के कारण। जहाँ तक अभिव्यञ्जक या अर्थ-प्रकाशक शैली की विवेचना का सम्बन्ध है वहाँ तक प्राच्यपद्धति सर्वथा समृद्ध और विज्ञानानुप्राणित है। अतएव अद्वितीय है। उसकी बराबरी अव्यवस्थित, अनुपपन्न और असिद्धान्त पाश्चात्य शैली अभी नहीं कर सकती। दार्शनिक होने के कारण प्राच्य आचार्यों ने अपनी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति और आध्यात्मिकता को नहीं छोड़ा

और काव्य-साहित्य पर उनकी स्पष्ट छाप है। वैज्ञानिक होने या विज्ञान का प्रभाव पड़ने से पाश्चात्य पण्डितों ने वस्तु का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण करने में कमाल का काम किया है। प्राच्य मनीषियों ने रसतत्त्व की जैसी व्याख्या की है, उसके भीतर काव्योपयोगी वस्तुतत्त्व का सर्वाङ्गपूर्ण सन्निवेश हो गया है। युगधर्मानुसार सभी अपने अपने स्थान पर ठीक हैं। हिन्दी-साहित्य-विवेचना पर प्राचीन खण्डनमण्डनात्मक तथा तुलनात्मक आलोचना-प्रणाली का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

पाश्चात्य पद्धति ने वर्णनीय विषय की विवेचना की ओर अवश्य अधिक प्रयास किया है। वर्णनीय दैशिक, कालिक, मानसिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों से किस प्रकार नियन्त्रित या अभिभूत होता है, इसकी ओर अवश्य ध्यान दिया है। पर यह विषय भी प्राच्य पद्धति में उपेक्षित नहीं है। उसके निरूपण में चाहे कितना ही अन्तर हो।

प्राचीन प्रणाली पर आधुनिकों के जो आक्षेप हैं उनमें से कुछ ये हैं— (१) कवि की काव्यप्रतिभा के भावन और अनुधावन का अभाव। (२) काव्य में आत्मप्रकाशशील कवि-हृदय को न पकड़ पाने से रसास्वादन में अपूर्णता। (३) शीलवैचित्र्यमय तथा संघर्षान्दोलित जटिल-कुटिल वा सहज-सरल चरित्र का मनोनिवेशपूर्वक अध्ययनाभाव। (४) रस-विशेष की अभिव्यञ्जना की प्रभविष्णुता और असमर्थता के कलात्मक विवेचन का अभाव। (५) रचनाकार की मानसिक स्थिति का अज्ञान। (६) काव्य का सामाजिक जीवन पर प्रभाव और उसकी प्रतिक्रिया का अज्ञान। (७) काव्य-नाटक के लक्षण या स्वरूप-निर्देश में अवांछनीय संकीर्णता। (८) पाश्चात्यों के द्वारा की गयी कालिदास, भवभूति आदि की काव्यकला की विवेचना में तुलना में प्राच्य विवेचना की हीनता। (९) अखण्ड दृष्टि और समग्र रूप से रस की अनुपलब्धि (१०) समालोचना का निदर्शन जैसे—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥ इत्यादि

प्राचीन आचार्य इन आक्षेपों के लक्ष्य नहीं हो सकते। काव्य के तात्कालिक आदर्श, उद्देश्य आदि भिन्न थे। महाकवियों की काव्य-साधना के स्वरूप भिन्न थे। वे जीवन और समाज को निरपेक्ष भाव से देखते थे। समाज पर उनकी रचना की क्या प्रतिक्रिया होती है, इसकी वे चिन्ता ही नहीं करते थे। क्योंकि उनकी साधना सर्वतोभावेन सार्वजनीन और सर्वतोभद्र होती

थी। समाज उनसे लाभान्वित होता था। वे संयमी थे, आस्थावान थे और थे प्रवर्तित चक्र के सच्चे अनुवर्तक तथा निसर्ग और संस्कार, दोनों से पूत। यही कारण है कि उनकी रचना विश्वकेवरेण्य हुई है। वे भारत का मस्तक उन्नत करने वाले थे। आज की सी अस्तव्यस्त रचना पहले होती भी नहीं थी, जिसमें इन ऊपरी बातों की ओर दृष्टि डालने का अवसर आता। पाश्चात्यों ने कालिदास और भवभूति को जो कुछ समझा वह अन्य संस्कार से नियन्त्रित, अतएव तल-स्पर्श से अनभिज्ञ मुग्ध दृष्टि के द्वारा। इन महाकवियों की कृतितरङ्गिणी में उन्हें भी अवश्य ही अनुकूल वेदनीय दो चार विन्दु मिल गये हैं। पाश्चात्य प्रभाव से अभिभूत यह युग सोई शक्ति को जगाना चाहता है। किन्तु किस प्रबोधन-प्रकार से देश जागेगा, इसका यथार्थ ज्ञान यद्यपि उसे अभी नहीं हुआ है। प्रतिदिन नये नये अनुभव करना चाहता है। अब किसी के लिये उससे दूर रहना संभव नहीं।

पाश्चात्य साहित्य में समालोचना के प्रायः पाँच भेद मुख्यतः दृष्टिगोचर होते हैं। वे ये हैं—(१) निगमनात्मक समीक्षा (Deductive criticism). इसके अनुयायी साहित्य की परिवर्तनशीलता में विश्वास नहीं करते (२) विवेचनात्मक समीक्षा (Inductive criticism). इसके समर्थक साहित्य की गतिशीलता पर विश्वास करते हैं। (३) प्रभावात्मक समीक्षा (Impressionist criticism). इस मतवाले इस बात का विचार करते है कि हमारे जीवन पर उसका कैसा प्रभाव पड़ता है। (४) निर्द्धारणात्मक समीक्षा (Appreciative criticism). इसके विश्वासी 'कला कला के लिये' इस सिद्धान्त के समर्थक हैं और (५) सौन्दर्यदर्शनात्मक समीक्षा (Asthetic criticism). इसके अनुमोदक सौन्दर्यतत्व के अनुसार साहित्य के श्रेष्ठत्व की व्याख्या करते हैं।

कोई इसके चार भेद मानते हैं। दो ऊपर के विवेचनात्मक और प्रभावात्मक और दो नये—निर्णयात्मक (Judicial) और तुलनात्मक (Comparative)। कोई वस्तुवादी (Objective) और आत्मलक्षी (Subjective) इन दो भेदों में ही समालोचना के उक्त भेदों को गतार्थ कर देते हैं। अन्य भी इसमें कितने मतमतान्तर हैं और आलोचना के विभिन्न अर्थ किये जाते हैं।

काव्यमीमांसा के चौथे अध्याय में जो भावक के भेद किये गये हैं उनसे समालोचना का एक रूप खड़ा हो जाता है। इससे हम कह सकते हैं कि प्राचीन आचार्यों की भी दृष्टि समालोचना के सत्स्वरूप की ओर थी। **राजशेखर** का कथन है कि **तत्त्वाभिनिवेशी भावक वा समालोचक**

बड़ा ही दुर्लभ है जो किसी-कसी कृतिकार को सौभाग्य से प्राप्त होजाता है। ऐसा भावक शब्दगुम्फन का अर्थात् काव्य के कला-पक्ष का विवेचक तो होता ही है रस की तह में भी पहुँच जाता है अर्थात् हृदयपक्ष का साक्षात्कार भी करता है[१]। पाश्चात्य समालोचक भी साहित्य-समालोचक के सम्बन्ध में कुछ ऐसे ही भाव रखते हैं।

हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि समालोचना के रूप-परिवर्तन से हिन्दीसाहित्य को लाभ हुआ है, पर इसका कोई रूप अभी स्थिर नहीं हो सका है। माने हुए समालोचक **शुक्लजी** का कथन है कि "**समालोचना** के सम्बन्ध में हमें इतना ही कहना है कि इधर शुद्ध समालोचनायें कम और भावात्मक समालोचनायें (Impressionist criticism) बहुत अधिक देखने में आती हैं जिनमें कवियों की विशेषतायें हमारे सामने उतनी नहीं आतीं जितनी आलोचकों की अपनी भावनाओं की अलंकृत छटा।......हमें पूरा विश्वास है कि शुद्ध समालोचना की ओर अधिक ध्यान जायगा।......हम योरप में हर एक उठी हुई बात की ओर लपकना छोड़ दें; समझ-बूझ कर उन्हीं बातों को ग्रहण करें जिनका कुछ स्थायी मूल्य हो, जो हमारी परिस्थिति के अनुकूल हो।"

बात सोलहो आने ठीक है। शुक्लजी ने जैसी समालोचना का समर्थन किया है अवश्य उसका प्रयोग भी करते होंगे। पर देखिये कि **जैनेन्द्रजी** क्या कहते हैं "**शुक्लजी** ने कुछ इसी तरह की भूलें की हैं। तुलसी को जो भीतर तक भीगे हुए निपट भक्त थे, शुक्लजी ने नाना बनाव में देख दिखा दिया है।...... कवि की आन्तरिकता को शुक्लजी अपने अन्तर में अनुभव न कर सके। उनका रुख वस्तुवादी (Objective) रहा आत्मलक्षी (Subjective) नहीं। इससे तुलसी के वाह्य रूप को प्रकाण्ड पाण्डित्य से वह बाँध सके पर उनके

---

१ शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभिः।
सांद्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः॥
पुण्यैः संघटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यतां।
केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः॥ **काव्यमीमांसा**

विवेकी समालोचक न मिलने से भीतर ही भीतर घुलते और मुर्झाते कुछ कलाकारों के भाग्य से कदाचित् ही कोई ऐसा पारखी और परिश्रमज्ञ भावक निकल आता है जो उनके शब्दगुम्फन की बारीकियों में से एक एक को समझता है, उनकी सुन्दर उक्तियों पर रीझता है, उनके तात्पर्य की भाव-भंगी या लोच-लचक को ढूँढ़ निकालता है और उनके गाढ़े रसामृत का जी खोल कर स्वाद लेता है।

अन्तरङ्ग की झाँकी भी क्या ले दे सके।" शुक्लजी तुलसी की आन्तरिकता का अनुभव न कर सके, यह कहना अतिवाद है।

अन्तिम निवेदन

पुनः यहाँ हम यह कह देना चाहते हैं कि शास्त्रीय नियमों का केवल यही लक्ष्य है कि काव्यवस्तु का प्रशस्तरूप से प्रतिपादन किया जाय न कि नियम-पालन के लिये किसी कलाकार को बंधन में डालकर विवश किया जाय। एक प्रसङ्ग पर ध्वनिकार कहते हैं कि [2]पाँच प्रकार की सन्धि ([3]एक प्रयोजन में अन्वित अर्थों के अवान्तर सम्बन्ध) और सन्धि के चौंसठ प्रकार के अङ्गों की योजना रसाभिव्यक्ति के लिये ही होनी चाहिये न कि शास्त्रीय मर्यादा पालन करने के लिये। शास्त्रीय नियमों के कारण रसोचितता और रसानुगणता कथमपि उपेक्षणीय नहीं हैं। शास्त्रीय विधान का उद्देश्य यह नहीं है कि जो कुछ मन में आवे निमय-पालन के लिये लिख दिया जाय। काव्यालोक का शास्त्रीय पक्ष भी यही है।

उपसंहार

मेरा अभिप्राय यह है कि साहित्य की बदली हुई दुनियाँ में हम अपने साहित्य को बदलें पर ऐसा न बदलें कि वह पहचाना भी न जाय। संस्कृत-साहित्य की शिक्षा, स्वभावतः हमें उत्तराधिकार से प्राप्त है। अतः हम उसे छोड़ नहीं सकते। आलोक, प्रकाश, दर्पण से जो कुछ हमने सीखा है वह कथमपि त्याज्य नहीं। हाँ, उसीके आलोक में हम अन्य-देशीय आलोचना-पद्धतियों से उपादान संग्रह करके उनको भी अपनाते जायँ तो लाभ ही है। हमें इस परिवर्तन में अपनी संस्कृति को नहीं खो बैठना चाहिये; हमें अपने संयम, श्रद्धा और निष्ठा को भी अपने हाथ से न जाने देना चाहिये।

काव्य—साहित्य की संजीवनी शक्ति से लाभ उठाने के उद्देश्य से ही इस काव्यालोक के आलोक को प्रसारित करने की चेष्टा की गयी है, जिसके मर्मज्ञ सहृदय सुधी ही हो सकते हैं—

"मार्मिकः को मरन्दानामन्तरेण मधुव्रतम्"।

रामदहिन मिश्र

---

१ साहित्य-सन्देश 'शुक्लाङ्क' १९४१

२ सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया॥ ध्वन्यालोक

३ अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति। साहित्यदर्पण

वक्तव्य

चालीस बरस पहले की बात है जब कि मैं साहित्य की उपाधि परीक्षा दे रहा था। काव्यों की व्याख्याओं में 'व्यज्यते' 'ध्वन्यते' देख कर जिज्ञासु भाव से व्यञ्जना और ध्वनि पर विचार करता, लक्षण-ग्रन्थों के लक्षणों से उदाहरणों का समन्वय करता और ध्वनि-भेदों में उदाहरणों का अन्तर्भाव करता। परन्तु उपाधि-परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर भी व्यञ्जना आदि का जैसा बोध होना चाहिये वैसा न हो सका, उनके अन्तरङ्ग में न पैठ सका।

पढ़ने के समय से ही हिन्दी में कुछ-कुछ लिखते रहने की प्रवृत्ति के कारण विचार हुआ कि इस विषय पर हिन्दी में एक पुस्तक प्रस्तुत की जाय। किन्तु तत्काल कुछ न कर सका। अध्ययन की ओर ही अग्रसर होता रहा। लिखने के पूर्व इन विषयों के गहन ज्ञान की आवश्यकता भी तो थी!

जब जीविकोपार्जन में लगा तब रुचि बदल गयी। 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में समालोचनात्मक और साहित्यिक निबन्ध लिखने के साथ साथ "सत्साहित्य-ग्रन्थमाला" का संपादन और प्रकाशन भी आरम्भ कर दिया। इसी ग्रन्थमाला में उस समय अपनी 'साहित्य-परिचय' और 'साहित्यालङ्कार' नामक दो छोटी छोटी पुस्तकें प्रकाशित कीं। इस ओर यह मेरा आरम्भिक प्रयत्न था। पर जब "सुबोध-ग्रन्थमाला" के नाम से विविध विषयों की स्कूली पुस्तकें लिखने लगा तब "मेघदूत-विमर्श" के बाद साहित्यिक पुस्तकों के लिखने का कार्य शिथिल सा हो गया। तथापि अभीष्ट विषय पर पुस्तक लिखने का संकल्प बराबर बना रहा। किन्तु प्रकाशन-व्यवसाय की वृद्धि ने इधर प्रवृत्त होने का अवसर ही न दिया। इसीमें वर्षों व्यतीत हो गये।

इधर अवस्था ने जब करवट ली, शारीरिक शक्ति ने व्यावसायिक कार्य-भार से मुँह मोड़ना प्रारम्भ किया तब उस संकल्प को पूरा करने का अवसर आया। इतने वर्षों में संसार संसरण करता गया, दुनिया बदलती गयी। साहित्यिक संसार ने भी कई करवटें लीं। विचारों में भी उथल-पुथल होती गयी। उस समय कैसा और क्या लिखा जाता, इस समय कौन बता सकता है।

पुस्तक आरम्भ के पूर्व यह विचार था कि संस्कृत-पुस्तकों का ही आशय लेकर हिन्दी में एक पुस्तक लिख दी जाय और उसीके अनूदित उदाहरण दे दिये जाँय। पर इस कार्य से वह लाभ संभव नहीं था जो जिज्ञासुओं के लिये आवश्यक था। एक दो ऐसी पुस्तकों के रहते इस अनुवादात्मक कार्य से हमें सन्तोष नहीं था। अतः स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना का विचार ही प्रबल रहा।

इधर हिन्दी-साहित्य में विदेशी संसर्ग से विचारों में ज्वार-भाटा सा आ गया। नये कलाकार प्राचीन आचार्यों और पुराने कलाकारों पर कीचड़ उछालते हुए वादों के दलदल में दौड़ लगाने लगे। इतने ही से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। वे संस्कृत-साहित्य के लक्षण-ग्रन्थों को लीपपोत कर बराबर कर देना चाहते हैं। उनके मनमाने शास्त्र-विरुद्ध प्रयत्नों में पहाड़ की सी भूलें दीख रही हैं। इनके निराकरण का लक्ष्य भी समक्ष में रहा।

संस्कृत-साहित्य ने हिन्दी के कई आचार्यों को जन्म दिया है। यदि ये महानुभाव नये कलाकार उनके ही ग्रन्थ पढ़ लेते तो उनसे ऐसी भद्दी भद्दी भूलें न होतीं। आजकल संस्कृत के ज्ञानलव से दुर्विदग्ध, पुराने हिन्दी काव्य-शास्त्र के निन्दक, अंग्रेजी के प्रभाव से प्रभावित और नये समालोचना-संसार में विचरने वाले ये विचित्र जीव अपनी अहम्मन्यता से साहित्य में स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने को इच्छुक होते दिखायी पड़ते हैं। अस्तु।

प्रारम्भ के समय यही निश्चय रहा कि ग्रन्थ की रचना ऐसी होनी चाहिये कि जिसमें संस्कृत-साहित्य के अर्थ-विचार का, विशिष्ट शास्त्रार्थ के अंश को छोड़ कर, पूर्ण समावेश हो जाय। कठिन स्थलों को खूब प्राञ्जल करके समझाया जाय; संस्कृत और हिन्दी के मान्य ग्रन्थों में जिन मुख्य भेदों के उदाहरण न दिये गये हों, दिये जाँय और उसमें नवीन विचारों का भी कुछ प्रवेश कराया जाय।

नवीन दृष्टिकोण को लेकर अर्थ-विचार (साहित्य में यही विषय सबसे कठिन है) पर एक ही पुस्तक लिखना अभीष्ट था। किन्तु सहृदय मित्रों का आग्रह हुआ कि साहित्य-शास्त्र सर्वाङ्ग-पूर्ण लिखा जाना चाहिये। अतः वह काव्यालोक के पाँच उद्योतों—१ काव्य-साहित्य, २ अर्थ-विचार, ३ रस-रीति और गुण-दोष, ४ श्रव्य-

दृश्य-काव्य और ५ अलंकार—में विभक्त कर दिया गया। रसविवेचन बड़ा हुआ तो यह एक और पृथक् उद्योत हो जायगा।

काव्यालोक का यह "द्वितीय उद्योत" है। इस उद्योत का प्रथम प्रसार अभिधा है। उसमें कई विषयों की नयी दिशाओं की ओर इंगित किया गया है। यदि साहित्यिक थोड़ा भी ध्यान दें तो वे यथार्थ अभिधेयार्थ के प्रयोग कर सकते हैं। वे यह कह सकते हैं कि 'मौलिक' आदि शब्दों के स्थान पर 'उपज्ञात' आदि शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता और न उनसे सहज हो अर्थ-बोध हो सकता है। ठीक है। पर हम तो कहेंगे कि अज्ञता-वश अयथार्थ शब्द को रूढ़ बनाना साहित्य में श्रेयस्कर नहीं है।

द्वितीय प्रसार लक्षणा का है। पाश्चात्य साहित्य ने अपना प्रभाव डाल कर हिन्दी काव्य में लक्षणा के अपूर्व चमत्कार पैदा कर दिये हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रतिभाशाली कवि भी ऐसे लाक्षणिक प्रयोग करने लगे हैं कि उनका वाच्यार्थ से सम्बन्ध बैठाना असंभव सा हो गया है। लक्षणा का वाच्यार्थ-सम्बन्ध मुख्य उपादान है। अभिव्यञ्जकों को इस पर ध्यान रखना आवश्यक है। इससे लक्षणा को समझाने के लिये गद्य में और पद्य में, विविध प्रकारों को अपनाया गया है।

तृतीय प्रसार व्यञ्जना का और चतुर्थ ध्वनि का है। इनकी स्पष्टता के लिये कोई प्रयत्न बाकी नहीं छोड़ा गया है।

ध्वनि का प्रधान विषय रस है। जब तक रस के वास्तविक रहस्य का मर्मोद्घाटन नहीं होता तब तक ध्वनि का समझना सहज नहीं। अतः तृतीय उद्योत के विषय 'रस' का भी संक्षेपतः इस उद्योत मे वर्णन कर दिया गया है।

ध्वनि-व्यञ्जना के सम्बन्ध में नवीनों की विचित्र धारणा है। यत्र तत्र अन्यार्थक व्यञ्जना शब्द का नया प्रयोग करना अपने अज्ञान का परिचय देना है। ध्वनि-व्यञ्जना पर देशी या विदेशी नाम से कोई भिन्न भिन्न छाप नहीं है। वह सदा सर्वत्र एकरूप और एक-फल है। प्रकार-भेद में भले ही मतभेद हो।

सामयिक दृष्टि से इन तीनों अर्थ-शक्तियों की जो समीक्षा है वह साहित्यिक अर्थ-बोध में यथेष्ट साहाय्य देगी। अर्थ-विषय जितना जटिल और गहन है उतना ही सरल और सुबोध बनाने की विशेष चेष्टा की गयी है।

पुस्तक में प्रतिपाद्य विषयों के सभी लक्षण सरल गद्य में लिखे गये हैं। उदाहृत कठिन पद्यों का स्पष्ट अर्थ दे दिया गया है। फिर उदाहरणों में लक्षणों का समन्वय करने के लिये गद्य में ही पद्य की साहित्यिक व्याख्या कर दी गयी है। इस व्याख्या ने लक्षणो-दाहरणों को तो सुबोध बना ही दिया है, अन्यान्य उदाहरणों को हृदयङ्गम करने का पथ भी प्रशस्त कर दिया है। बहुत से विषय जो एकाकार प्रतीत होते हैं उनके पृथक् पृथक् वैशिष्ट्य को निर्दिष्ट करके स्पष्ट रूप से समझा दिया गया है।

इनके आधार संस्कृत के आकर ग्रन्थ हैं। वर्णित विषयों पर आचार्यों का बड़ा मतभेद है; व्याख्या, खण्डन-मण्डन, शास्त्रार्थ का अन्त नहीं। इनको हिन्दी में लाना अनावश्यक समझ छोड़ दिया गया है, पर विषयों का शुद्ध रूप से प्रतिपादन किया गया है जो जिज्ञासुओं की जिज्ञासा को परितुष्ट कर सकता है।

इस पुस्तक मे जो उदाहरण हैं, वे क्या प्राचीन हों, क्या नवीन, सभी प्रसिद्ध महानुभाव कवियों और लेखकों के हैं जिनका नामोल्लेख साथ ही साथ कर दिया गया है। कहीं कहीं उनके ग्रन्थों के नाम ही आ गये हैं। दो चार पद्य प्राचीन और नवीन ऐसे हैं जो विना नाम के रह गये हैं पर वे ऐसे प्रसिद्ध हैं जिनमें कोई भ्रम नहीं हो सकता। नाम अज्ञात होने या उद्धरण के समय नाम लिखना भूल जाने के कारण अनेक उदाहरणों में केवल 'प्राचीन' लिख दिया है। बिना नाम के उदाहरण हमारे न समझे जाँय, इससे आवश्यकतावश जोड़ी हुई तुकबंदियों में 'राम' जोड़ दिया गया है। हमने ऐसी ही चेष्टा की है कि हिन्दी की स्वतंत्र रचना के ही उदाहरण प्राप्त हो जाँय पर वैसे उदाहरण न मिलने के कारण संस्कृत के कुछ श्लोकों का हमने अनुवाद करके दे दिया है और 'अनुवाद' लिख दिया है; आधुनिक काल में लाक्षणिक प्रबलता के कारण लक्षणा प्रकरण के उदाहरण प्रायः सब के सब नवीन कवियों के हैं। व्यञ्जना-वैशिष्ट्य दिखाने के लिये विशेषतः प्राचीन कवियों के ही पद्य उदाहरण में आये हैं। नवीन कवियों की प्रवृत्ति, व्यञ्जना, व्यञ्जना चिल्लाने पर भी उस व्यञ्जना की ओर नहीं है जो कविता का प्राण है। विषय की विशदता के लिये अधिकाधिक उदाहरण दिये गये हैं। उदाहरणों मे शृङ्गार रस के भी पद्य हैं जो साहित्यिकों को अरुचिकर

न होंगे। कुछ महानुभावों के उदाहरण दोषनिर्देश के लिये अभिधा-प्रकरण में उद्धृत हैं। उनके सम्बन्ध में हमारा कहना यह है कि हमने केवल दोषदर्शी होकर उनका उद्धरण नहीं किया है। वे मान्य कवि हैं और अन्यत्र दिये गये उनके उदाहरण इस ग्रन्थ के अलङ्कार-स्वरूप हैं। ऐसी आशंका तो नहीं, पर संभव है कि किसी किसी आलोचक को कोई कोई उदाहरण सटीक न मालूम हों। इस सम्बन्ध में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि उदाहरणों के अन्वेषण और समन्वय में 'यत्परो नास्ति' श्रम किया गया है।

हमारे यहाँ एक प्रवाद-वाक्य है—'जीवत्कवेराशयो न वर्णनीयः' अर्थात् जीवित कवियों के काव्यों का आशय नहीं वर्णन करना चाहिये। किन्तु ऐसा करने की हमने आवश्यकता समझी है। हम हृदय पर हाथ धरके कह सकते हैं कि हमसे अर्थानर्थकरी व्याख्या नहीं हुई है।

संस्कृत के आचार्यों ने लक्षणा और व्यञ्जना के जो मुख्य भेद गिनाये हैं उनके भी उदाहरण नहीं दिये हैं। हमने उन भेदों के भी उदाहरण देने की चेष्टा की है। यह हमारी धृष्टता ही है। कितनों का कहना है कि ये भेद चमत्कार-शून्य हैं, अकिञ्चित्कर हैं, एकस्वर हैं। पर आचार्यों के 'दिग्दर्शन मात्र करा दिया गया' 'आये ऐसा ही समझ लेना चाहिये' इत्यादि अभिप्राय वाले जो वाक्य हैं वे इसलिये ही हैं कि अन्यान्य उदाहरणों का भी अनुसन्धान किया जाय, उनकी उपेक्षा न की जाय। अतः इस ओर का हमारा प्रयास निष्फल नहीं कहा जायगा। यदि इनमें चमत्कार-शून्यता या अनवीनता हो तो भी इतना तो अवश्य ही है कि इन भेदों के अनेक उदाहरणों के लक्षण-समन्वय से ज्ञातव्य विषय तो अत्यन्त अभ्यस्त हो ही जायगा और पद्य-पाठ से भी अनुपम आनन्द उपलब्ध होगा।

इस ग्रन्थ के लिखने के पूर्व इस विषय पर अद्यावधि प्रकाशित प्राचीन 'काव्यनिर्णय' तथा 'व्यङ्ग्यार्थ-कौमुदी' और नवीन साहित्य-सिद्धान्त, काव्यकल्पद्रुम, काव्यप्रभाकर, व्यङ्ग्यार्थमञ्जूषा, काव्याङ्ग-कौमुदी, काव्यप्रदीप, काव्याङ्गचन्द्रिका, काव्यसर्वस्व आदि ग्रन्थों को देखने पर भी हम इस निर्णय पर पहुँचे कि हमारा जो उद्देश्य है उसकी पूर्ति के लिये नये ग्रन्थ का निर्माण आवश्यक है।

हम हिन्दी के आचार्य या आचार्यायमाण ग्रन्थकारों के ग्रन्थों के

खण्डन-मण्डन या गुणदोष-विवेचन के विशेष पक्षपाती नहीं हैं। कारण यह कि प्राचीन आचार्यों ने संस्कृत के आकर ग्रन्थों को जहाँ तक समझा, लिखा। वे इसके लिये प्रशंसार्ह हैं। उन्होंने 'ना' से 'हाँ' तो किया; शून्य से अङ्क की अवतारणा तो की। उनके लिये 'भारवि' का यह पद्य कहा जा सकता है—

विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः॥

इनकी समालोचनात्मक चर्चा करके अपने ग्रन्थ का महत्त्व बढ़ाना नहीं चाहते और न इस ग्रन्थ के विशिष्ट विषयों का निर्देश करके इसकी विशेषता ही बताना चाहते हैं। इसकी अन्वर्थता का अनुभव साहित्य-रस-रसिक करेंगे, हमारे कहने से नहीं, अपने मन से।

नहि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते।

हाँ, हम उनका अवश्य विरोधात्मक समालोचना करेंगे जो अनधिकारी होते हुए 'अहंवाद' से अधिकारी बनकर अर्थ का अनर्थ करते हैं और अपनी अज्ञता के कारण शास्त्रीय मर्यादा का अनावश्यक उल्लंघन करते हैं।

हम अपने संस्कृत के आचार्यों के, जिनकी सूची दी गयी है, उनके व्याख्याकारों के ऋणी तो हैं ही और उन हिन्दी, बँगला, अंग्रेजी के ग्रन्थकारों के और विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के भी आभारी हैं जिनके अवलोकन से किसी न किसी रूप में साहाय्य प्राप्त हुआ है। आरंभ में कुछ समय तक श्री उपेन्द्रनाथ शास्त्री 'ठाकुर' और श्री हवलदार त्रिपाठी साहित्याचार्य 'सहृदय' ने हमारे साथ कुछ काम किया है जिन्हें धन्यवाद देते हैं। सब से बढ़कर हम कृतज्ञ हैं अपने सहपाठी और अभिन्नहृदय मित्र आचार्य पण्डित केशवप्रसाद मिश्र, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, हिन्दू-विश्वविद्यालय काशी के, जिन्होंने पुस्तक की पाण्डुलिपि को श्रम, ममता और मनोयोग के साथ पढ़कर और आमुख लिखकर पुस्तक का गौरव बढ़ाया है। उन्होंने 'हिन्दी प्रेमी' के नाम से कुछ नये उदाहरण भी बना दिये हैं और एक दो अलभ्य उदाहरण भी दिये हैं। परिशिष्ट के लिये डाक्टरसाहब के कृतज्ञ हैं।

हमने बरसों रातदिन स्वास्थ्य खोकर जो श्रम किया है, विश्वास है, सहृदय विद्वान उसकी कदर करेंगे। अनुक्रमणिका देने का विचार

इस बार स्थगित रहा। संस्करणान्तर में, यदि समय आया, तो अनुक्रमणिका जोड़ दी जायगी। हम जिस न्यूनता और त्रुटियों को समझते हैं उन्हें भी दूर करने की चेष्टा करेंगे। सहकारी के अभाव से, यहाँ तक कि समझदार शुद्ध प्रतिलिपिकार के न मिलने से इसके प्रकाशन में कुछ विलम्ब हुआ। आगे भी यदि कागज दुर्लभ न हुआ तो यथासंभव शीघ्र संपूर्ण ग्रंथ के प्रकाशन की चेष्टा की जायगी।

शुद्धिपत्र कोई पढ़ता नहीं। अत: उसका देना न देना बराबर है। फिर भी इसकी विडंबना की गयी है। वे ऐसी अशुद्धियाँ हैं जो पाठकों को सहज ही प्रतीत हो जायँगी। ६४ वें पृष्ठ में 'शुद्धा' भेद के सारोपा और साध्यवसाना के ऊपर एक रेखा छूट गयी है। उसके रहने से यह बोध होता कि उपादान और लक्षण, दोनों के ही ये भेद होते हैं। इस प्रकार की अन्य विषयाशुद्धि अभी दृष्टिगोचर नहीं हुई है। एक दो जगह नाम में त्रुटियाँ रह गयी हैं, जैसे कि २३ वें पृष्ठ में 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' की जगह 'काव्य में रहस्यवाद' और १९१ वें पृष्ठ में 'केशव' की जगह 'तुलसी' हो गया है। ग्रन्थारम्भ में भूमिका वक्तव्य आदि शुद्धिपत्र के बाद छपे हैं। संभव है, इनमें भी कुछ प्रूफ की अशुद्धियाँ रह गयी हों। यह सब हमारी असावधानता, असहायता और इस उद्योत को यथाशीघ्र प्रकाशित करने की अधीरता का परिणाम है। इसका हमें दु:ख है।

अर्थ का विषय बड़ा दुरूह है। इसके प्रतिपादक वैयाकरण, नैयायिक, साहित्यिक और मीमांसक हैं। इनमें बड़ा मतभेद है। इससे आलोच्य विषय बड़ा ही शास्त्रीयविवादपूर्ण है। हमारा प्रयत्न संक्षेप में सरलता से वस्तु को स्पष्ट करने का है। अतएव, संभव है, कुछ त्रुटियाँ हों। इनके तथा अन्यान्य त्रुटियों के निर्देश का हम सादर स्वागत करेंगे। तबतक के लिये परगुणपरमाणु को पर्वताकार बनाकर हृदय में विकसित होनेवाले सहृदय सज्जनों से निम्नलिखित सूक्ति में यही नम्र निवेदन है—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

रामदहिन मिश्र

नवंबर १९४४]

ध्वनि-व्यंग्य-प्रशस्तिः

एकावयवसंस्थेन भूषणेनेव कामिनी ।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती ॥ **ध्वन्यालोक**

ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना ।
आनन्दवर्द्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः ॥ **राजशेखर**

साहित्य-विद्या जयघण्टयैव संवेदयन्ते कवयो यशांसि ।
यथा यथास्यां ध्वनिरुज्जिहीते तथा तथा सार्हति मूल्यवेदान् ॥
यावत्कवेर्मार्दवमुक्तिबन्धे यावद्धियः श्रोतरि कोमलत्वम् ।
तावत् ध्वनौ तद्व्यतिभेदमूले तारत्वमालंकृतिका वदन्ति ॥
अस्मिन्महत्यस्तमितान्यवेद्ये विसृत्वरे वीचितरङ्गरीत्या ।
काव्यध्वनौ जाग्रति देहभाजां कर्णं विशेयुः कथमन्यशब्दाः ॥
विद्वत्प्रियं व्यंग्यपथं व्यतीत्य शब्दार्थचित्रेषु कलाविलासात् ।
प्राप्तोऽनुरागो निगमाननुपेक्ष्य भाषाप्रबन्धेष्विव पामराणाम् ॥
शिवलीलार्णव

अन्तर्गूढानर्थानव्यञ्जयतः प्रसादरहितस्य ।
सन्दर्भस्य नदस्य च न रसः प्रीत्यै रसज्ञानाम् ॥
आन्तरमिव बहिरिव हि व्यञ्जयितुं रसमशेषतः सततम् ।
असती सत्कविसूक्तिः काचघटीति त्रयं वेद ॥
गुम्फः पङ्कजकुड्मलद्युतिरुरस्तत्केसरोल्लासवा—
नर्थो ऽप्यन्तरसौरभप्रतिनिभं व्यंग्यं चमत्कारि यत् ।
द्वित्रैर्यद्रसिकैश्चिरं सहृदयैर्भृङ्गैरिवास्वाद्यते
तत्काव्यं न पुनः प्रमत्तकुकवेर्यत्किञ्चिदुज्जल्पितम् ॥
सुभाषितरत्नभाण्डागार

बिनही सिखाये सब सीखि हैं सुमति जो पै
सरस अनूप रसरूप या मैं धुनि है । **सेनापति**

आमुख

शब्द स्रष्टा का कंठ फोड़कर बाहर आया कि अर्थ ने उसकी अधीनता मान ली। कारण? शब्द शक्त है, अर्थ अशक्त। शब्द अनादि अनन्त ब्रह्म है, अर्थ उसका अतात्विक—झूठ-मूठ का—रूपान्तर। शब्द ब्रह्म एक है। भ्रमर का गुंजार, कोकिल का पञ्चमालाप, काक का कटु रटित, गजराज का महाबृंहित, सिंह का गर्जित, गाय का रम्भित, तुरंग का हेषित, रासभ का उन्नदित, मानव का गदित सब समान है। महादेव नटराज शब्द ने यह न्यारी-न्यारी भूमिका ग्रहण की है। इन सबके मन की बात हमें भली भाँति ज्ञात हो जाती; पर इस यातुधान अर्थ और यक्षराज ज्ञान ने अपने अभ्यास से, अपनी धोखे की टट्टी से ब्रह्म को इस प्रकार आवृत कर रक्खा है कि हम अपने बन्धुभूत प्राणियों की बोली तक नहीं समझ पाते। आज इस धोखे की टट्टी को हटा दीजिए, आज ही सबके मन की जान लीजिए।

शब्द अग्नि के समान भुवन में प्रविष्ट है, आकाश के समान विभु है। किसी आकाश-देश को प्रयोग से अभिज्वलित कीजिए, कान लगा के सुनिए, बुद्धि से समझिए, अर्थ हाँथ बाँधे खड़ा है।

शब्द अमृत है। अर्थ मृत्यु है। जाने कितने मनुष्य मर मिटे; पर मनुष्य अमर है और अमर रहेगा। किसकी अमरता से? शब्द की।

शब्द कमल है सरोवर में विकसित अष्टदल, शतदल, सहस्रदल मकरन्द-विन्दुनन्दित परागरागरंजित मिलिन्दवृन्दवन्दित अर्थ भी कमल है। अर्थ ने अपना नाम-गोत्र बदलकर शब्द ही का नाम-गोत्र ग्रहण किया है। "साह ही को गोत गोत होत है गुलाम को।"

शब्द मौन रहकर भी वावदूक है, अर्थ पुकारने पर भी मूक है।

शब्द ब्रह्मा नहीं, अतिब्रह्मा है। ब्रह्मा ने अपनी सृष्टि में शशक के शृङ्ग नहीं बनाये, शशशृङ्ग शब्द ने पलक मारते चुपके से उसके सिर पर दो उगा दिये! इसकी सत्यता तनुक आँखें बन्द कर मन से पूछिए। मन भी बिना शब्द की कृपा के अपना मत नहीं बता सकता! ऐसी है शब्द की महिमा! कोई मत या विचार शब्दयोनि में अवतार लिये बिना अपनी सत्ता तक नहीं रख सकता।

इस विज्ञाननन्दन युग में ईश्वर कब का मर चुका होता, यदि शब्द उसे जीवित न रखता। नाम लेने पर जिस नामी का रूप सामने नहीं आता, उसका जीवन शब्द ही के अधीन है। शब्द साक्षात् वासुदेव है, वह प्रत्येक वशंवद अर्थ को अपने शरण में ले लेता है। अर्थ हथेली पर हो, शब्द जब तक आकाश से आकर उसका परिचय न दे, वह तीन कौड़ी का है। नाम से नामी वैसे ही प्रकट हो जाता है जैसे हीरे की ज्योति से उसका मूल्य।

धर्म के अर्थों ने कितने रूप बदले, कितने उपद्रव खड़े किये, कितनी उथल-पुथल मचवायी, कितना रक्तपात कराया; पर धर्म ने सबकी लाज रक्खी—सब का कलंक धो डाला।

इन भूतों का रस पृथिवी है, पृथिवी का रस जल है, जल का रस औषधियाँ, औषधियों का रस पुरुष और पुरुष का रस शब्दमयी वाक् है। शब्दरहित पुरुष नीरस है, सूखा है। शब्दसहित पुरुष सरस है, भींगा है। कवियों ने अपने हृदय का रस सहृदयों के हृदय तक पहुँचाने में शब्दों को ही वाहन बनाया है। शरीर की स्रोतोवहा नाड़ियों के समान सम्यग् ज्ञात सुप्रयुक्त शब्द ही अपनी रसवहा सूक्तियों से सिक्तकर भावनिधि मानव-हृदय को आप्यायित, उच्छ्वसित, अनुप्राणित और जीवित रखते आये हैं, और रखते रहेंगे। नन्हा सा 'हाँ' पीयूष की वर्षा करता, छोटा-सा 'ना' समस्त आशाओं पर पानी फेर देता है। शब्द मन्त्र है, जो उच्चारित होते ही अपना प्रभाव दिखलाता है, अर्थ की प्रतीक्षा नहीं करता। शब्द अमृतायमान सोमरस है, अर्थ उसका ऋजीष अर्थात् सीठी है। इस सोमरस को पीकर हम मर्त्य से अमृत हो चुके हैं। ऋजीष ? वह तो पशुओं का भागधेय है। इसी लिए तो वे मूक हैं। अतः हे सुधीवृन्द ! शब्द ब्रह्म में निष्णात होकर परब्रह्म का अधिगम करो।

मेरे चिरमित्र पं० रामदहिनजी मिश्र ने अपने 'काव्यालोक' में न शब्द की महिमा जानकर केवल शब्द ही का गुणगान किया है, और न अर्थ की वकालत से आकर्षित होकर अर्थ ही से अर्थ रक्खा है। उन्होंने अपनी विचार-तुला पर दोनों को बावन तोला पाव रत्ती तौलकर दोनों का यथा-तथ्य मूल्य निर्धारित किया है। इस निर्धारण में जितना अनुसंधान, जितना विश्लेषण, जितनी विवेचना उन्होंने की है, वह अन्यत्र नहीं देखी गयी। शब्दशक्तियों के ऊहापोह द्वारा पल्लवित किये गये समस्त भेदोपभेदों के विशकलित और अव्यामिश्र उदाहरण संचित कर देना उनका विशिष्ट कृतित्व है। एक उपयुक्त उदाहरण की गवेषणा में अनेक अहोरात्र व्यतीत हो जाने पर भी धैर्य न छोड़ना उनका स्वाभाविक गुण है। इस प्रकार विद्या, विवेक, विज्ञान, धृति, तत्परता और क्रिया से संपादित यह कृति अवश्य अपने अधिकारियों का उपकार करेगी, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है।

आज के जो समालोचक इस प्रकार की कृतियों को अन्यथासिद्ध या अनुपयोगी समझते हैं, वे या तो पर कटाकर आकाश में उड़ना चाहते हैं या घोर अन्धकार में चल लक्ष्य बेधने का डौल बाँधते हैं। भला शब्द और अर्थ की सूक्ष्म परीक्षा से पराङ्मुख ऐसा कौन चतुर होगा जो शब्दार्थमय कवि-कर्म के अन्तःकरण में प्रवेश पाने का इच्छुक हो !

यह ग्रन्थ केवल हिन्दीवालों के लिए ही उपकारक नहीं है, इससे उच्च कक्षा के संस्कृत-विद्यार्थियों का भी नेत्रोन्मीलन होगा, ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है।

काशी
१८-११-१९४४

केशवप्रसाद मिश्र

समर्पण

मातः भगवती देवि !
देवाचारपरायणे !
त्वत्स्वर्गतात्मनि प्रीत्या
'काव्यालोकः' समर्प्यते ॥

चन्द्रशून्यखनेत्राब्दे वैक्रमे मार्गशीर्षके ।
विश्वनाथप्रसादेन काश्यां ग्रन्थोऽयमङ्कितः ॥

❀ श्रीः ❀

का व्या लो क

द्वितीय उद्योत

प्रथम प्रसार

१ अभिधा

पहली किरण

शब्द और उसके भेद

काव्याचार्यों को किया, वाणी देवि, कृतार्थ ।
करो मुझे अब, है प्रणति, दे शब्दार्थ यथार्थ ।।

शब्द का शास्त्रों में अधिक महत्त्व है ।

[1]शब्द को विष्णु का अंश माना गया है ।

[2]एक शब्द का यदि सम्यग् ज्ञान हो जाय और उसका सुन्दर रूप से प्रयोग किया जाय तो वह शब्द लोक और परलोक, दोनों में अभिमत फल का दाता होता है ।

लोक में व्याख्याताओं तथा साहित्य-स्रष्टाओं का क्रान्तिकारी तथा अभिमत-फल-दायक प्रभाव अविदित नहीं है और शब्दमय शास्त्र का अनुशीलन भी परलोक में परम-पद-प्राप्ति के साधन-रूप में मान्य ही है ।

---

१ काव्यालापाश्च ये केचित् गीतकान्यखिलानि च ।
शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः ॥ **विष्णुपुराण**

२ एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति । **महाभाष्य**

[1]शब्द का धातुगत अर्थ आविष्कार करना है और शब्द करना भी।

[2]व्याकरणशास्त्र के अनुसार जिसका रूप निर्णीत हो वह शब्द है।

[3]लोक में पदार्थ की प्रतीति करानेवाली ध्वनि को शब्द कहते हैं।

कोषकार का कहना है—

[4]शास्त्र में जो वाचक है वही शब्द है।

[5]शब्द का अर्थ अक्षर, वाक्य, ध्वनि और श्रवण भी है।

इन्हीं ध्वनि और श्रवण के आशय को लेकर प्रायः हिन्दी के सभी वैयाकरणों ने शब्द का सीधा सा यह लक्षण बना लिया है कि 'जो सुन पड़े सो शब्द है'। पर यह यथार्थता का द्योतक नहीं है।

(क) श्रूयमाण होने से शब्द के दो भेद होते हैं—१ ध्वन्यात्मक और २ वर्णात्मक।

ध्वन्यात्मक शब्द वे हैं जो वीणा, मृदंग आदि वाद्ययन्त्रों, पशु-पक्षियों की बोलियों और आघात द्वारा उत्पन्न होते हैं। ध्वन्यात्मक शब्द वर्णों से यथार्थतः नहीं व्यक्त किये जा सकते। वे संगीत तथा आघात के विषय हैं। संगीत के संकेत पृथक् होते हैं। वर्णात्मक शब्द वे हैं जो वर्णों में स्पष्टतः बोले या लिखे जाते हैं।

(ख) प्रयोग-भेद से वर्णात्मक शब्द के दो भेद होते हैं—१ सार्थक और २ निरर्थक।

सार्थक शब्द वे हैं जो किसी वस्तु वा विषय के बोधक होते हैं। जैसे—राम, श्याम, सुन्दर, मधुर, सोना, सुगंध, पढ़ना, लिखना, सायं, प्रातः आदि। निरर्थक शब्द वे हैं जिनसे किसी विषय का ज्ञान नहीं होता। जैसे—पागल का प्रलाप, आँय बाँय आदि। सार्थक शब्द का, अर्थ-प्रतीति के लिये, प्रयोग होता है; निरर्थक शब्द का नहीं। कभी कभी व्यर्थता में इसका

---

१ शब्द आविष्कारे। शब्द शब्द करणे। **सिद्धान्तकौमुदी**

२ व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दः। **काव्यमीमांसा**

३ प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। **महाभाष्य**

४ शास्त्रे शब्दस्तु वाचकः। **अमर**

५ शब्दोऽक्षरे यशोगीत्योर्वाक्ये खे श्रवणे ध्वनौ। **हैम**

भी प्रयोग दीख पड़ता है। जैसे:—टाँय टाँय फिस। क्या अंट संट बकता है, इत्यादि।

(ग) श्रुति-भेद से सार्थक शब्द के दो भेद होते हैं—१ अनुकूल और २ प्रतिकूल।

ध्वन्यात्मक शब्दों में कुछ श्रुति-अनुकूल और कुछ श्रुति-प्रतिकूल होते हैं। वर्णात्मक शब्दों में भी ऐसा ही समझना चाहिये। काव्य में विशेषतः श्रुति-अनुकूल वर्णात्मक शब्द ही अपेक्षित हैं। ऐसे ही शब्दों से काव्य-कलेवर की कमनीयता बढ़ती है।

दूसरी किरण

पद और वाक्य

प्रयोगार्ह सार्थक शब्द को पद कहते हैं।

[1]किसी किसी का मत है—

शब्द और अर्थ दोनों मिलकर पद कहे जाते हैं।

इससे स्पष्ट है कि जब तक हम किसी शब्द का अर्थ नहीं जानते तब तक हमारे लिये वह पद नहीं है।

पद दो प्रकार के होते हैं—(१) नाम और (२) आख्यात। विशेष्य वा विशेषणवाचक पद को [2]नाम और क्रियावाचक पद को आख्यात कहते हैं। संस्कृत में सुबन्त और तिङन्त के नाम से भी ये प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त [3]उपसर्ग और निपात ये अन्य दो पद-भेद हैं। विभक्ति या परसर्ग-रहित शब्द को [4]प्रातिपदिक अर्थात् धातुभिन्न, प्रत्ययभिन्न सार्थक शब्द और विभक्ति या प्रत्यय-रहित धातु को प्रकृति कहते हैं।

---

१ व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दः निरुक्तनिघण्ट्वादिभिर्निर्दिष्टस्तदभिधेयोऽर्थः तौ पदम्। **काव्यमीमांसा**

२ भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि। **निरुक्त**

३ चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। **निरुक्त**

४ अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्। **अष्टाध्यायी**

प्रकृति में विभक्ति या प्रत्यय के योग से पद बनते हैं। प्रातिपदिक में प्रत्यय के योग से नाम और धातु में प्रत्यय के योग से आख्यात पद होते हैं। प्रायः सभी पद मूलभूत प्रकृति से उत्पन्न माने जाते हैं।

पद उद्देश्य भी होता है और विधेय भी।

जिस पद से सिद्ध वस्तु का कथन हो वह उद्देश्य और जिस पद से अपूर्व विधान हो वह विधेय है।

अभिप्राय यह कि जिसके विषय में वक्तव्य हो वह उद्देश्य और जो वक्तव्य हो वह विधेय है। जैसे—हे देव! तुम्ही माता हो, पिता हो, सखा हो, धन हो और हे देव! तुम्ही मेरे सब कुछ हो। यहाँ 'देव' जो पहले से सिद्ध अर्थात् वर्तमान है, उसमें मातृत्व, पितृत्व आदि 'अपूर्व' अर्थात् अवर्तमान का कथन करने से 'देव' उद्देश्य 'माता हो' आदि विधेय है।

[1]साहित्यकार पद का यह लक्षण मानते हैं।

उन वर्णों वा वर्णसमूह को पद कहते हैं जो प्रयोग करने के योग्य हों और अनन्वित किसी एक अर्थ के बोधक हों।

उदाहरण में 'घड़ा' और 'कपड़ा' लीजिये। घड़ा' में घ्, अ, ड्, आ चार वर्ण और 'कपड़ा' में क्, अ, प्, अ, ड्, आ छ वर्ण हैं।

'घड़ा' और 'कपड़ा' दोनों का स्वतन्त्र प्रयोग होता है, और वे अनन्वित अर्थात् स्वतन्त्र एक एक अर्थ के बोधक हैं। यहाँ 'अनन्वित' और 'एक' से अभिप्राय है, वाक्य के समान दूसरे पद के अर्थ से सम्बन्ध न रखना और वाक्यगत साकाङ्क्ष अनेक अर्थों का बोधक न होना। क, च, ट, त, प का प्रयोग भी नहीं होता और वे किसी एक अर्थ के बोधक भी नहीं हैं। इसीसे वे लक्ष्य नहीं।

जब 'क' का एक अर्थ मानकर प्रयोग होगा, तब वह पद हो जायगा। जैसे, कोई कहे कि 'आतपत्र' (छाता) लाओ। 'आतपत्र' का अर्थ होता है 'घाम से बचानेवाला'; किन्तु छाता केवल घाम से ही नहीं बचाता, पानी से भी बचाता है। 'क' का अर्थ जल भी है। अब 'आतपत्र' के स्थान में 'कातपत्र' कहें तो 'क' का प्रयोग पद के रूप में होगा।

---

१ वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः। **साहित्यदर्पण**

वाक्यनिर्माण के प्रधान उपादान हैं 'पद'। वाक्य द्वारा पूर्ण अर्थ का बोध होता है। जब हम किसी पूर्ण अर्थ को प्रकाशित करना चाहते हैं तब वाक्य का प्रयोग करते हैं। अर्थ और विन्यासक्रम पर दृष्टि रखते हुए कुछ पदों के संयोजन से वाक्य की सृष्टि होती है। प्रत्येक वाक्य मन के किसी पूर्ण अर्थ, अनुभूति या चिन्ता का बोधक होता है। इससे लक्षण हुआ—

[1]पूर्णार्थ-प्रकाशक पदसमूह को वाक्य कहते हैं।

कहीं कहीं केवल एक ही पद से वाक्य बन जाता है। जैसे, किसी विद्यार्थी को देखकर पूछा कि 'पुस्तक'? यहाँ पुस्तक शब्द का यह वाक्यार्थ होता है कि 'पुस्तक' क्यों नहीं लाये या छोड़ आये? अथवा 'पुस्तक' क्या हुई? इत्यादि। इसी प्रकार एक आख्यात पद से भी वाक्य होता है। जैसे, पकाओ, खाओ, आदि। ऐसे स्थलों में कहीं शब्दाध्याहार और कहीं अर्थाध्याहार से वाक्य की पूर्णता होती है।

[2]अनेक आचार्यों के मत से वाक्य का लक्षण होता है—

योग्यता, आकाङ्क्षा और आसत्ति से युक्त पदसमूह को वाक्य कहते हैं।

[3]उपयोग-भेद से अनुकूल-पद-घटित वाक्य के तीन भेद होते हैं—(१) प्रभुसम्मित, (२) सुहृत्सम्मित और (३) कान्तासम्मित।

(१) वेदादि वाक्य शब्द-प्रधान होने से प्रभुसम्मित हैं। अर्थात् वेद ने लिख दिया 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' उसमें हम 'सुवर्णगर्भः' नहीं कर सकते। अर्थात्, वेद की उक्तियों को राजाज्ञा के समान पालन करना पड़ता है। इसी पर से 'मेरे वचन को वेद-वाक्य मानो' इस वाग्धारा का निर्माण हुआ है। अर्थात्, मेरे कथन को सत्य समझो. उसमें कोई परिवर्तन असम्भव है। कहने का अभिप्राय यह कि हम वेद में न किसी प्रकार का शब्दपरिवर्तन कर सकते हैं और न तोड़-मरोड़ कर उससे मनमाना अर्थ ही निकाल सकते हैं।

१—पदसमूहो वाक्यमर्थसमाप्ताविति। **न्यायभाष्य**

२—वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः। **साहित्यदर्पण**

३—बहुत से विद्वान् इसको शब्दभेद के अन्तर्गत मानते हैं।

(२) पुराणादि अर्थ-प्रधान होने से सुहृत्सम्मित हैं। अर्थात् मित्र ने कहा कि अपना धर्म नहीं छोड़ना चाहिये। अपना धर्म न छोड़नेवाला कभी विपत्ति में नहीं पड़ता। इसी अर्थ को पुराणादि में कहा गया है कि—[1]अपने धर्म में मर जाना अच्छा है पर दूसरे का धर्म ग्रहण करना अच्छा नहीं। [2]सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आओ। इनमें शब्द भिन्न होने पर भी प्रायः अर्थ-भिन्नता नहीं है। पुराणादि मित्रवत् हिताहित का उद्बोधन मात्र कर देते हैं, आज्ञा नहीं देते।

(३) काव्य शब्दार्थोभय गुण से सम्पन्न तथा रसास्वाद से परिपूर्ण होने के कारण कान्तासम्मित है। कान्ता के समान काव्य के कोमल वचनों से कृत्याकृत्य का उपदेश और रसानुभव से अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है। इससे काव्य इन दोनों से विलक्षण है।[3]

कहने का अभिप्राय यह कि काव्य कान्ता के समान सुंदरता तथा सरसता से उपदेश देता है। जिस प्रकार कान्तायें अपने कुटिल कटाक्षों तथा हावभावों से गुरुजनाधीन अपने पतियों को बरबस वशीभूत कर लेती हैं उसी प्रकार काव्य सबको चाहे वे सुख से पले सुकुमारमति राजकुमार हों, अथवा खून-पसीना एक करने वाले श्रमजीवी कर्मकर हों, अपनी सरस-कोमल कान्त पदावली से मुग्ध-लुब्ध कर नीरस नीति का भी उपदेश गले के नीचे उतार देता है।

[4]उक्त प्रकार के वाक्यों का समूह महावाक्य कहलाता है।

१—स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ **गीता**

२—सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ॥ **गीता**

३—वेदः खलु शब्दप्राधान्यात्प्रभुसम्मितः, पुराणादिश्चार्थप्राधान्यात्सुहृत्सम्मितः शास्ति, काव्यं तु शब्दार्थयोर्गुणतया रसाङ्गभूतव्यापारप्रावण्यात्तद्विलक्षणमतः कान्तासम्मितं तदिति। **साहित्य कौमुदी**।

४—वाक्योच्चयो महावाक्यम्। **साहित्य दर्पण**।

तीसरी किरण

योग्यता, आकाङ्क्षा और आसत्ति

१ योग्यता

पदार्थों के परस्पर अन्वय में–सम्बन्ध स्थापित करने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति–अड़चन–का न होना योग्यता है। जैसे—

पीकर ठंढा पानी मैंने अपनी प्यास बुझायी।
पर पीकर मृगतृष्णा उसने अपनी तृषा मिटायी॥ **राम**

पानी से प्यास बुझती है। इससे पहली पंक्ति में योग्यता है। किन्तु 'मृगतृष्णा' से प्यास नहीं बुझती। इससे दूसरी पंक्ति में योग्यता नहीं है। मृगतृष्णा एक प्रकार की चिलचिलाती धूप की दूरव्यापी चमक है। उससे प्यास का बुझना असंभव है। अतः मृगतृष्णा का प्यास बुझाने के सम्बन्ध में उपयोग न रहने के कारण अड़चन उपस्थित होती है। इससे इसमें योग्यता का अभाव है और यह वाक्य नहीं हो सकता।

जहाँ १ दैवशक्तियोग २ हास्यसंचार तथा ३ वाच्यार्थ के विचार से अर्थव्याघात हो वहाँ योग्यता न रहने पर भी वाक्यसिद्धि समझी जाती है। जैसे—

१ दैवशक्तियोग—

मूक होंहि बाचाल, पंगु चढ़ै गिरिवर गहन।
जासु कृपा सुदयाल, द्रवहु सकल कलिमल दहन॥ **तुलसी**

दैवशक्तियोग से सोरठा में वर्णित असंभव का होना संभव है। इससे योग्यता की बाधा होने पर भी वाक्य मान लिया गया है।

२ हास्यसंचार—

पेट पुरातन पाटत हौं, कछु झोंकत हौं, नहिं अंध कुँवा में।
जेंइ भले जगदीश मनाइ करौं बकसीस असीस दुवा में॥
बूढ़ भयो बल थाकि गयो कछु खात रहे यजमान युवा में।
पूर पछत्तर मालपुआ अरु सेर सवा हलुवा चेलुवा में॥
अन्नपूर्णानन्द

पूरे पचहत्तर मालपूए और ऊपर से सवा सेर हलुवा खाने में योग्यता का अभाव है। फिर भी हास्योद्दीपक होने से वाक्य होता है।

३ व्याहत वाच्यार्थ—

क्या तुम भी हथेली पर सरसों जमाने लगे? हम भी हवा में फन्दा लगाते हैं। दोनों वाक्यों के वाच्यार्थ व्याहत, अतएव असंगत हैं; फिर भी इनसे अर्थ का सौष्ठव बढ़ जाता है। असंभव अर्थ निराले ढंग से प्रकाशित होता है। इससे ऐसे भी वाक्य योग्यता न रखने पर भी वाक्य मान लिये जाते हैं।

कविता में भी ऐसे ही व्याहत वाच्यार्थ के वाक्य वाग्धारा के रूप में प्रयुक्त होते आये हैं। जैसे--

१ काह बखानौ सिंहल कै रानी।
तोरे 'रूप भरै सब पानी'॥ **जायसी**

२ यह असीस हम देहिं 'सूर' सुनु
'न्हात खसै जनि बार'॥ **सूरदास**

३ तुलसी कही है साँची 'रेख बार बार खाँची'
'ढील किये' नाम महिमा की 'नाव बोरि हो'। **तुलसी**

४ 'आसू पीकर जीना', जाये देह 'हथेली पर लो जान'। **निराला**

५ 'भारत है सोने की चिड़िया' चलो वहीं का करे सफर।
हिम्मत करो 'कमर तो बाँधो' 'मुश्किल है अब करनी सर'। **भक्त**

२ आकाङ्क्षा

एक दो साकाङ्क्ष पदों के रहते हुए भी अर्थ का अपूर्ण रहना, अर्थात् वाक्यार्थ पूरा करने के लिये अन्यान्य पदों की अपेक्षा—जिज्ञासा का बना रहना, पद-समूह की आकाङ्क्षा कहलाता है। जैसे—

'राम ने एक पुस्तक' इतना कहने ही से अर्थ पूरा नहीं होता और 'श्याम को दी' इस प्रकार के पद अपेक्षित रहते हैं। जब दोनों मिला दिये जाते हैं तब वाक्यार्थ पूरा हो जाता है और आकाङ्क्षा मिट जाती है।

जब पद निराकाङ्क्ष होते हैं और इनका दूसरे पद के साथ सम्बन्ध नहीं होता तब उनसे वाक्य नहीं बन सकता। जैसे, पशु-पक्षी, लाल-पीला, ऊठ-बैठ, कहना-सुनना आदि। ये सब निराकाङ्क्ष पद हैं।

३ आसत्ति

आसत्ति को सन्निधि भी कहते हैं।

एक पद के सुनने के बाद उच्चरित होने वाले अन्य पद के सुनने के समय सम्बन्ध-ज्ञान का बना रहना 'आसत्ति' है।

अभिप्राय यह कि एक पद के उच्चारण के बाद दूसरे अपेक्षित पद के उच्चारण में विलम्ब वा व्यवधान न होना ही आसत्ति है।

यह व्यवधान चार प्रकार का होता है (१) कालकृत (२) उच्चारण-दोष-जन्य (३) अप्रसक्तशब्दोद्भव और (४) दूरान्वयाश्रित।

१ एक पद के उच्चारण के बाद दूसरे पद के उच्चारण में अधिक समय लगाना—देर करना—कालव्यवधान है। जैसे—

'राजा साहब' इतना कहने के बाद देर तक चुप रह कर 'कल आवेंगे' यह कहा जाय तो इन दोनों का सम्बन्ध तत्काल प्रतीत न होगा और चाहिये यह कि जिस पदार्थ का जिसके साथ सम्बन्ध हो, उसके साथ ही उसका ज्ञान हो। ऐसा जब तक न होगा तब तक वाक्य न होगा। यह हुआ काल-व्यवधान।

२ बोली लड़खड़ाने के कारण पदों का लगातार उच्चारण न होना उच्चारण-व्यवधान है। जैसे—

ह ह ह ह हम क क क क कल प प प प पाड़...पर गे गे गे गे गये थे।

ऐसे अस्पष्ट उच्चरित होनेवाले पदों से परस्पर यथार्थ सम्बन्ध न बैठने के कारण यह वाक्य यथार्थ वाक्य नहीं कहा जा सकता। यहाँ वक्ता के कथन में काल का अन्तराल नहीं है। इसीसे काल-व्यवधान में किसी प्रकार इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

३ प्रकरणोपयोगी पदों के बीच अप्रासंगिक पदों का आजाना अप्रसक्त-शब्द-व्यवधान है। जैसे—

मोहन, पेड़ पर, बैठी है, पढ़ता है, चिड़िया। इसमें दो वाक्य हैं। दोनों

वाक्यों के पद् अप्रासंगिक रूप से दोनों वाक्यों में आ गये हैं, जो इनके लिये अप्रसक्त हैं। यहाँ होना चाहिये यह कि मोहन पढ़ता है। चिड़िया पेड़ पर बैठी है। इसलिये ये दोनों वाक्य उक्त रूप में वाक्य नहीं हो सकते।

४ साकाङ्क्ष पदों के दूर पड़ जाने के कारण दूरान्वय-व्यवधान होता है।

इसमें अन्वय की अस्पष्टता भी लक्षित होती है। जैसे "एक जवान हरवे-हथियार से लैस, बदन से चुस्त, कपड़े-लत्ते से दुरुस्त, जिसके मुख से सुन्दरता टपकी पड़ती थी, घोड़े पर सवार, जिस घोड़े की बोटी बोटी फड़कती थी, सुनसान जंगल में, एक पगडंडी की राह पर चारों ओर चौकन्ना देखता हुआ, न जाने किसकी चिन्ता में विभोर, चला जा रहा था। इसमें 'एक जवान चला जा रहा था' यही एक वाक्य है। इस वाक्य में अपेक्षित क्रिया के दूर पड़ जाने से अन्वय-व्यवधान के कारण श्रोता उलझन में पड़ जाता है और सम्बन्ध बैठाने में भी भ्रम हो सकता है। उक्त वाक्य में अप्रासंगिक पद् नहीं आये हैं। इससे यह अप्रसक्त-व्यवधान में नहीं लिया जा सकता।

इसी प्रकार नीचे की कविताओं के वाक्य भी उदाहरणों में लिये जा सकते हैं—

(१) सिन्धु के अश्रु!
धरा के खिन्न दिवस के दाह!
बिदाई के अनिमेष नयन!
मौन उर में चिह्नित कर चाह
छोड़ अपना परिचित संसार
सुरभि का कारागार
चले जाते हो सेवा-पथ पर
तरु के सुमन
सफल करके मरीचिमाली का चारु चयन।—**निराला**

(२) देखूँ सब के उर की डाली
किसने रे क्या क्या चुने फूल
जग के छवि-उपवन से अकूल?
इसमें कलि, किसलय, कुसुम शूल!
किस छवि, किस मधु के मधुर भाव?
किस रँग, किस रुचि से किसे चाव?

कवि से रे किसका दुराव ?
किसने ली पिक की विरह तान ?
किसने मधुकर का मिलन गान ?
या फुल्ल कुसुम या मृदुल म्लान ?—**पन्त**

ऐसे व्यवधानों के कारण आसक्ति के नष्ट हो जाने से पदों का सम्बन्ध उलझा सा हो जाता है। इससे वाक्य के लिये सब प्रकार के व्यवधान बाधक हैं। इस प्रकार का दूरान्वय क्लिष्टत्व-दोष के अन्तर्गत आता है। किसी प्रकार वाक्यत्व लाने पर भी वह दूषित ही ठहरेगा।

चौथी किरण

शब्द और अर्थ

[1]"ब्रह्म जिस प्रकार स्वयं कूटस्थ—अनादिनिधन—होकर भी अपने को जगत् के रूप में प्रकाशित करता है, शब्द भी उसी प्रकार ब्रह्मतुल्य कूटस्थ होकर अनेक अर्थों के रूप में अपने को प्रकाशित करता है। ज्ञान जैसे अपने को और अपने ज्ञेय को—अनेक वस्तुओं को—प्रकाशित करता है, शब्द भी वैसे ही अपने स्वरूप को और अपने अनेक अर्थों को प्रकाशित करता है"।

किसी वस्तु के निषेध या विधान अथवा निवृत्ति या प्रवृत्ति के लिये वस्तु का नामनिर्देश आवश्यक है। अतः संसार के आदि-मानवों ने जब परस्पर बातचीत करना आरम्भ किया, तब उन्होंने सभी व्यवहार की वस्तुओं का कुछ न कुछ नाम अवश्य रखा। क्योंकि, ऐसा किये बिना वे किसी वस्तु के सम्बन्ध में एक दूसरे को अपना हृद्गत अभिप्राय नहीं जता सकते थे। फलतः उस समय जिन वस्तुओं का जिन शब्दों से कथन

१—अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥
आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपञ्च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपञ्च प्रकाशते॥ **वाक्यपदीय**

किया गया, वे शब्द उन वस्तुओं का निश्चित प्रतिनिधित्व करने लगे, उनके बोधक बन गये।

नैयायिकों का मत है कि प्रत्येक शब्द से जो अर्थ निकलता है, वह ईश्वरेच्छानुरूप ही होता है। अर्थात् [1]'ईश्वर जिस शब्द से जो अर्थ निकालना चाहते हैं उस शब्द से वही अर्थ निकलता है।' यह सिद्धान्त एक प्रकार से सुस्थिर है और मान्य भी है। क्योंकि, परमात्मा का सब जीवों के हृदय में वास है। अतः शब्दार्थ का सम्बन्ध ईश्वरेच्छानुरूप होना अबाधित है। इस प्रकार हमारी इच्छाओं में ईश्वरीय प्रेरणा रहती है और ईश्वरेच्छा में हमारी इच्छायें भी सम्मिलित समझी जा सकती हैं।

वैयाकरणों का मत है कि यह अर्थबोध करनेवाली शब्द की शक्ति शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसे इच्छा आदि किसी पदार्थ के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता। इसी मत को आलङ्कारिक भी मानते हैं।

इस शक्ति की शक्ति अपरिमित है। वस्तु के अभाव में भी वह अपनी सत्ता की प्रतिष्ठा कर लेती है। अँचार-चटनी का नाम लेने से ही जीभ चटकारें लेने लगती है और ऐसी दशा हो जाती है जिसमें लार टपक पड़े। इसी शक्ति की शक्तिमत्ता से चराचरव्यापी ईश्वर, ईश्वर शब्द से ही, कुकर्म-सुकर्म के, आस्तिक विश्वास के कारण, साक्षी बन जाते हैं।

[2]यह शक्ति शब्द और अर्थ का एक विलक्षण सम्बन्ध है, जो लोक-व्यवहार से सङ्केतज्ञान होने पर उद्बुद्ध हो जाता है। इसे वाच्य-वाचक-भाव भी कहते हैं। पद-पदार्थ की शक्ति का ज्ञापक इनका तादात्म्य अर्थात् इनकी भेद-सहिष्णु अभिन्नता है। यही सङ्केत है। इसी सङ्केत के सहारे शब्द अपने अर्थ की उपस्थिति करता है। क्योंकि प्रत्येक शब्द का अपने शब्दार्थ के साथ एक सङ्केत रहता है। यही कारण है कि पुस्तक लाने के लिये कहने पर लानेवाला पुस्तक को छोड़कर दूसरी वस्तु को नहींलाता।

इसी सङ्केत-शक्ति को अभिधा शक्ति वा शब्दों का शब्दार्थ कहते हैं। इसी अभिधा शक्ति के व्यापार से जिस शब्द का जो कुछ अर्थ होता है वह

२अस्मात् पदात् अयमर्थो बोद्धव्य इति ईश्वरेच्छा (संकेतः) शक्तिः। **कारिकावली**

१— पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः वाच्यवाचकभावापरपर्याया। तद्ग्राहकश्चेतरेतराध्यासमूलं तादात्म्यम्। तच्च सङ्केतरूपम्। **मञ्जूषा**

उस अर्थ का वाचक है और उससे निकलनेवाला अर्थ वाच्यया वाच्यार्थ है। सबसे पहले इसी अर्थ की उपस्थिति होने के कारण इसे मुख्यार्थ और नाम का अर्थ होने से नामार्थ भी कहते हैं।

अब जहाँ नव-नव वस्तुओं का नव-नव नाम-करण हुआ वहाँ मानव-मस्तिष्क भी साधारण स्तर से ऊपर उठ कर चमत्कारप्रिय होने लगा। उसी की विदग्धता ने नियत-निश्चित अर्थ देनेवाले शब्दों के क्षेत्र में क्रान्ति-सी मचा दी। वाचक शब्दों का अपने वाच्य अर्थों से भिन्न अर्थों में भी उपयोग किया जाने लगा। यह अर्थों के प्रसार का युग था। अर्थों के शब्दगत नियत प्रतिनिधित्व की शृंखला टूट-सी गयी। जब अभिधा शक्ति कुलवधू के समान अपने घर से—नियत अर्थ से—भिन्न स्थान में—वाच्य से भिन्न अर्थ बोध कराने में—समर्थ नहीं हो सकी तब दूसरी शक्ति लक्षणा का—अन्य अर्थ में उपचरित शब्द-शक्ति का—आश्रय लेना पड़ा। लक्षणा शक्ति से जिस शब्द को जो अर्थ दिया गया वह शब्द लक्षक या लाक्षणिक शब्द कहलाया और उससे निकलनेवाला अर्थ लक्ष्य वा लक्ष्यार्थ कहा गया। इसी लक्षणा शक्ति के बल पर देश से देशवासी का, हाथ से हथेली का बोध होने लगा। आकाश के चन्द्र और तालाब के कमलों को नायिका का मुख और नेत्र बनना पड़ा। भावुकता के बल पर विधि का निषेध और निषेध का विधि अर्थ निकालना आश्चर्य की बात नहीं रही।

किन्तु इन दोनों मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न भी एक प्रकार का पदार्थ प्रतीत होने लगा जो इन दोनों शक्तियों के प्रभाव के बाहर की वस्तु हो गयी। इसीसे इस पर व्यञ्जना का रंग चढ़ाया गया। फिर तो अनुभूतिमात्रगम्य भावों के प्रकाशन के लिये पर्याप्त बल प्राप्त हुआ। इस व्यञ्जना शक्ति से जिस शब्द का अर्थ किया जाने लगा, वह व्यञ्जक कहलाया और उससे होनेवाला अर्थ व्यंग्य, ध्वनि, सूच्य, प्रतीयमान आदि नामों से अभिहित होने लगा।

शब्द और अर्थ का यह आन्दोलन भिन्न-भिन्न प्रकार से होता रहा। कुछ अन्यार्थक शब्द अन्य अर्थ के प्रवाह में बह चले और कुछ शब्द विशेष आशय प्रतीत कराने के लिये अपना अर्थ खो बैठे। ऐसे शब्द लक्षकों की सीमा में आते हैं। वाचक शब्दों का स्वभाव कुछ विशेष प्रकार का होता है। वे अपने अर्थों को अबाधित रूप से बोधित कर ही विशिष्ट

अर्थान्तर के द्योतक होते हैं जिसकी प्रतीति सहृदय की अनुभूति पर निर्भर होती है। इस अवस्था में वे व्यञ्जक के क्षेत्र में जाते हैं।

निष्कर्ष यह कि शब्द की तीन शक्तियाँ हैं—१ अभिधा २ लक्षणा और ३ व्यञ्जना। जिनमें ये शक्तियाँ होती हैं वे शब्द भी तीन प्रकार के होते हैं—१ वाचक २ लक्षक और व्यञ्जक। इनके अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं—१ वाच्यार्थ २ लक्ष्यार्थ और ३ व्यङ्ग्यार्थ। वाच्य अर्थ कथित या अभिहित होता है; लक्ष्य अर्थ लक्षित होता है और व्यङ्ग्य अर्थ व्यञ्जित, ध्वनित, सूचित या प्रतीत होता है।

अर्थ उपस्थित करने में शब्द कारण हैं। अभिधा आदि शक्तियाँ शब्दों के व्यापार हैं।

पाँचवीं किरण

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध—शक्ति

कह आये हैं कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ही शक्ति है। इस शब्दार्थ-सम्बन्ध को व्यापार भी कहते हैं। यह सर्ववादिसम्मत सिद्धान्त है कि शक्ति, सम्बन्ध या व्यापार के ज्ञान के बिना किसी शब्द से किसी प्रकार का अर्थ-ज्ञान नहीं हो सकता।

नैयायिकों के मत में शब्द अनित्य है और वैयाकरणों के मत में नित्य। यह बड़े ही विवाद का विषय है। [1]वैयाकरण केवल शब्द को ही नित्य नहीं मानते, अर्थ को भी नित्य मानते हैं और शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध को भी नित्य मानते हैं। यह नित्यता शब्द के शुद्ध रूप तक ही अवरुद्ध नहीं रहती, अपभ्रंशों में भी दिखाई पड़ती है। एक शब्द के अनेक अपभ्रंश होते हुए भी प्रत्येक में उस शब्द का अर्थ-सम्बन्ध प्रायः विच्छिन्न नहीं होता। जैसे, बिंदु शब्द का जो अर्थ होता है वही अर्थ घुमा फिरा कर 'बुंदा' 'बूँद' 'बिंदी' 'बेंदी' 'बुंद-बुंद' 'बूँदा-बाँदी' आदि का भी।

[2]"शब्दों का अर्थ से एक प्रकार का (वाच्य वाचक) सम्बन्ध रहता है। उसी सम्बन्ध के ख्याल से प्रत्येक शब्द अपने अर्थ को उपस्थित करता है। बिना सम्बन्ध

---

१ सिद्धे शब्दे, अर्थे, सम्बन्धे च। **महाभाष्य**

२ ना० प्र० पत्रिका, भाग १६, अङ्क ४

का शब्द अर्थहीन होता है—उसमें किसी अर्थ के बोध करने की शक्ति नहीं रहती। सम्बन्ध उसे अर्थवान् बनाता है, उसमें शक्ति का संचार करता है। इसी सम्बन्ध या शक्ति से ही शब्द इस अर्थमय जगत् का शासन करता है। लोकेच्छा का संकेत पाकर चाहे जिस अर्थ को अपना लेता है, चाहे जिस अर्थ को छोड़ देता है। इसी शक्ति के घटने-बढ़ने से उसके अर्थ की ह्रास-वृद्धि होती है। इसी सम्बन्ध के भाव अथवा अभाव से अर्थ का जन्म अथवा मरण होता है। अर्थात् सम्बन्ध ही शब्द की शक्ति है, सम्बन्ध ही शब्द का प्राण। इसी से शब्द-तत्त्व के जानकारों ने कहा है 'शब्दार्थ सम्बन्धः शक्तिः' (शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का नाम शक्ति है।"

उद्धरण में विचारित सम्बन्ध के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं जो जिज्ञासुओं की जिज्ञासावृत्ति को कुछ सन्तुष्ट करेंगे।

१ लोकेच्छा के संकेत से अर्थ ग्रहण करने वाले एक दो शब्द—

[1]सलोना और नमकीन शब्द नमक वाले पदार्थ के बोधक हैं। अब इनसे सुन्दर होने का अर्थ-बोध होता है। जैसे, यह सर्वाङ्ग-सलोनी सुन्दरी अनोखी विष की गाँठ है। हे नायक ! (विष की गाँठ जिसके गले लगती है वही मरता है, किन्तु) यह जिसके गले नहीं लगती प्रत्युत वही मरता है। श्याम सलोने गात भी ऐसा ही है। साधारण बोलचाल में कहते हैं कि इस लड़के का चेहरा नमकीन है। अर्थात् लड़का सुन्दर है।

ऐसे ही क्रियात्मक शब्द बनना, बनाना और कहना भी हैं। 'बनना' का अर्थ विरचित होना है। बनाना का अर्थ रचना करना तथा सिद्ध करना है और कहना का अर्थ कुछ बोलना है। किन्तु अब लोकेच्छा का संकेत पाकर बनना का अर्थ अपने को दिखाना होता है। जैसे, हमारे सामने वह खूब बनता है। 'बनाने' का अर्थ छेड़ना, चिढ़ाना, बुद्धू सिद्ध करना होता है। जैसे, ज्ञानोपदेश देने पर गोपियों ने उद्धव को खूब बनाया। और, 'कहना' कविता लिखने के अर्थ में आने लगा है। जैसे, क्या खूब कहा ! कहने में तो कलम तोड़ दी है। इन्होंने अच्छे 'दोहे' कहे हैं।

एक और उदाहरण लें, जैसे कि मूर्ख। 'मुह' धातु से तीन शब्द बने हैं—मुग्ध, मूढ और मूर्ख। मुग्ध वह है जो देखता है, समझता है पर व्यक्त नहीं

---

१ साव सलोणी गोरडी, नवखी कवि विसगंठि।
भड़ पच्चलिउ सो मरइ, जासु न लग्गइ कंठि॥ **हेमचन्द्र का व्याकरण**

कर सकता। उसकी समझ 'गूँगे का गुड़' समझ लीजिये। मूढ़ वह है जो कुछ समझता ही नहीं। और, [1]मूर्ख वह है जो जानता है और समझता भी है पर उलटी समझ से काम लेता है। पर आज 'मूर्ख' शब्द अपढ़, नासमझ, गँवार, अज्ञ, बेवकूफ आदि सब के लिये प्रयुक्त होता है।

२ लोकेच्छा के सङ्केत से अर्थ छोड़ने वाले एक दो शब्द।

पहले 'महाजन' शब्द महापुरुषों के अर्थ में आता था। जैसे, महाजन जिस मार्ग से गये वही प्रशस्त मार्ग है। अब 'महाजन' वणिक्-मात्र के लिये, विशेषतः लेन-देन के काम करने वाले के लिये प्रयुक्त होता है। ऐसे ही महाराज, महाशय, महाब्राह्मण, महाप्रसाद आदि शब्द हैं।

अधिकांशतः साक्षर अशिक्षित समाचारपत्र को 'छापे का कागज' कहते हैं। यह छपे हुए कागज मात्र के अर्थ को छोड़ रहा है। अब तो प्रायः शिक्षित-समुदाय अंग्रेजी समाचारपत्र को 'पेपर' ही कहता है। इस प्रकार पेपर अपने साधारण पेपर मात्र के अर्थ से विमुख हो रहा है।

३ सम्बन्ध शक्ति के ह्रास से अर्थ के ह्रास वाले एक दो शब्द—

जो लोग ऐसा कहते हैं कि यह शब्द यहाँ ठीक अर्थ नहीं देता या यह शब्द मेरे मन का भाव नहीं प्रकाशित करता, इसका कारण यही है कि उस शब्द के पूर्व के सम्बन्ध या शक्ति का ह्रास हो रहा है। आज उपन्यास शब्द किस्सा-कहानी की पुस्तक ही तक सीमित हो गया है। इसका प्रयोग पहले [2]आरम्भ करने—बात निकालने या कहने—के अर्थ में होता था। ऐसे ही समस्या शब्द पहले पद्य के पूरणीय एक अंश को कहते थे और अब समस्या उलझन की बात बन गयी है। पहले आपत्ति शब्द आने का अर्थ देता था। जैसे, अर्थापत्ति अर्थ का आना। अब केवल यह 'विपत्ति' का ही बोधक रह गया है।

४ सम्बन्ध की वृद्धि से अर्थवृद्धि वाले एक दो शब्द—

खबर का बहुवचन अखबार है। यह शब्द समाचारों का बोधक-मात्र है। किन्तु, अब इससे ऐसे समाचारपत्र का बोध होता है, जिसमें

---

१ शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः।
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्॥

२ विषम उपन्यासः। **महाभाष्य**। उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्। **अमरकोश**

केवल समाचार ही नहीं रहते, अग्रलेख तथा निबन्ध, आलोचना और टिप्पणियाँ, एकाङ्की नाटक और कहानियाँ, तथा पत्रव्यवहार आदि भी रहते हैं। इस प्रकार इसका अर्थ बहुत व्यापक होगया है।

'नश्' धातु का अर्थ है अदर्शन अर्थात् लोप। किन्तु इस धातु से बना नष्ट शब्द [1]मद्यप, मांसभक्षी, वेश्यागामी, चोर, जुआरी, गुंडा, बदमास, आदि जैसे कुकर्मकारियों का अर्थ देता है। [2]भ्रष्ट का अर्थ है गिरा हुआ और आज यह नष्ट शब्द का कनिष्ठ भ्राता बन गया है।

ऐसा ही 'फलाहार' शब्द है। अर्थ है फल का भोजन। पर फलाहार में फल ही नहीं रहते। दूध-घी, रबड़ी-मलाई, पेड़ा-बर्फी आदि भी सम्मिलित हैं। यही क्यों, कन्द-मूल फलने वाले नहीं। ये भी फलाहार के अन्तर्गत आ जाते हैं। यह सम्बन्ध-वृद्धि की ही महिमा है।

५ सम्बन्ध के भाव (सत्ता) से नये अर्थ वाले एक दो शब्द—

'बिजली दौड़ जाना' का आजकल एक नया अर्थ 'सनसनी पैदा होना' भी हो गया है। जैसे, 'अँधेरे में साँप पर पैर पड़ जाने से शरीर में बिजली दौड़ गयी'।

इस नये अर्थ का उद्देश्य 'सनसनी' की तीव्रता बताना है। ऐसे ही 'तार देना' शब्द किसी को सितार आदि का तार देने का अर्थ रखते हुए 'तार द्वारा समाचार भेजना' भी एक नया अर्थ देने लगा है। इनमें सम्बन्ध का भाव (सत्ता) ही नये अर्थों का जन्मदाता है।

नये अर्थ का जन्म मूल में सङ्कोच या प्रसार से होता है। पच् (पकाना) धातु से 'पक्व' बना है। अर्थ है पका हुआ। इससे हिन्दी में तीन शब्द बने—पक्का, पका और पगा। अब उदाहरणों में देखिये कि इनके अर्थ क्या हैं—पक्का कुँआ, पक्की सड़क, पक्की बात। पका फल, पके बाल, पका चाम। पगी (चीनी की चाशनी चढ़ी) बालूशाही, रस-पगी बात आदि। इनमें कहीं पकने का अर्थ नहीं है।

---

१ भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरुषे किन्तेन मद्यं विना।
मद्यं चापि तव प्रियं प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह॥
वेश्या द्रव्यरुचिः कुतस्तव धनं द्यूतेन चौर्येण वा।
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो **नष्टस्य** कान्या गतिः॥

२ विवेक**भ्रष्टानां** भवति विनिपातः शतमुखः।

६ सम्बन्ध के अभाव से मरे अर्थ वाले एक दो शब्द—

आज कोई कुश लाने वाले को न तो 'कुशल' ही कहता है और न माँड़ पीने वाले को 'मण्डप' ही। सम्बन्ध के अभाव से इनके पूर्व अर्थों का मरण हो चुका है। अब ये क्रमशः 'चतुर' और 'मँड़वा' के ही अर्थ देते हैं। 'हवा से बातें करना' जैसे मुहावरों के अर्थों का भी मरण हो चुका है। क्योंकि, अब हवा से बातें होने लगी है।

'सैन्धव' शब्द सिन्धु देशोत्पन्न वस्तुओं का बोधक न रहा। अब नमक का ही विशेष अर्थ देता है। 'चीनी' चीन देश की सभी वस्तुओं का बोधक है पर आज चीनी कहने से सिर्फ चीनी को ही सभी समझते हैं। ऐसे ही सहज, विज्ञान, विस्तार; प्रसाद आदि शब्द हैं।

शब्दार्थ के सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान में रखने की है कि कुछ विदेशी शब्दों का ऐसा प्रभाव बढ़ रहा है जिनका आशय हिन्दी शब्दों से व्यक्त नहीं होता। जैसे, सिफारिश और ऐक्टिङ्ग (Acting)। इनके भाव 'संस्तव' या 'अनुरोध' तथा 'नाट्य' शब्द से व्यक्त नहीं होते। इसका कारण उक्त शब्दों से परिचय-वृद्धि है। ऐसे ही मुद्दई, मुद्दालह, स्कूल, कालेज आदि शब्द हैं। इनका अभिप्राय क्रमशः वादी, प्रतिवादी, पाठशाला, विद्यालय आदि से स्पष्ट नहीं होता।

शब्दार्थ—सम्बन्ध का या शक्ति का विचार जितना ही व्यापक है उतना ही महत्त्वपूर्ण है। साहित्यिकों के लिये यह विषय कथमपि उपेक्षणीय नहीं है। इसके यथार्थ ज्ञान से साहित्य में सुप्रयोग की विशेष सम्भावना है। पृथक् पुस्तक में इसका विस्तृत विवेचन अभीष्ट है[1]।

---

[1] साधारण ज्ञान के लिये परिष्कृत और परिवर्द्धित मेरी—**'हिन्दी-रचना-कौमुदी'** का शब्दार्थ—प्रकरण देखना चाहिये।

छठी किरण

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में नवीन दृष्टिकोण

आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—

"अर्थ से मेरा अभिप्राय वस्तु या विषय से है। अर्थ चार प्रकार के होते हैं— प्रत्यक्ष, अनुमित, आप्तोपलब्ध और कल्पित। प्रत्यक्ष की बात हम अभी छोड़ते हैं। भाव या चमत्कार से निःसङ्ग विशुद्ध रूप में अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन-विज्ञान है, अप्तोपलब्ध का क्षेत्र इतिहास है, कल्पित अर्थ का प्रधान क्षेत्र काव्य है। पर भाव या चमत्कार से समन्वित होकर ये तीनों प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं और होते हैं। यह अवश्य है कि अनुमित और आप्तोपलब्ध अर्थ के साथ काव्य-भूमि में कल्पित अर्थ का योग थोड़ा-बहुत रहता है। जैसे, दार्शनिक कविताओं में, रामायण, पद्मावत आदि ऐतिहासिक काव्यों में। गम्भीर-भाव-प्रेरित काव्यों में कल्पना प्रत्यक्ष और अनुमान के दिखाये मार्ग पर काम करती है और बहुत घना और बारीक काम करती है[1]।"

शुक्लजी के दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष का एक उदाहरण लीजिये—

मेरे प्यारे बेटे आओ
मीठी-मीठी बातें करके मेरे जी की कली खिलाओ
उमग-उमग कर खेलो कूदो लिपट गले से मेरे जाओ
इन मेरी दोनों आँखों में हँसकर सुधाबूँद टपकाओ। **हरिऔध**

इस प्रत्यक्ष अर्थ से सचमुच जी की कली खिल जाती है। बेटा बाल-सुलभ हास द्वारा वात्सल्य भाव से सराबोर माता के नेत्रों में सचमुच सुधा-सेचन कर देता है।

अनुमित अर्थ का एक उदाहरण लें—

होते अरबिन्द से तो आयकै मिलिंद बृन्द
लेते मधु बुंद कंद तुंद के तरारे ये।
खंजन से होते तो प्रभंजन परस पाय
उड़ते दुहूँधा ते न रहते नियारे ये॥

---

१ इन्दौर का भाषण।

'ग्वाल' कवि मीन से मृगन से जो होते तो पै
बन बन माँहि दोऊ दौरते करारे ये।
याते नैन मेरे खरे लोह से हैं काहे तें कि
खैचे लेत प्यारी! चख चुम्बक तिहारे ये॥

यहाँ चुम्बक रूप साधन से नेत्रों का लौह रूप होना सिद्ध किया गया है। 'काहे तें कि' शब्द से कारण का स्पष्ट निर्देश है।

एक आप्तोपलब्ध का उदाहरण लें—

तुम तो कहोगे, इतिहास भी कहेगा यही,
किन्तु यह विजय प्रशंसा भरी मन की—
एक छलना है।
वीरभूमि पञ्चनद वीरता से रिक्त नहीं।
काठ के हो गोले जहाँ
आटा बारूद हो।
और पीठ पर हो दुरन्त दंशनों का त्रास
छाती लड़ती हो भरी आग, बाहु बल से
उस युद्धमें तो बस मृत्यु ही विजय है। प्रसाद

शेरसिंह के शस्त्र-समर्पण की कथा में अर्थ आप्तोपलब्ध ही है। आज इतिहास भी सत्यानुसंधान के लिये विज्ञान का रूप ले रहा है।

काव्यमात्र ही कल्पित अर्थ का प्रधान क्षेत्र है। इसका उदाहरण अनावश्यक है। कोई भी काव्य, जिसे काव्य कहा जा सकता है, कल्पित अर्थ से अछूता नहीं रह सकता। उत्प्रेक्षा आदि अलंकार कल्पित अर्थ के ही अधीन हैं।

प्रत्यक्ष का उक्त उदाहरण भाव-शून्य नहीं, इससे वह काव्य है। ग्वाल कवि की कविता भी चमत्कारक और अनुरञ्जक है। आप्तोपलब्ध के उदाहरण में वीरता-व्यञ्जक भाव होने से वह भी काव्य है। इस प्रकार "भाव या चमत्कार से समन्वित होकर, ये तीनों प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं।" यह शुक्लजी की उक्ति संगत होती है।

प्रत्यक्ष और अनुमान के मार्ग पर गम्भीर-भाव-प्रेरित काव्य में कल्पना की करामात का एक उदाहरण लें—

कल जब उनींदी सी खसी भूपर बसन्ती चाँदनी,
पुरवा चली जब आ रही थी दूर निद्रालोक से,

वन के किसी सुनसान में निज हाँथ में मुरली लिये,
बैठा पुलिन पर तब कहीं कवि साधना में लीन था।
धुल चाँदनी से थी बिछी दूर्वा तटी के स्वप्न सी;
जाती सिहर लघु डालियाँ रह रह दिशा के मौन में।
थी ऊँघती सुषमा कली पर किसलयों की गोद में;
सारा विपिन था रम्य दिन के ग्रीष्म शयनागार सा। **दिनकर**

इस कविता की भाव-गम्भीरता तथा कल्पना के साक्षी सहृदयों के हृदय ही हैं।

आगे चलकर शुक्लजी कहते हैं।

"भाषा का असल काम यह है कि वह प्रयुक्त शब्दों के अर्थयोग द्वारा ही या तात्पर्य्य वृत्ति द्वारा ही पूर्वोक्त चार प्रकार के अर्थों में से किसी एक अर्थ का बोध करावे। जहाँ इस रूप में कार्य न करके वह ऐसे अर्थों का बोध कराती है जो बाधित, असंभव, असंयत या असम्बद्ध होते हैं वहाँ केवल भाव या चमत्कार का साधनमात्र होती है, उसका वस्तुज्ञापन कार्य एक प्रकार से कुछ नहीं होता"।

यहाँ बाधित आदि अर्थों से शुक्लजी का अभिप्राय वाच्यार्थ के उन प्रकारों से है जहाँ बाध आदि होने पर लक्षणा आकर अपनी शक्ति से अर्थ-व्याघात को दूर करती है। जैसे,

चाँदी रम्य चन्द्रमा लुटाता चला हँसता।
और निशा रानी मोद - पूरिता मनोहरा,
सीपज लुटाती चली अञ्जली में भरके। **वियोगी**

इसमें भाषा चमत्कार का साधन होकर अपने अर्थयोग द्वारा बाधित अर्थ का ही बोध कराती है—हँसता चन्द्रमा चाँदी नहीं लुटाता और न निशा रानी अंजलि में भरके, मोती ही लुटाती है। लक्षणा से अर्थ होता है—उज्ज्वल चाँदनी लुप्त हो रही है और शस्य पर शिशिर-विन्दु झलक रहे हैं। ऊषा का आगमन व्यञ्जित है।

ऐसे लाक्षणिक वर्णन में कहीं चमत्कार की विशेषता लक्षित होती है तो कहीं भाव की। फिर भी इस प्रकार की बाधितार्थ भाषा के द्वारा भाव-साधना उतनी नहीं होती। उक्ति-वैचित्र्य से लाक्षणिक चमत्कार भले ही हो।

शुक्लजी अन्त में कहते हैं—

"चारों प्रकारों की रचनाओं (श्रव्य काव्य, दृश्य काव्य, कथात्मक गद्य काव्य

और काव्यात्मक गद्य प्रबन्ध या लेख) में कल्पना-प्रसूत वस्तु या अर्थ की प्रधानता रहती है, शेष तीन प्रकार के अर्थ सहायक के रूप में रहते हैं। पर निबन्ध में विचार-प्रसूत अर्थ अंगी होता है और आप्तोपलब्ध या कल्पित अर्थ अंग रूप में रहता है। दूसरी बात यह है कि प्रकृत निबन्ध अर्थप्रधान होता है।"

तीनों उद्धरणों के पढ़ने पर शुक्लजी का अर्थ-सम्बन्धी विचार स्पष्ट हो जाता है। किन्तु शुक्लजी ने विचार-प्रसूत अर्थ को यह नहीं बतलाया कि वह प्रत्यक्ष होता है या अनुमित। अङ्ग रूप में कल्पित या आप्तोपलब्ध का नाम तो लिया किन्तु अङ्गी के रूप में स्वीकृत विचार-प्रसूत अर्थ को प्रत्यक्ष या अनुमित अर्थ खोल कर नहीं कहा।

न मालूम शुक्लजी ने इन्हीं चारों अर्थों का ही क्यों उल्लेख किया! ऐसे तो उपमित और अर्थापन्न अर्थ भी हो सकते हैं। उपमित का अर्थ है एक के सदृश दूसरा। काव्य में उपमित अर्थ की ही बहुलता है। कौन काव्य-प्रेमी काव्य में सदृश अर्थ की अमूल्यता को नहीं मानता। बहुत से अलङ्कारों की जड़ तो यह सादृश्यमूलक उपमित अर्थ ही है। अर्थापन्न अर्थ भी काव्य में आता है। आपत्ति का अर्थ है 'आ पड़ना'। 'अर्थापन्न' का अर्थ हुआ 'आ पड़ा हुआ अर्थ'। जैसे,

प्रभु ने भाई को पकड़ हृदय पर खींचा,
रोदन जल से सविनोद उन्हें फिर सींचा।
उसके आशय की थाह मिलेगी किसको?
जनकर जननी भी जान न पायी जिसको॥ **गुप्तजी**

इस पद्य के पढ़ने पर स्वयं यह अर्थ भासित हो जाता है कि भरत के आशय को राम के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं जान सकता।

सुधा बृष्टि भइ दोउ दल माँहीं।
जिये भालु कपि निश्चर नाहीं॥ **तुलसी**

सुधा तो भालु-कपि या निश्चर को बिलगाती नहीं। उसका काम है मृतक-सामान्य को जीवन दान देना। फिर भालु-कपि ही क्यों जीवित हुए, निश्चर क्यों नहीं? इससे स्वतः यह अर्थ आ पड़ता है कि 'ईश्वर की ऐसी इच्छा थी'।

उपर्युक्त सभी भेद अभिधेय के अन्तर्गत हैं। शेष उसीका प्रपञ्च है।

सातवीं किरण

साधारण अर्थ और बिम्बग्रहण

अर्थ शब्द के अनेक अर्थ हैं। इन अर्थों के साहित्यिक प्रयोग भी काव्यों में भरे पड़े हैं। उनसे अर्थ शब्द के अर्थ की विलक्षणता लक्षित होती है।

साहित्यशास्त्र में किसी शब्द-शक्ति के ग्रह अथवा ज्ञान से सङ्केतित, लक्षित या द्योतित जिस व्यक्ति की उपस्थिति होती है उसे अर्थ कहते हैं।

यहाँ व्यक्ति शब्द से केवल मनुष्य प्राणी का अर्थ नहीं लेना चाहिये। किन्तु उन सभी मूर्त, अमूर्त द्रव्यों का, जो [1]व्यक्ति, जाति या आकृति के द्वारा अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं।

सङ्केत-ग्रह के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का यह निम्नलिखित विचार है—

"यह तो स्पष्ट है कि प्रतिबिम्ब या दृश्यग्रहण अभिधा द्वारा ही होता है। पर अभिधा द्वारा ग्रहण एक ही प्रकार का नहीं होता। हमारे यहाँ के आचार्यों ने सङ्केत-ग्रह के जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा ये चार विषय तो बताये पर स्वयं सङ्केत-ग्रह के दो रूपों का विचार नहीं किया। अभिधा द्वारा दो प्रकार का ग्रहण होता है—बिम्बग्रहण और अर्थग्रहण। किसी ने कहा कमल। अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिये हुए सफेद पँखड़ियों और नाल आदि के सहित एक फूल का चित्र अन्तःकरण में थोड़ी देर के लिये उपस्थित हो जाय और इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो, केवल पद का अर्थमात्र समझ कर काम चलाया जाय"।[2]

अब इस उद्धरण पर थोड़ा विचार कीजिये। अर्थ की उपर्युक्त परिभाषा यह स्पष्ट कर देती है कि सङ्केतग्रह क्या है और वह किमाकार है, अर्थात् किस रूप में गृहीत होता है। मेरा कहना है कि अर्थ-मात्र की उपस्थिति प्रायः प्रतिबिम्ब रूप में ही होती है। संकेत-ग्रह के समय तो बिम्ब रहता है पर शब्द के द्वारा वह प्रतिबिम्ब होकर ही आता है।

---

१ व्यक्तिस्तु पृथगात्मता। अर्थात्, अन्य वस्तुओं से किसी वस्तु-विशेष का निरालापन। अमर

२ काव्य में रहस्यवाद।

'कमल' शब्द को ही लीजिये। इस पद का अर्थ यदि कुछ लिया जायगा तो उसका कुछ रंग-रूप अवश्य सामने आवेगा। यदि ऐसा न हो तो भी अर्थ जानने वाला व्युत्पत्ति-लब्ध अर्थ (क-मल = जल का मल) न जानकर कम से कम इतना तो जानेगा कि कमल एक प्रकार का फूल होता है। फिर तो यहाँ अर्थ के साथ साथ कुछ प्रतिबिम्बग्रहण होगा ही।

अर्थ शब्द अर्थमात्र को—अभिधेय को—ही नहीं कहता, [1]वस्तु को भी कहता है। अतः शुक्लजी वस्तुग्रहण को ही अपना बिम्बग्रहण मानकर क्यों नहीं सन्तुष्ट हो जाते ?

अर्थ के साथ ही शब्दबोध्य वस्तु की बौद्ध रूप में उपस्थिति अवश्यम्भाव्य है। [2]बुद्धिदेशस्थ अर्थ ही ज्ञान का विषय होता है और शक्तिग्रह का विषय भी। ज्ञान वृत्त्यात्मक होता है अर्थात् अंतःकरण का इन्द्रिय द्वारा विषय देश में जाकर जो विषयाकार परिणाम है, वही वृत्ति है और तदात्मक ही ज्ञान होता है। इससे स्पष्ट है कि अभिधा का ग्रहण पूर्वोक्त पृथक् पृथक् रूप से नहीं होता।

इसी वृत्ति की बात को[3] वेदान्त यों समझा कर कहता है—"जैसे तालाब का पानी नाली से बहता हुआ क्यारियों में पहुँच कर वैसा ही चौकोना, तिकोना या गोल आकार का हो जाता है वैसे ही उज्ज्वल अन्त करण नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा निकल कर घट आदि पदार्थों में जाकर घट आदि के ऐसा ही हो जाता है। यही परिणाम वृत्ति है।

बात यह है कि ज्ञान दो प्रकार का होता है। एक सविकल्पक और दूसरा निर्विकल्पक। सविकल्पक में ग्राह्य अर्थ की विशेषतायें प्रतीत होती हैं और निर्विकल्पक में नहीं प्रतीत होतीं। शुक्लजी ने निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा ग्राह्य अर्थ को ही अपने मन से अर्थग्रहण का विषय ठहरा

---

१ अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु। अमर

२ अर्थश्च बौद्ध एव ज्ञानविषयः शक्तिग्रहविषयश्च। ज्ञानञ्च वृत्तिरूपं बुद्धिधर्म एवेति। —मञ्जूषा

३ यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते। वेदान्तपरिभाषा

दिया है। काव्य में निर्विकल्पक ज्ञान का कोई अर्थ कभी स्वीकृत नहीं होता और न लोक में ही उसके द्वारा किसी प्रकार की प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है। अतः उसकी चर्चा उठाना यहाँ नितान्त अप्रासङ्गिक है।

शुक्लजी के जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा ये चार भेद महाभाष्य पर निर्भर हैं। वही महाभाष्य यह भी कहता है कि शब्द (गो शब्द) वही है[1] जिसके उच्चारण से गलकम्बल (गले की झालर) ककुद (मौर वा डिल्ला) पूँछ, खुर, सींग वाले का बोध होता हो। अब बताइये कि शब्द अर्थ-बोधक मात्र ही है या बिम्बग्राहक भी। यही [2]बात भर्तृहरि भी कहते हैं।

इन शास्त्रीय विचारों के रहते शुक्लजी का आचार्यों के सम्बन्ध में उलाहना अनुचित ही नहीं, असंगत और अनर्थक भी है। उनका यह विचार पाश्चात्य-प्रभाव-मूलक ही है, जैसा कि वे एक स्थान पर कहते भी हैं। भाषा के दो पक्ष होते हैं—एक सांकेतिक (Symbolic) और दूसरा बिम्बाधायक (Presentative)।

साहित्य में जाति की अपेक्षा व्यक्ति की ही प्रधानता है। यही इस बात का सूचक है कि पृथगात्मक व्यक्ति जब होगा तब उसका अर्थ के साथ प्रतिबिम्बग्रहण भी अवश्य होगा।

यह बात अवश्य ग्राह्य हो सकती है कि शब्द-विशेष अर्थग्रह के साथ विशेषतः प्रतिबिम्बग्राहक भी होते हैं। जैसे, 'समुद्र' को सिन्धु कहने से कोई वैसा प्रतिबिम्बग्रहण नहीं होता जैसा कि समुद्र को 'जलनिधि' या 'रत्नाकर' कहने से होता है। इन शब्दों से समुद्र का एक रूप खड़ा हो जाता है। ऐसे ही 'पृथ्वी' को भू, मही, पृथिवी आदि कहने से वैसा प्रतिबिम्बग्रहण नहीं होता जैसा कि 'अचला' 'अनन्ता' 'विश्वम्भरा' 'स्थिरा' आदि शब्दों के कहने से होता है। इन शब्दों का निर्माण ही ऐसा है कि जो एक रूप खड़ा कर देता है।

विशेष-स्थल पर अबिम्बग्राहक शब्द से भी बिम्बग्रहण होता है। कवियों ने इस पर खूब ध्यान दिया है। कमल शब्द को ही लें।

पा प्रसाद रविकिरण का कमल कमल है जात। **अनुवाद**

यहाँ दूसरे कमल शब्द का अर्थ बाधित है। पुनरुक्त कमल शब्द

---

१ येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः।

—महाभाष्य

२ यथा सास्नादिमान् पिण्डो गोशब्देनाभिधीयते। **वाक्यपदीय**

लक्षणा द्वारा विकसित कमल कुसुम के सौन्दर्य तथा सौरभ की अतिशयता व्यञ्जित करता है। इस व्यङ्ग्य के लिये विशिष्ट विकाश और सौरभ-सम्पन्न में कमल शब्द संक्रमित है। इस सौरभमय सुन्दर कमल के बिम्बग्रहण में अर्थशक्तियाँ सहायक हैं। क्या यह सामान्य अर्थ से संभव है ?

प्रतिबिम्बग्रहण का एक उदाहरण लें—

सुन्यौ न देख्यौ हौं कहूँ कमल कमल में होय।
तेरो मुख अम्भोज मँह कस इन्दीवर दोय॥ **अनुवाद**

प्रियतम अपनी प्रियतमा से कहता है कि कमल में कमल होता है यह सुना ही भर था पर वह आज देख लिया। एक तो अम्भोज-(कमल) तुम्हारा मुख है और उसमें दो इन्दीवर (नील कमल) तुम्हारे नेत्र हैं। मुख में अरुणिमा-मिश्रित आभा है। इससे उसके लिये साधारण कमल-वाचक अम्भोज शब्द आया है। किन्तु नील-नीरज-निभ नयन नील भी हैं। इससे यहाँ इन्दीवर का प्रयोग है। साधारण कमल-वाचक शब्द नील नेत्र के प्रतिबिम्बग्राहक नहीं हो सकते। अभिप्राय यह कि साधारण शब्द, जिनका निर्माण ऐसा है कि उनसे प्रतिबिम्बग्रहण नहीं होता, विशेष अवस्थाओं के अतिरिक्त अन्यत्र प्रतिबिम्बग्रहण कराने में उतने समर्थ नहीं जितने कि उपर्युक्त शब्दों के समान विशेष प्रकार से निर्मित शब्द।

एक स्थान पर शुक्लजी ने कुछ ऐसा ही विचार किया है जो इस प्रकार है—

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँगमगे संगनि।
मनहुँ आदि अम्भोज बिराजत सेवित सुरमुनि भृंगनि॥
सिखर परस घन घटहिं मिलति बग पाँति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी॥ **तुलसी**

"......केवल जलद न कह कर उसमें वर्ण और ध्वनि का भी विन्यास किया गया है। वर्ण के उल्लेख से "जलद" पद में बिम्बग्रहण कराने की जो शक्ति आई थी वह रक्ताभ श्रृङ्ग के योग में और भी बढ़ गई। और बगलों की श्वेत पंक्ति ने मिल कर तो चित्र को पूरा ही कर दिया। यदि ये तीनों वस्तुयें—मेघमाला, श्रृङ्ग और वकपंक्ति—अलग अलग पड़ी होतीं, उनकी संश्लिष्ट योजना नहीं की गई होती, तो कोई चित्र ही कल्पना में उपस्थित न होता। तीनों का अलग अर्थग्रहणमात्र हो जाता, बिम्बग्रहण न होता। **गोस्वामी तुलसीदास**

यहाँ 'जलद' में जो स्वाभाविक प्रतिबिम्बग्रहण कराने की शक्ति है वह मेघ, घन आदि शब्दों में नहीं । जलद होने से ही उसमें श्यामता है और मन्द-मन्द गरजन भी। श्याम जलद के संग बकपंक्ति का वर्णन कवि-स्वभाव-सिद्ध है। 'धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः' मेघ का शृङ्ग-संलग्न होना विज्ञान-सम्मत ही है। अभिप्राय यह कि 'जलद' शब्द का ही सामर्थ्य है जो संश्लिष्ट प्रति बिम्बग्रहण कराता है और उसकी पूर्णता में प्रातिवेशिक विवरण भी सहायक होता है।

इसीका समर्थन शुक्लजी की इस पंक्ति से होता है—

भावना को मूर्तरूप में रखने की आवश्यकता के कारण कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यह रहती है कि उसमें जातिसंकेत वाले विशेष-रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते हैं। **चिन्तामणि**

एक बात और। शब्दार्थ का ग्रहण वा ज्ञान ज्ञाता के पूर्व प्रत्यक्षीकरण पर भी निर्भर करता है। जो कमल को तड़ाग में देख चुका है उसे 'पद्म' का अर्थ कमल बताया जाय तो वह क्या सामान्य अर्थ-रूप में और क्या प्रतिबिम्ब-रूप में अर्थग्रहण कर सकता है, दूसरा 'पद्म' का वैसा अर्थ वा प्रतिबिम्ब नहीं ग्रहण कर सकता है जिसने कमल का पूर्व प्रत्यक्ष न किया हो।

निष्कर्ष यह कि संकेतग्रह के रूप दो नहीं, एक ही है। वह ग्राहक की ग्रहण-योग्यता पर निर्भर है कि वह संकेतग्रह जैसा चाहे करे।

अंत में यह कहना आवश्यक है कि अभिधा केवल अर्थग्रहण करावे या बिम्बग्रहण, इसके लिये शब्दविधान सापेक्ष है। यही कवि का लक्ष्य भी होना चाहिये। काव्य में चित्र चित्रण, दृश्योपस्थापन और मूर्ति-विधान ही प्रधान हैं। वस्तु के रूप और उसके प्रतिवेश का विवरण जितना प्राञ्जल होगा उतना ही चित्र परिपूर्ण होगा। जो कुछ हो, शुक्लजी का यह मत सर्वथा मान्य है कि 'काव्य में बिंबस्थापना (Imagery) प्रधान वस्तु है।'

आठवीं किरण

वाचक शब्द

[1]जो साक्षात् संकेतित अर्थ का बोधक होता है। वह वाचक शब्द है।

यह संकेत साक्षात् होना चाहिये, परंपरा से नहीं। जैसे, राजा का गढ़ दिखाकर कहा जाय कि 'यह राजगढ़ है' तो यहाँ राजगढ़ का जो अर्थ होगा वह साक्षात् संकेतित कहा जायगा। किन्तु, राजा के गढ़ से सम्बद्ध होने के कारण राजगढ़ नाम से प्रसिद्ध नगर का बोध होना साक्षात् संकेतित अर्थ नहीं कहलायगा। क्योंकि राजगढ़ का नगर के लिये कोई साक्षात् संकेत नहीं। राजगढ़ का यहाँ परंपरा-सम्बन्ध से नगर में संकेत है, जो दूसरी शक्ति लक्षणा का विषय है।

एक उदाहरण और लें। गधा एक जानवर है। यहाँ 'गधा' शब्द का अपने अर्थ में साक्षात् संकेत है। क्योंकि इसीमें उस शब्द का लोक-प्रसिद्ध अर्थ है। अब यदि यह कहें कि 'यह नौकर गधा है' तो यहाँ गधे का अर्थ साक्षात् संकेतित नहीं होगा। क्योंकि इसमें अभीष्ट अभिप्राय की सिद्धि के लिये सादृश्य के आधार पर अप्रसिद्ध अर्थ से इसका सम्बन्ध जोड़ा गया है। यहाँ प्रसिद्ध अर्थ के साथ परम्परा सम्बन्ध के आधार पर दूसरे अर्थ में यह संकेतग्रहण करना पड़ता है। अतः 'गधा' शब्द का जानवर के अर्थ में साक्षात् संकेत है और दूसरे 'गँवार' अर्थ में असाक्षात् संकेत या परम्परा-संकेत।

संसार में जितने शब्द व्यवहार में प्रचलित हैं वे सब के सब भिन्न-भिन्न वस्तुओं के निश्चित नाम ही हैं। वे ही वाचक शब्द के नाम से अभिहित होते हैं। वाचक शब्दों का अपना अपना अर्थ उन-उन वस्तुओं के साथ संकेत-ग्रहण—शब्दों के निश्चित सम्बन्धज्ञान—पर निर्भर रहता है। वस्तु का आकार-प्रकार इस सम्बन्ध-ज्ञान का बहुत कुछ नियामक है।

व्यवहार में देखा जाता है कि संकेत के सहारे ही शब्द अपना अर्थ-बोध करता है। किसी अबोध बालक को कोई वाक्य सुनायी पड़ता

---

1 साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः। काव्यप्रकाश

है तो वह उस वाक्य के शब्दों का अलग अलग अर्थ न समझ कर समुदाय का ही अर्थग्रहण करता है । अनन्तर वाक्य के शब्दों का वाक्यान्तर में प्रयोग और त्याग देखकर बालक अलग-अलग अर्थ जानने लगता है। उसे उन भिन्न-भिन्न शब्दों से पृथक्-पृथक् अर्थ का संकेत-ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार वस्तु के निश्चित रूप के बोधक शब्द वाचक श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। जैसे, बाप ने बेटे से कहा 'लोटा लाओ'। वहीं बैठे हुए एक अबोध बालक ने देखा कि जिससे कहा गया है वह लाने जा रहा है और एक खुले मुँह का गोलमटोल बर्तन एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचा रहा है । इससे वह पहले इस समूचे वाक्य से जो अर्थ प्रतीत होता है उसको तो जान लेता है, पर एक-एक शब्द का अलग-अलग कोई मतलब नहीं समझता । फिर, जब बाप ने बेटे से कहा—'लोटा रख दो' और 'गिलास लाओ' तब बालक इन वाक्यों में प्रयुक्त 'रख दो' और 'लाओ' शब्दों के अर्थभूत पृथक्-पृथक् व्यापारों को देखकर 'रखना' और 'लाना' का, लोटा और गिलास का संकेतग्रहण करता है।

इस प्रकार संकेत और उसके ज्ञान की सहायता से शब्द का अर्थ-बोध होता है । यह संकेतग्रहण व्यवहार से हुआ जो संकेतग्राहकों में प्रधान है।

इसी प्रकार संकेतग्रहण—शब्द और अर्थ का सम्बन्धज्ञान—१ व्याकरण २ उपमान ३ कोष ४ आप्तवाक्य अर्थात् यथार्थ वक्ता का कथन ५ व्यवहार ६ प्रसिद्ध पद का सान्निध्य ७ वाक्यशेष ८ विवृति आदि अनेक कारणों से होता है।

१ व्याकरण से—जैसे, लौकिक, साहित्यिक, लठैत, लोहारिन शब्दों के क्रमशः ये अर्थ होते हैं—लोक में उत्पन्न, साहित्य का ज्ञाता, लाठी चलाने वाला और लोहार की स्त्री। ये अर्थ शब्दशास्त्रियों को सहज ही ज्ञात हो जा सकते हैं। कारण, वे प्रकृति-प्रत्यय के योग को जानकर व्याकरण से संकेतग्रहण कर लेते हैं।

२ उपमान से—उपमान का अर्थ है सादृश्य, समानता, मेल, बराबरी आदि। इससे भी संकेतग्रहण होता है । जैसे, जई जौ के समान होती है। इस उपमान से 'जौ' का जानकार और 'जई' को न जाननेवाला

१ शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च ।
साक्षिध्यतः सिद्धपदस्य धीरा वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति ॥ मुक्तावली

व्यक्ति 'जई' के 'जौ' के समान होने से 'जई' को देखते ही सहज ही उसे पहचान लेगा। ऐसे ही नील गाय को न जानने वाला, यह जानते हुए कि वह गाय जैसो होती है, उसे जंगल में देखते ही जान जायगा कि यह नील गाय है।

३ कोष से—जैसे, देवासुर-संग्राम में निर्जरों ने विजय पायी। इस वाक्य में 'निर्जर' का अर्थ देवता है। यह सङ्केतग्रहण कोष से होता है। जैसे, 'अमरा निर्जरा देवाः'। अमरकोष

४ आप्तवाक्य से—अर्थात् प्रामाणिक वक्ता के कथन से। जैसे, किसी देहाती को, जिसने रेडियो कभी नहीं देखा है, रेडियो दिखाकर कोई प्रामाणिक पुरुष कहे कि यह रेडियो है तो उसे रेडियो शब्द से रेडियो के रूप का संकेत-ग्रहण हो जायगा। इसी प्रकार शब्दों से अपरिचित वस्तुओं के परिचय कराने में आप्तवाक्य कारण होते हैं।

५ व्यवहार से—इसका उदाहरण पहले ही दिया जा चुका है। व्यवहार ही वस्तुओं और उनके वाचक का सम्बन्ध जानने में सर्व-प्रथम और सर्वव्यापक कारण है। नन्हें नन्हें दुधमुँहे बच्चे मा की गोद से ही वस्तुओं का जो परिचय आरम्भ करते हैं उसमें किसी वस्तु के लिये किसी शब्द का व्यवहार ही उनके शक्तिग्रहण का कारण वा पदार्थ-परिचायक होता है।

६ प्रसिद्ध पद के सान्निध्य से अर्थात् साथ होने से—जैसे, मद्यशाला में मधु पीकर सभी मदमत्त हो गये। इस वाक्य में प्रसिद्ध पद 'मद्य-शाला' और 'मदमत्त' से 'मधु' का अर्थ मदिरा ही होगा, शहद नहीं। यहाँ प्रसिद्ध शब्दों के साहचर्य्य से ही सङ्केतग्रहण है।

प्रसिद्ध पद के सान्निध्य से केवल द्व्यर्थक शब्दों का ही संकेतग्रहण नहीं होता, बल्कि अज्ञात शब्द का भी संकेतग्रह हो जाता है। जैसे, सावन में घटा घिरने पर 'केकी' पर फैलाकर नाचते हैं। इसमें अन्य परिचित शब्दों के साथ रहने से स्वभावतः 'केकी' का अर्थ 'मोर' भासित हो जाता है।

ऐसे ही प्रसिद्ध-पद-सान्निध्य से विकृत शब्द का भी शक्तिग्रह होता है। जैसे,

हम बालक अज्ञान अहैं प्रभु अति चञ्चल परकीती। प्र० ना० मिश्र

यहाँ परकीती शब्द शुद्ध नहीं है। इसका तद्भव रूप है 'परकृति'। जैसे,

ऐसेई जन दूत कहावत।

ऐसी परकृति परति छाँह की जुबतिन जोग बुझावत। सूरदास

यह रूप भी बिगड़ कर 'परकीती' हो गया है। शुद्ध शब्द है प्रकृति'। इसका अर्थ-बोध 'बालक' और 'चञ्चल' शब्दों के सान्निध्य से ही होता है।

५ **वाक्य के शेष से**—अर्थात् एकत्र कथित वाक्य के किसी संदिग्ध पद के अर्थ के निर्णायक, उसी वाक्य से सम्बन्ध रखने वाले उस शेष अंश से (जिससे कथित वाक्य का अर्थ स्पष्ट हो जाय)। जैसे, तुलसीदास ने रामायण के उत्तरकाण्ड में जहाँ ज्ञानदीपक का रूपक बाँधा हैं वहाँ लिखा है—

"तीनि अवस्था तीनि गुन, तेहि कपास ते काढ़ि।

अर्थात् उस कपास से जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति रूपी तीन डोरे निकाल कर इत्यादि। इस प्रसङ्ग में कहीं कपास का नाम नहीं आया है, पर गोस्वामी जी लिखते हैं 'तेहि कपास ते' अर्थात् 'उस कपास से'। अब कपास का बोध वाक्य-शेष से होता है जैसा कि उन्होंने बालकाण्ड के आरम्भ में लिखा है—

"साधु चरित सुभ सरिस कपासू"

अर्थात् कपास से तात्पर्य है साधु चरित का।

८ **विवृति से—विवरण या टीका से**—जैसे, पद-पदार्थ के सम्बन्ध को 'अभिधा' कहते हैं जो शब्द की एक शक्ति है। इस वाक्य से अभिधा का स्पष्ट संकेतग्रह हो जाता है।

समानार्थक शब्दों के प्रयोग से भी विवृति होती है—जैसे, 'मार्तण्ड' अर्थात् 'सूर्य'। इसमें सूर्य से मार्तण्ड का अर्थ ज्ञात होगया।

इस प्रकरण में यह जान लेना आवश्यक है कि कुछ पदों के अनेक अर्थ होते हैं। उन पदों में ऐसी संकेतित शक्ति रहती है कि वे अनेक अर्थों के समान रूपसे वाचक हो जाते हैं। ऐसे अनेकार्थक पदों के अर्थ का निश्चय परिस्थिति से अर्थात् वाक्यार्थ की सङ्गति से किया जाता है। इसके संयोग आदि अनेक कारण हैं जिनके सोदाहरण विवरण अभिधा-मूलक व्यञ्जना में दिये जाँयगे।

नवीं किरण

वाचक शब्द के भेद

सृष्टि के जितने शब्द हैं उनमें जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य, इनमें से किसी न किसी की अभिधा अर्थात् संकेतितार्थ की वाचकता अवश्य रहती है। इसीसे ये जाति आदि उनके अर्थ होते हैं। ये ही संकेतग्रह के विषय हैं। इस प्रकार इनके वाचक शब्दों के चार भेद होते हैं जिन्हें अभिधा के इन मुख्य अभिधेयों के अभिधायक भी कह सकते हैं। [1]वे हैं—१ जाति वाचक शब्द २ गुणवाचक शब्द ३ क्रियावाचक शब्द और ४ द्रव्यवाचक (यदृच्छावाचक) शब्द।

१ जातिवाचक शब्द वह है जो स्ववाच्य समस्त जाति का बोध करता है।

जातिवाचक शब्द का अर्थक्षेत्र बहुत व्यापक होता है। उसका [2]एक व्यक्ति में संकेतग्रह हो जाने से जाति भर का परिचय सरल हो जाता है। जैसे, 'आम'। यदि आम कहीं एक बार भी देख लिया—पहचान लिया—तो उस आकृति के दूसरे सारे आम—छोटे-बड़े, कच्चे-पके, गोल-लम्बे, लाल-पीले, सब पहचान लिये जा सकते हैं। क्योंकि, आम्रत्व या आमपन तो सर्वत्र एक ही रहेगा। कारण यह है कि जाति का व्यक्तियों से नित्य सम्बन्ध रहता है। जिस व्यक्ति में पहले पहल संकेतग्रह होता है उसको छोड़ कर तत्सजातीय दूसरे व्यक्तियों के संकेतग्रह में पहले धर्म वा उपाधि का ही ज्ञान होना चाहिए। जाति या उपाधि-ज्ञान के अनन्तर इसीसे इसके धर्मी अन्य आम आदि वस्तुओं का भी बोध हो जाता है।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि काव्य में जाति का भान उतना अपेक्षित नहीं होता जितना व्यक्ति का भान। जब तक वर्णनीय व्यक्ति का चित्र मानस दृष्टि के सामने उपस्थित नहीं होता तब तक उसमें रमणीयता नहीं आती और काव्य के लिये चाहिये रमणीयार्थ की

---

१ जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चेति। **महाभाष्य**

२ आकृतिग्रहणा जातिः। **कौमुदी**

प्रतिपादकता। जाति-मात्र का इतना धुँधला भान होता है कि उसके द्वारा वस्तु का कोई चित्र ही नहीं चित्रित हो सकता।

कुछ जातिवाचक शब्द व्यक्तिवाचक शब्द के समान व्यवहृत होते हैं। जैसे, देवी। यह देव मात्र की स्त्री का बोध न करके दुर्गा—भगवती का बोधक है। ऐसे ही पुरी, गुसाँई, महात्मा आदि शब्द हैं जो जातिवाचक होकर जगन्नाथधाम, तुलसीदास और गाँधीजी के बोधक बन गये हैं।

२ गुणवाचक शब्द प्रायः विशेषण होता है।

द्रव्य में गुण अर्थात् उसकी विशेषता (जिसके आधार पर एक जाति के व्यक्तियों में भी भिन्नता आ जाती है) बताने वाला भेदक होता है। [3]वह संज्ञा, जाति तथा क्रिया शब्दों से भिन्न होता है। द्रव्य को छोड़कर उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। वह नियमतः पराश्रित ही रहता है। उससे वस्तु आदि का उत्कर्ष, अपकर्ष आदि समझा जाता है। जैसे, कच्चा, पका, हरा, पीला आदि। केवल आम कहने से साधारणतः आम का बोध होगा; कच्चा या पका आदि विशेष गुण से युक्त आम का नहीं। यदि आम को कच्चा या पका, कुछ विशेष गुण के साथ कह दें तो उस गुण का आम अपनी साधारण जाति के आमों से भिन्न होकर विशिष्ट रूप से पृथक् ज्ञात होने लगेगा।

यदि यही गुणवाचक शब्द एक व्यक्ति के वाचक का विशेषण होकर आता है तो द्रव्य की विशेषतामात्र बताता है अपने सजातीय से भेद नहीं बताता। क्योंकि, उसके जाति नहीं होती। यहाँ साधारणतः द्रव्य के विशेष रूप को प्रतीत कराना ही अभीष्ट होता है। जैसे, अरुण सूर्य या तरुण सूर्य। सूर्य एक है। अरुणता और तरुणता प्रातः, सायं तथा मध्याह्न काल की भिन्न-भिन्न अवस्था बोधित करती है।

३ क्रियावाचक शब्द क्रिया को निमित्त मानकर प्रवृत्त होता है।

ऐसे शब्द में क्रिया के आदि से अन्त तक का व्यापार-समूह अन्तर्हित रहता है। जैसे, हास-परिहास। यहाँ हँसने में होठों का हिलना,

---

३. संज्ञाजातिक्रियाशब्दान् हित्वाऽन्ये गुणवाचिनः। **तत्त्वबोधिनी**

खुलना, दाँतों का दिखाई पड़ना और छिप जाना, मीठी-सी हल्की ध्वनि का निकलना, यह समस्त[1] व्यापार होता है।

धातुज शब्द और धातुओं के रूप भी इसी श्रेणी के हैं। जैसे, पाचक, पाठक, अरिन्दम, लेन-देन, उठो, बैठो, चले, जायँ आदि। क्रियावाचक के खरारि आदि जो उदाहरण दिये जाते हैं वे क्रियावाचक न होने के कारण असंगत हैं।

४ द्रव्यवाचक शब्द केवल एक व्यक्ति का बोधक होता है।

यह वक्ता की इच्छा से वस्तु वा व्यक्ति के लिये संकेतित होता है। संकेत करते हुए वक्ता कभी २ द्रव्य की कुछ विशेषताओं को लक्ष्य करके संज्ञा देता है और कभी बिना किसी विचार के योंही कुछ नाम धर देता है। जैसे, चन्द्रमा, सूर्य, हिमालय, भारत, महेश आदि या नत्थू, घीसू, घुरहू, नीलरत्न, फणिभूषण, उदयसरोज, मुरलीधर आदि। इस श्रेणी के शब्द केवल एक वस्तु के वाचक होते हैं। जो कोई जिसका जो नाम धर दे, वही उसका संकेत है। इसीसे ये पिछले शब्द यदृच्छावाचक शब्द कहलाते हैं। एक-व्यक्ति-वृत्ति सखण्डोपाधि या अखण्डोपाधि को भी परिच्छेदक होने की दृष्टि से जाति के भीतर ही संगृहीत समझना चाहिये। जैसे, सूर्यत्व, हिमालयत्व आदि।

नाम और संज्ञा में एक प्रकार का अन्तर है। जैसे, नाम 'कुक्कुट' है, और 'ताम्रचूड़', 'अरुणसिखा' संज्ञा है।

हिन्दी के वैयाकरणों ने पृथक् रूप से शब्द का एक भाववाचक भेद किया है जो अनावश्यक है। क्योंकि, जातिवाचक और क्रिया-वाचक शब्दों में ही सुन्दरता, अभिप्राय, कृति, कीर्ति आदि शब्दों का अन्तर्भाव हो जाता है।

[2] पदों की वृत्ति पाँच प्रकार की होती है—१ सुबृत्ति २ समास-वृत्ति ३ तद्धित वृत्ति, ४ तिङ्वृत्ति और ५ कृद्वृत्ति।

सुबृत्ति के भी पाँच प्रकार होते हैं—१ जातिवाचक—गाय, घोड़ा आदि २ गुणवाचक—श्वेत, कृष्ण आदि ३ द्रव्य (व्यक्ति) वाचक—

---

१ गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ॥
बुद्धया प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥ **वाक्यपदीय**

२ काव्यमीमांसा।

काल, आकाश, दिक् आदि ४ असत्त्ववाचक (जो किसी वस्तु का वाचक नहीं है)—जैसे, प्र आदि उपसर्ग और वाह आदि निपात। ५ कर्मप्रवचनीय—हिन्दी में प्रति, को, पर आदि इसके उदाहरण हैं।

अभिधा शक्ति से बोध्य होने के कारण वाचक शब्द के अर्थ को अभिधेयार्थ भी कहते हैं।

दशवीं किरण

अभिधा वा अभिधा शक्ति

[1]साक्षात् संकेतित अर्थ के बोधक व्यापार को अभिधा कहते हैं। अथवा, [2]मुख्य अर्थ की बोधिका शब्द की प्रथमा शक्ति का नाम अभिधा है।

इसी अभिधा शक्ति से पद-पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का रूप खड़ा होता है। यह कैसे होता है, यह भी जान लेना आवश्यक है।

[3]यह एक नियम है कि एक सम्बन्धो का ज्ञान होने से दूसरे सम्बन्धी का भी ज्ञान हो जाता है। जैसे, मोहन की मोहनी मूरत देखते ही उनकी मधुर मुरली का स्मरण हो आता है वैसे हो किसी का नाम सुनते ही तत्सम्बन्धी वस्तुओं का स्मरण हो आता है या किसी की वस्तुओं को देखकर उसका नाम स्मरण हो आता है। इसी नियम से सम्बन्धरूप अभिधा शक्ति के द्वारा शक्त शब्दों से शक्य—शक्तिलभ्य अर्थों की प्रतीति हो जाती है।

अभिधा शक्ति द्वारा जिन वाचक वा शक्त शब्दों का अर्थ-बोध होता है वे १ समूह-शक्ति-बोधक २ अङ्ग-शक्ति-बोधक ३ समूहाङ्ग-मिलित-शक्ति-बोधक होने से तीन प्रकार के होते हैं। उन्हें क्रमशः रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ भी कहते हैं।

---

१ तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा। **साहित्य-दर्पण**

२ शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता। **अभिधावृत्तिमातृका**

३ पदज्ञानस्य हि एकसम्बन्धिज्ञानविधयार्थस्मारकत्वम्। **मुक्तावली**

१ समूहशक्तिबोधक वा रूढ़ वह शब्द है जिसकी व्युत्पत्ति नहीं होती।

रूढ़ शब्द के [1]प्रकृति-प्रत्यय-रूप अवयवों का या तो कुछ अर्थ नहीं हो सकता या होने पर भी संगत प्रतीत नहीं हो सकता। जैसे, मणि, नूपुर आदि या जैसे, मण्डप आदि। मणि शब्द में प्रकृति-प्रत्यय की निराधार कल्पना हो सकती है जो नहीं के बराबर है। मण्डप शब्द की व्युत्पत्ति 'मण्डं पिबति' (जो माँड पीता है) हो सकती है पर कोई मण्डप माँड पीता हुआ नहीं देखा गया। इसी प्रकार पेड़, पौधा, घड़ा, घोड़ा आदि हिन्दी शब्द हैं। इससे रूढ़ि में[2] अखण्ड शक्ति से अर्थ-प्रतिपादन तथा प्रकृतिप्रत्ययार्थ की अनपेक्षा ही प्रधान है।

२ अंग-शक्ति-बोधक वा यौगिक शब्द वह है जिसमें प्रकृति और प्रत्यय का योग—सम्मिलन होकर अवयवार्थ-सहित समुदायार्थ की प्रतीति हो।

ऐसे शब्दों से [3]यौगिक अर्थ की ही प्रतीति होती है। जैसे, 'पाचक' और 'भूपति'। 'पाचक' में 'पच्' का अर्थ पकाना और 'अक' का अर्थ करनेवाला है। दोनों का सम्मिलित अर्थ 'पकानेवाला' होता है। 'भूपति' में 'भू' का अर्थ पृथ्वी और 'पति' का अर्थ मालिक है। किन्तु, एक साथ इनका अर्थ राजा वा जमीन्दार होता है। ऐसे ही धनवान्, पाठशाला, मिठाईवाला आदि शब्द हैं।

३ समूहाङ्गशक्तिबोधक या योगरूढ़ शब्द वह है जिसमें अङ्ग-शक्ति और समूह-शक्ति का योग तथा रूढ़ि, दोनों का सम्मिश्रण हो।[4]

यौगिक शब्दों के समान अवयवार्थ रखते हुए योगरूढ़ किसी विशेष अर्थ का वाचक होता है। जैसे,

---

१ प्रकृतिप्रत्ययार्थमनपेक्ष्य शाब्दबोधजनकः शब्दः रूढ़ः। **शब्दकल्पद्रुम**

२ अखण्डशक्तिमात्रेणैकार्थप्रतिपादकत्वं रूढ़िः। **वृत्तिवार्तिक**

३ अवयवशक्तिमात्रसापेक्षं पदस्यैकार्थप्रतिपादकत्वं योगः। **वृत्तिवार्तिक**

४ अवयवसमुदायोभयशक्तिसापेक्षमेकार्थप्रतिपादकत्वं योगरूढिः। **वृत्तिवार्तिक**

जेहि सुमिरत सिधि होय, गणनायक करिबरबदन। तुलसी

इसमें 'गणनायक' केवल गणेश ही का बोधक है, अन्य किसी गणनेता का नहीं। यहाँ 'गण' तथा 'नायक' दोनों अपने पृथक् अर्थ भी रखते हैं।

का देउँ पूरणकाम 'शङ्कर' चरण 'पङ्कज' गहि रह्यो। तुलसी

इसमें 'शङ्कर' और 'पङ्कज' शब्द भी ऐसे ही योगरूढ़ हैं। पङ्कज के अतिरिक्त पङ्क में जन्म लेनेवाले शङ्ख, सिवार, सीपी आदि अनेक पदार्थ हैं। किन्तु पङ्कज शब्द केवल कमल का ही बोध करता है। क्योंकि, यह शब्द कमल में ही रूढ़ है। शङ्कर सभी कल्याणकारक देवताओं को कहा जा सकता है। किन्तु शङ्कर केवल शिव का ही बोधक है। ऐसे ही मनोभव, वारिद, वनमाली, चक्रपाणि, महादेव आदि शब्द हैं। इन सब शब्दों में अवयवार्थ है और उसके साथ होकर रूढ़ि भी है।

४ यौगिकरूढ़ संज्ञा वह है जिसमें यौगिकार्थ और रूढ्यर्थ का स्वतन्त्रता से अर्थात् परस्परनिरपेक्ष पृथक् पृथक् बोध होता हो।

[1]यह रूढ़ि, यौगिक और योगरूढ़ि के अतिरिक्त शक्त पद का चौथा भेद है। अभिप्राय यह है कि जो शब्द कहीं केवल यौगिक अर्थ को लेकर प्रयुक्त होता हो और कहीं यौगिक अर्थ की कुछ भी संगति न रहने पर केवल रूढ़ि से प्रयुक्त होता हो वह यौगिकरूढ़ है। उद्भिद् शब्द को लीजिये। इस शब्द से जैसे उद्भेदनकारी पेड़-पौधों का बोध होता है वैसे ही [2]यज्ञविशेष का और वैसे ही सींग का भी। क्योंकि वह भी तो फोड़कर ही निकलता है। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी हैं। जैसे, अश्वगन्धा। [3]अश्वगन्धा वाजिशाला—घुड़साल—को भी कहते हैं और ओषधिविशेष (असगंध) को भी। यह शब्द वाजिशाला के अर्थ में यौगिक है और असगंध के अर्थ में रूढ़। इसी प्रकार मण्डप, निशान्त, अश्वकर्ण आदि भी यौगिकरूढ़ माने जा सकते हैं। क्योंकि मण्डप माँड पीने वाले के अर्थ में यौगिक और मँडवा के अर्थ में रूढ़ है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

---

१ 'सिद्धान्तमुक्तावली' शब्दखण्ड।

२ उद्भिदा यजेत पशुकामः। न्यायमाला

३ रसगङ्गाधर—अभिधाप्रकरण।

यौगिकरूढ़ में शब्द जैसे एकत्र यौगिक और अन्यत्र रूढ़ रहता है वैसे ही एकत्र यौगिक और अन्यत्र योगरूढ़ भी हो सकता है। जैसे—

करि अबलन कौ श्रीहरण वारिवाह कौ संग।
घर करतीं जँह चञ्चला आयौ समै कुढंग॥ **अनुवाद**

यहाँ अबलन और वारिवाह योगशक्ति से निर्बलों और पानी ढोने वाले कहार के बोधक हैं पर योगरूढ़ शक्ति से स्त्रियों और मेघों को ही बताते हैं।

ग्यारहवीं किरण

अभिधा की सार्वभौमिकता

तीनों शक्तियों या वृत्तियों में अभिधा ही सर्वोपरि है। इसीसे इसका नाम[1] मुख्या या अग्रिमा भी है।

लक्षणा से तो इसका सीधा सम्बन्ध है ही, जैसा कि इसके लक्षण में उक्त मुख्यार्थ का सम्बन्ध माना गया है। इसीसे अनेकों ने तो [2]वाच्यार्थ के सम्बन्ध को ही लक्षणा कह दिया है। अर्थात्, लक्ष्यार्थ केवल पद का आधार लेकर ही उपस्थित नहीं होता, बल्कि पद-वाच्य अर्थ से सम्बन्ध रखकर प्रतीत होता है।

[3]मुकुलभट्ट अभिधा की स्थिति से लक्षणा की स्थिति पृथक् नहीं मानते।

अभिधा ही व्यञ्जना का भी मूल है। जब लक्षणा से प्रकरण सापेक्ष उपपन्न अर्थ उपलब्ध नहीं होता तब इसी अभिधा के बल पर व्यञ्जना अभिप्रेत अर्थ व्यञ्जित करती है। इसीसे ध्वनिकार का कहना है कि—

[4]"प्रकाश चाहने वाला जैसे प्रकाश के कारण-स्वरूप दीपशिखा के लिये प्रयत्न

---

१ तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा। **साहित्यदर्पण**

२ लक्षणा शक्यसम्बन्धः। **मुक्तावली**

३ अत्र हि स्वार्थद्वारेण लक्ष्यमाणार्थाभिनिवेशिता
शब्दानामुक्ता। **अभिधावृत्तिमातृका**

४ आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः।
यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाक्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः। **ध्वन्यालोक**

करता है उसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ के इच्छुकों को व्यङ्ग्यार्थ के जनक अभिधेयार्थ—वाच्यार्थ—के लिये प्रयत्न करना चाहिये। यही नहीं, वे वाक्यार्थ-बोध में पदार्थोपस्थिति को जैसे कारण मानते हैं वैसे ही व्यङ्ग्यार्थ-बोध के लिये वाच्य-प्रतीति को भी कारण मानते हैं।

अन्य आचार्य वाच्यार्थ के विषय में कहते हैं कि जैसे [1]बाण का व्यापार उत्तरोत्तर विद्ध करते जाना है वैसे ही जहाँ तक शब्द द्वारा अर्थ-बोध हो सकता है वहाँ तक अभिधा ही का व्यापार क्यों न स्वीकृत किया जाय, व्यञ्जना मानने की क्या आवश्यकता ?

हम इस मत के समर्थक नहीं हैं। प्रसङ्गतः मैंने इसका उल्लेख इस दृष्टि से कर दिया है कि प्राचीन आचार्यों ने अभिधा शक्ति की कितनी दूरव्यापी कल्पना की थी !

महाकवि देव ने तो निम्नलिखित दोहा लिखकर अभिधा को आकाश पर ही बैठा दिया है।

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणालीन ॥
अधम व्यञ्जना रसविरस, उलटी कहत प्रवीन॥ देव

आधुनिक अभिव्यञ्जना का सूत्र इसमें छिपा हुआ है। संभव है, देव को अभिव्यञ्जना-वैचित्र्य के कारण ही अभिधा को उत्तम काव्य कहने की भावना हो गयी हो। चाहे जो कुछ हो, यह भ्रान्त धारणा हिन्दी साहित्य में किसी प्रकार बद्धमूल हो न सकी।

आचार्य शुक्ल कहते हैं:—

"यह स्पष्ट है कि लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ भी योग्यता या उपयुक्तता को पहुँचा हुआ, समझ में आने योग्य रूप में आया हुआ अर्थ ही होता है। अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यञ्जना द्वारा योग्य और बुद्धिग्राह्य रूप में परिणत होकर हमारे सामने आता है[2]।"

इसीका अनुरणनरूप निम्नलिखित यह विचार भी है। इससे शुक्लजी का आशय और स्पष्ट हो जाता है।

"साहित्य-शास्त्र के विधाताओं ने वाच्यार्थ से अधिक महत्त्व व्यङ्ग्यार्थ को तथा लक्ष्यार्थ को दिया है, पर यथार्थ रस तो वाच्यार्थ ही देता है। शब्द की इन

---

१ "सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः। यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति"।
काव्यप्रकाश

२ इन्दौर का भाषण

तीनों शक्तियों का अन्तिम उद्देश्य तथ्यबोध है ; किन्तु इसी बोधवृत्ति को प्राप्त करने के लिए हमें भिन्न-भिन्न दिशाओं से जाना पड़ता है। 'देश के लिए मर कर जीना सीखो'—इसमें लक्षणा कष्ट सहेन का आदेश देती है, पर अभिधा तो लक्षणा के आदेश के साथ ही अतिरिक्त आनन्द भी देती है जो काव्य की वास्तविकता है। 'मर कर भी जीने' के बदले 'कष्ट सहकर जीने' में काव्य की दृष्टि से आकाश-पाताल का अन्तर पड़ जाता है। मरकर जीना बुद्धि को अग्राह्य है, परन्तु अभिधा की इसी अग्राह्यता में काव्य का वास्तविक अर्थबोध है, इसे कौन अस्वीकृत करेगा" ?[२]

जिस प्रकार वाच्यार्थ संगत होकर अपनी जननी अभिधा के बल से अनेकानेक रमणीय चित्र उपस्थित करता है उसी प्रकार व्याहत होकर भी वह बड़े बड़े चमत्कार दिखाता है। वस्तुतः उसका व्याहत होना ही लक्षणा या अंशतः व्यञ्जना के उदय का कारण होता है। जो आहत होकर भी इतना बल रखता है उसके वैभव का क्या वर्णन किया जाय !

बारहवीं किरण

शक्त शब्दों का सुप्रयोग

प्रारम्भ ही में शब्द के सम्यग् ज्ञान और उसके सुष्ठु प्रयोग की बात कही गयी है। उक्त आर्ष वचन का अभिप्राय है शब्द का सम्यक् प्रकार से अर्थात् किस शब्द का कैसे निर्माण हुआ है, उसकी प्रकृति या प्रत्यय का क्या अर्थ है, उस शब्द के कितने अर्थ होते हैं, इत्यादि का अभिज्ञान होना और शब्द का सुष्ठु प्रयोग अर्थात् समानार्थक जितने प्रयोगार्ह शब्द हैं उनमें कौन सा सुन्दर शब्द विषयानुकूल तथा प्रसंगानुकूल है या कौन अभिप्रेत अभिप्राय की अभिव्यक्ति में समर्थ है उसका प्रयोग करना। शब्द का सम्यक् ज्ञान और शब्द का सुन्दर प्रयोग समादर की वस्तु है ; साहित्यिकों के चिन्तन-मनन का विषय है ।

जब तक हम शब्द के वास्तविक महत्त्व को नहीं समझते, उसकी यथार्थता से परिचय नहीं बढ़ा लेते, उसके औचित्य का विचक्षणता से विचार नहीं कर लेते, यथोचित स्थान पर यथोचित रीति से प्रयुक्त शब्द

---

२ 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त'।

के अभीप्सित अर्थ की साधिका शक्ति का मर्मग्रहण नहीं कर लेते तब तक हमारी रचना न तो आकर्षक हो सकती है और न प्रभावोत्पादक। सारांश यह कि बिना शब्दों के सम्यक् ज्ञान और सुप्रयोग के न तो हम सृजन कर सकते हैं, न उसमें चमत्कार ला सकते हैं और न शब्दों के बल पर कुछ कर ही सकते हैं। एक दो उदाहरण लें।

'भ्रमर तुम मधु के चाखनहार'

इसमें भ्रमर शब्द का सुष्ठु प्रयोग है। भ्रमर भ्रमणशील है, अतः यत्र-तत्र मधु का चाखनहार हो सकता है। यह उक्ति मार्मिकता से परिपूर्ण है और इसमें गूढ़ व्यङ्ग्य है। यदि भ्रमर के स्थान पर 'द्विरेफ' का प्रयोग कर दिया जाय तो प्रकारान्तर से दो रेफ वाले भ्रमर का बोध हो जायगा। फिर भी 'मधु के चाखन हार' के प्रसङ्ग में वाचक भ्रमर लक्षक द्विरेफ से कहीं अधिक मूल्यवान है।

'आवो प्रलय करो हे शङ्कर'

शङ्कर का अर्थ है कल्याणकर। प्रलय के लिये इस नाम से शिव का आह्वान सुप्रयोग नहीं कहा जा सकता। प्रलय के लिये प्रलयंकर रुद्र का आह्वान ही समुचित है। ऐसे स्थान पर 'आवो प्रलय करो प्रलयंकर' लिखना सार्थक है।

'अधम उधारन जो होतो ना तिहारो नाम
और की न जाने पाप हम तो न करते।'

जो पाप करने वाला है वह पापी और अधम है। अधम अपने उद्धार के लिये परमात्मा की 'अधम-उधारन' शब्द से जो पुकार करता है वह सार्थक और सुप्रयोग करता है। क्योंकि वह अपने अधम-उधारन से अपना उद्धार चाहता है। यदि 'अधम-उधारन' के स्थान पर 'बिपत-बिदारन' शब्द का प्रयोग कवि करता तो वह भरती का शब्द होता। क्योंकि यहाँ 'बिपत-बिदारन' से पाप करने वाले का कोई उचित सम्बन्ध ही नहीं है।

एक फूल के फूलने की कई अवस्थायें होती हैं। सभी अवस्थाओं के लिये एक ही क्रियावाचक शब्द का व्यवहार साहित्यिक दृष्टिकोण से शब्द का सम्यक् ज्ञान और सुप्रयोग नहीं कहा जायगा। फूल के फूलने की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के द्योतक मुकुलित, अविकसित, अर्धविकसित, विकसित, स्फुटित आदि तथा फुल्ल, उत्फुल्ल, प्रफुल्ल, संफुल्ल आदि शब्द

हैं। इनके यथायथ अवस्था-द्योतक प्रयोग ही प्रयोक्ता के सम्यक् ज्ञान और सुप्रयोग के निदर्शक होते हैं।

ऐसे ही हर्ष की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के द्योतक मुत्, प्रमद, संमद, आमोद, प्रमोद आदि शब्द हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि शब्दों का सम्यग्ज्ञान और सुप्रयोग क्या वस्तु है। हमारे सुप्रयोग ही अभीप्सित अर्थ के प्रकाशक होते हैं और उक्ति में प्रभावशालिता, रमणीयता और चमत्कारिता लाते हैं।

जब शब्दों का सम्यक् ज्ञानपूर्वक प्रयोग किया जाता है तो शब्दों का ही नहीं, अर्थों का भी साथ ही साथ सुप्रयोग होता है। क्योंकि एक का रूप बाह्य है और दूसरे का आभ्यन्तर। दोनों का—शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। ये ऐसे सम्पृक्त हैं कि एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं हो सकते। सम्यगभिज्ञात शब्दों के सुप्रयोग से हम एक ही आशय को भिन्न भिन्न रूपों से भी व्यक्त कर सकते हैं। इन अभिव्यञ्जना-प्रणालियों का आश्रय लेने का एकमात्र कारण यही है कि अपने आशय को कैसे प्रभावोत्पादक बनाया जाय। एक उदाहरण लें—

'वह मर गया' के वाक्यार्थ को इतने प्रकार से या इससे भी अधिक प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है। जैसे—

उसकी मौत हो गयी। उसका परलोक-वास हो गया। उसने इस संसार को छोड़ दिया। उसकी संसार-लीला समाप्त हो गयी। उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। उसने शरीर छोड़ दिया। उसको पञ्चत्व प्राप्त हो गया। वह काल के गाल में समा गया। उसका जीवन-प्रदीप बुझ गया। वह संसार से उठ गया। उसे गंगालाभ हो गया। उसने स्वर्ग की यात्रा की। वह यमराज का अतिथि हुआ। वह चल बसा आदि।

यह बतलाना आवश्यक नहीं कि किन वाक्यों में क्या आकर्षण है और किनमें क्या प्रभावोत्पादकता। बात एक ही है, कहने के ढंग निराले हैं। आत्मा एक है और शरीर अनेक हैं।

शब्द के सम्यग्ज्ञाता और सुप्रयोक्ता शाब्दिक ही नहीं, साहित्यिक भी होते हैं। शाब्दिक प्रयोक्ता शब्दार्थ को ही मुख्यता देता है, पर साहित्यिक उसकी प्रभविष्णुता के साथ साथ रमणीयता और रागात्मकता के ऊपर भी दृष्टि रखता है। क्योंकि उसे श्रोता को संवेदनशील बनाने के अतिरिक्त अनुरंजित करना भी अभीष्ट होता है। इसके लिये वह अभिव्यक्ति-कौशल के साथ हो, शब्दार्थों को सब भाँति अलंकृत कर

संसार के सम्मुख रखता है जिससे सहृदयों का मनोरंजन कर सके। यही नहीं, वह भावानुकूल भाषा की सृष्टि भी करता है। सुन्दर, श्रुति-मधुर छन्दों का आश्रय लेता है। भावों को बोधगम्य बनाने के लिये प्रसाद गुण का ग्रहण करता है। परिमित शब्दों में वर्णनीय विषय का सुन्दर तथा सजीव चित्र खींच देने की चेष्टा करता है और चमत्कार लाकर आकर्षण पैदा कर देता है। एक प्रसिद्ध उदाहरण लें—

शाब्दिक जिस अर्थ को 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' कहकर व्यक्त करता है उसीको साहित्यिक 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः' कहकर। दोनों एक ही अर्थ के द्योतक हैं, परन्तु दोनों के द्योतन में आकाश-पाताल का अन्तर है। इन प्रयोगों से ही शाब्दिक और साहित्यिक रूप प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

शब्द का केवल सम्यग्ज्ञान ही अपेक्षित नहीं, उसका सुप्रयोग भी प्रयोक्ता के लिये विचारणीय है। 'भैया' शब्द कितना प्यारा है और जिसके लिये इसका प्रयोग किया जाता है उसकी प्रीति प्रयोक्ता के प्रति उमड़ पड़ती है। इसी भैया की प्रेम-भरी बाणी पर विमुग्ध होकर महामति राणाडे ने एक बुढ़िया के लकड़ी के गट्ठर को उसके सिर पर उठा दिया था। किन्तु भैया के स्थान पर किसीको 'ऐ मेरे बाप के बेटे'—क्योंकि अपने बाप का बेटा ही भैया होता है—कहा जाय तो वह बिना पीठ-पूजा के नहीं छोड़ेगा। यहाँ प्रयोक्ता शब्दार्थज्ञ है, परन्तु शब्दार्थ का सुप्रयोक्ता नहीं।

निष्कर्ष यह है कि रचनाकार अपनी रचना में उन्हीं शब्दों का, तदर्थबोधक अनेक पर्यायवाची शब्दों के रहते हुए भी, प्रयोग करे जिनसे उसकी भावनायें उद्बुद्ध हों, दूसरों की भावनाओं को भी उद्बुद्ध करे तथा विचारों को सक्रिय और सचेष्ट करे। इसीमें रचनाकार की सफलता निहित है।

शब्दों के सुप्रयोक्ता—क्या व्याख्याता और क्या लेखक—संसार में हलचल पैदा कर देते है; जाति में संजीवनी शक्ति का संचार कर देते हैं और असंभव को भी संभव कर दिखाते हैं। राष्ट्रों का उत्थान-पतन तो उनके लिये बायें हाथ का खेल है। यह ऐतिहासिकों से छिपी बात नहीं। यह सब शब्दों के सम्यग्ज्ञान और सुप्रयोग के ही प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

'बातै हाँथी पाइयाँ, बातै हाथी पाँव।'

तेरहवीं किरण

अभिधेय अर्थ का व्याघात

संस्कृत-साहित्य में 'निरङ्कुशाः कवयः' एक प्रवादवाक्य है। अभिप्राय यह कि कवि किसीके वश में नहीं रहते। इसका उल्लेख वहाँ किया गया है जहाँ भाषासम्बन्धी कुछ दोष पाया गया है; पर ऐसे प्रसङ्ग नगण्य हैं। किन्तु, हिन्दी का सर्जक-समुदाय—केवल कवि ही नहीं, लेखक भी—अपने को सब विषयों में सर्वथा निरङ्कुश ही समझता है।

यह निरङ्कुशता सर्वत्र देखी जाती है—विशेषतः शब्दों के अङ्गभङ्ग करने में, और शब्दों के निर्माण में। शब्दों के यथेच्छ अर्थ करने में तो यह सीमा पार कर गयी है। सहृदय समालोचकों को प्रोत्साहन न देकर ऐसी प्रवृत्ति की भरपूर भर्त्सना करनी चाहिये। आपातरमणीयता या किसी अन्य उद्देश्य से दूषितार्थ पदों का प्रयोग अत्यन्त निन्दनीय है। यह विषय 'दोष' प्रकरण का है। तथापि यहाँ अभिधा से इनका विशेष सम्बन्ध होने के कारण दुष्ट प्रयोगों के दो चार उदाहरण दे दिये जाते हैं।

'अँगड़ाई' का अर्थ है श्रम वा आलस्य वश देह को ऐंठना या मरोड़ना। हिलना-डुलना भी अर्थ है। अँगड़ाई लेना एक मुहावरा भी हो गया है। उसका अर्थ है कुछ करने को उद्यत होना, आदि। छायावादियों का यह लाड़ला शब्द है और इसका लक्ष्यार्थ भी है। जैसे, 'अँगड़ाते तम में'। इसके लक्ष्यार्थ से मेरा प्रयोजन नहीं। इसका अभिधेय अर्थ लें। निम्नलिखित पद्य में 'अँगड़ाई' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थ असंगत है।

जलधि-लहरियों की अँगड़ाई बार बार जाती सोने। **प्रसाद**

लहरियों में अँगड़ाई की कल्पना अभिधा की दृष्टि से दूषित है। जल का बल खाते हुए उठना, उछलना, तटों से टकराना, आदि ही तो लहरियाँ हैं। इन क्रियाओं से भिन्न लहरियों की अँगड़ाई क्या हो सकती है? इसमें अभिधेय अर्थ की मिट्टी-पलीद हो गयी है। जल की अँगड़ाई होती तो लहरियों का बोध होता और सार्थक होता।

अँगड़ाई की सार्थकता का एक उदाहरण लें—

तुम लो करवट हिल उठे धरा, डोले अम्बर का रत्नजाल।
अँगड़ाई लेने लगे विश्व, लहरें सागर के अन्तराल। **सुधीन्द्र**

इसमें भी 'अँगड़ाई' 'सागर' और 'लहरें' तीनों शब्द हैं। पर हैं अपने अपने वाक्यों में ठीक ठीक अन्वित और सार्थक।

निराला जी का एक पद्य है—

भारत के नभ का प्रभापूर्य शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिङ्मण्डल;
उरके आसन पर शिरस्त्राण शासन करते हैं मुसलमान;
है ऊर्मिल जल; निश्चलत्प्राण पर शतदल।

इस पद्य के 'प्रभापूर्य', 'तमस्तूर्य' और 'शिरस्त्राण' शब्दों और इन शब्दों के उन्हींके किए हुए अर्थों पर ध्यान दें—

प्रभापूर्य = प्रकाश भरने वाला,
तमस्तूर्य = अन्धकार की तुरही बजा रही हों,
शिरस्त्राण = शिर की रक्षा करने वाले।

यदि इनके ये अर्थ न दिये गये होते तो निरावरण होकर इन शब्दों को नंगा नाच न नाचना पड़ता। साधारण संस्कृत जानने वाला भी इन शब्दों के ये अर्थ नहीं कर सकता और न इनके ये अर्थ हो ही सकते हैं। केवल शब्दमात्र रख दिये गये हैं और उन्हें कामधेनु बना कर ये अर्थ दुहे गये हैं। क्रमशः इन शब्दों के अर्थ हैं—प्रभा से भरने योग्य, अन्धकाररूपी तुरही और सिर को बचाने वाला—टोप। उनके "गोस्वामी तुलसीदास" में ऐसे ही अनेको मनगढ़न्त, अशुद्ध तथा अर्थ-प्रकाशन में सर्वथा असमर्थ शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

झंकार, झंकृति जैसे शब्द वीणा, सितार या तार-तरङ्ग से ही संभव हैं जो उनके तारों पर तरल ताड़न से उत्पन्न होते हैं। जैसे,

बालकों का सा मारा हाथ कर दिये विकल हृदय के तार।
नहीं अब रुकती है झंकार, यही क्या था एक सितार ? पंत

इसी झंकार शब्द का प्रयोग वेणु—बंशी की स्वरलहरियों के अर्थ में किया गया है। जैसे,

स्वर्ण स्वप्न सी कर अभिसार जल के पलकों में सुकुमार।
फूट आप ही आप अजान मधुर वेणु की सी झंकार॥ पंत

यहाँ झंकार का प्रयोग अयथार्थ है और शब्द-शक्ति का ह्रास कर देता है। तारों की झनझनाहट में ही यह शब्द सटीक बैठता है और यही इसकी प्रसिद्धि है।

'अजान' और 'अनजान' अज्ञान या अज्ञानी के ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। किन्तु इन्हें सर्वत्र Innocent के अर्थ में—निर्मल, निश्छल, निर्दोष, सरल, भोला-भाला आदि अर्थ में—लाना माने पहनाना है। जैसे,

सरलपन ही था उसका मन, निरालापन था आभूषन।
कान से मिले अजान नयन, सहज था सजा सजीला तन॥ **पंत**

ऐसा ही अनजान शब्द भी है। नीचे की पंक्तियों में यह भी Innocent के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। जैसे,

नवल कलियों में वह मुसुकान खिलेगी फिर अनजान। **पंत**

\+ \+ \+ \+

आँख में आँसू भर अनजान अधर पर धर उच्छ्वास॥ **पंत**

'अनजान' भले ही कोमल हो, कानों में मधुसेचन वा मधुवर्षण ही क्यों न करता हो पर अभीष्ट अर्थ नहीं देता। भावुक कवि भावाभिव्यञ्जन के नाम पर ऐसे असमर्थ प्रयोग करने का भले ही आग्रह करें। "आह अनजान शेर अफगन" भी ऐसा ही प्रयोग है।

एक और पद्य लीजिये—

अरे एक झोंके में ही क्यों उड़ा दिये सब तारक फूल।
मेरे स्वप्नों में क्यों भर दी मेरे जागृतिपन की धूल॥
ओ समीर पागल समीर। **रामकुमार वर्मा**

जागृतिपन का प्रयोग महा अशुद्ध है। एक तो 'जागृति' शब्द ही अशुद्ध है क्योंकि उसके स्थान पर शुद्ध शब्द 'जागर्ति' होना चाहिये। यदि हिन्दी में इसके स्थान पर उक्त रूप को ही प्रचलित मान लें तो उसमें भाववाचक प्रत्यय होने से कवि का जो अभिप्रेत अर्थ है, उसकी पूर्ति हो जाती है। भाववाचक 'क्ति' प्रत्यय वाले जागृति शब्द में फिर भाववाचक 'पन' प्रत्यय लगाने को 'खोगीर की भरती' न कहकर 'पादपूर्ति' के लिये कहें तब भी उसकी अशुद्धता स्पष्ट है।

कुछ मुहावरों के ऐसे प्रयोग भी देखे जाते हैं जिनके अभिधेयार्थ दूषित हैं। जैसे,

उड़ाती है, तू घर में कीच नीच ही होते हैं बस नीच। **गुप्तजी**

हल्की चीजें ही उड़ती हैं—कागज, पर, रुई, कपड़ा, धूल आदि। कीच—कीचड़ उड़ाने की चीज नहीं! मुहावरा है 'कीचड़ उछालना', 'कीचड़ डालना' वा 'कीचड़ फेंकना'। 'कीचड़' की जगह 'कीच' भले

ही ले ले पर 'उड़ाना' उछालने की जगह नहीं ले सकता। यहाँ उड़ाने की सार्थकता नहीं है। दूसरा उदाहरण है—

देवी उन कान्ता सती शान्ता को सुलक्ष कर
वक्ष भर मैंने भी हँसी यों अकस्मात की।" अज्ञात

यहाँ 'वक्ष भर' का मुहावरा बनावटी है जो 'मन भर' 'पेट भर' की नकल है और जो 'लक्ष' को लक्ष्य करके अनुप्रास के लोभ से बनाया गया है। 'वक्ष भर' का वाच्य अर्थ होगा 'छाती भर'। इसका वह लक्ष्य अर्थ—यथेच्छ (हँसना), ठठाकर (हँसना)—जो यहाँ अभीष्ट है, नहीं निकलता। एक और उदाहरण लें—

सिसकते अस्थिर मानस से
बाल बादल सा उठकर आज सरल अस्फुट उच्छ्वास। पंत

यहाँ 'हृदय' के लिये 'मानस' आया है। 'हृदय का टुकड़े टुकड़े होना' या 'टूक टूक होना' या Broken heart का सा 'हृदय का भग्न होना', 'छाती फटना' आदि ही मुहावरे बँधे हैं। 'मानस' का सिसकना' यह मुहावरा अभी तक नहीं बँधा है। हृदय के रोने तक तो नौबत पहुँची है पर सिसकने की नहीं। अभिधा के साथ यहाँ बलात्कार किया गया है। इसकी लक्षणा से मुझे प्रयोजन नहीं।

अंग्रेजी के कुछ मुहावरे भी हिन्दी में आ रहे हैं। वे उनका आशय लेकर नहीं आते ज्यों के त्यों आ जाते हैं जो हिन्दी में पचते नहीं। ऐसी जगहों में अभिधा की खींचतान होती है। जैसे,

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन वह सुवर्ण का काल। पंत

सुवर्ण का काल (Golden age) का अनुवाद है। इस अर्थ के ठीक ठीक द्योतक मुहावरे हैं—सुयोग, सुसमय, सतयुग आदि। सुवर्ण का काल कहने से कवि का वह अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता।

खुली है कूट नीति की पोल, महात्मा गाँधी की जय बोल।
भया पन्ना उलटे इतिहास हुआ है नूतन वीर्य-विकास॥ गुप्तजी

इस पद्य की तीसरी पंक्ति की रचना To turn a new leaf of the history के अर्थ पर हुई है। हिन्दी में यह नया मुहावरा है और अंग्रेजी का सा भाव नहीं देता। अभी तो नया इतिहास बन ही रहा है। अभी पन्ना उलटने का समय नहीं आया है। नीचे का यह पद्य भी—

नये जीवन का पहला पृष्ठ देवि तुमने उलटा है आज। भ० च० वर्म्मा

अंग्रेजी के उक्त मुहावरे पर ही बना है। यहाँ इस रूप में भाव

झलक जाता है। ऐसा मुहावरा हिन्दी में बँध जा सकता है। इसमें अंग्रेजी के भाव को हिन्दी ने पचा लिया है।

एक शब्द है 'व्यक्ति'। इसका एक अर्थ है 'प्रकाशन'। जैसे, भाव की व्यक्ति या अभिव्यक्ति। दूसरा अर्थ है वह मूर्त वस्तु, जिसकी पृथक् सत्ता हो। यह जाति का विपरीत वाचक शब्द है। किन्तु, व्यक्ति शब्द आजकल मनुष्य—प्राणी का बोधक हो रहा है। जैसे, इनसे भी आगे बढ़िये तो कुछ ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जिन्होंने समय को देखते हुए नवीन कार्य किया है। यहाँ तक तो ठीक है। पर, जब व्यक्ति के साथ 'त्व' जोड़कर उससे Personalities का अर्थ ग्रहण करने में अंग्रेजी के समान 'भाव' और 'द्रव्य' दोनों का बोध कराते हैं, तब अभिधा के साथ अत्याचार होता है। जैसे,

१ जोशीजी का व्यक्तित्व हिन्दीसाहित्य में एकदम निराला है।

२ इससे उनके व्यापक प्रभाव और प्रेरक व्यक्तित्व का पता लगता है।

३ इन व्यक्तित्वों में कुछ न कुछ अन्तर है ही।

४ इन चार के अतिरिक्त और भी चार व्यक्तित्व है।

५ छायावाद युग का एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व है। नन्ददुलारे बाजपेयी

इनमें यदि व्यक्ति को पुरुष का पर्याय मानें तो त्व जोड़ने से 'व्यक्तित्व' का अर्थ पुरुषत्व होगा। यहाँ एक ही व्यक्तित्व शब्द से व्यक्ति-विशेष और व्यक्ति-वैशिष्ठ्य दोनों अर्थ लिये गये हैं जैसे कि उपर्युक्त उदाहरणों में व्यक्त हैं। 'चार व्यक्तित्व' और 'ऐतिहासिक व्यक्तित्व' एक ही बात नहीं है। दोनों रूपों में एक 'व्यक्तित्व शब्द दो प्रकार के अर्थ नहीं दे सकता। क्योंकि, हिन्दी में अंग्रेजी की यह रूढ़ि अभी नहीं जमी है।

दूसरी बात यह है कि व्यक्ति शब्द स्वतः भाववाचक है। जब यह भाववाचक शब्द लक्षणा से द्रव्यवाचक बन जाता है तभी उसमें 'त्व' जोड़ने का अवसर मिलता है और उस प्रकार निष्पन्न 'व्यक्तित्व' शब्द पुरुष-विशेष में वैशिष्ठ्य का बोधक होता है। 'त्व' जोड़ने पर भी उसका अर्थ 'वैशिष्ठ्य' न लेकर पुरुष ही लिया जाना नितान्त अशुद्ध है।

हिन्दीसाहित्य में, विशेषतः काव्य में, इसी प्रकार के 'अनिर्वच' 'तमश्चरिता' 'मान्यता' 'पुलकप्लुत' आदि गढ़े हुए अनेकों शब्द भाषा की स्वाभाविकता नष्ट कर उसे कृत्रिमता के कीचड़ में फँसाते जा रहे हैं। इस दशा में अभिधा की दशा दशा बड़ी दयनीय हो जायगी।

चौदहवीं किरण

शब्द और अर्थ का दुरुपयोग

हिन्दी में कुछ ऐसे शब्द प्रयुक्त होते हैं जिनका निर्माण ठीक है पर उसके अनुसार वे अर्थ नहीं देते। उनका प्रयोग अन्य भाषा के प्रयोग पर दृष्टि रख कर किया जाता है। अभिधा की दृष्टि से शब्द और अर्थ का यह दुरुपयोग ही कहा जायगा। कुछ उदाहरण लें—

हिन्दी में सहानुभूति शब्द का प्रयोग अधिक होता है। यह शब्द अंग्रेजी Sympathy (सिम्पैथी) शब्द पर बना है। sym (सिम) का अर्थ है 'समान' 'एक-सा'। इसका स्थान ले लिया 'सह' शब्द ने। सह का अर्थ 'साथ' होता है, समान नहीं। कोई पुत्रशोकाकुल है। उससे यदि हम कहते हैं कि आपसे मेरी हार्दिक सहानुभूति है तो उसका यह अभिप्राय नहीं होता कि आप जैसी वेदना का अनुभव करते हैं वैसी ही वेदना का मैं भी अनुभव करता हूँ। अनुभूतियाँ अनेक प्रकार की होती हैं। हो सकता है कि पुत्रशोकाकुल पिता को जिस समय वेदनानुभूति हो, उस समय सहानुभूति व्यक्त करने वाले को विषयान्तर की अनुभूति होती हो। क्योंकि, सहानुभूति शब्द यह व्यक्त नहीं करता कि दोनों की अनुभूति समान है। वह साथ की अनुभूति ही का अर्थ देता है। इससे सहानुभूति के स्थान पर समानुभूति या समवेदना शब्द का प्रयोग ही उपयुक्त है।

बँगला से एक अपरूप शब्द हिन्दी में आया है। इसका अर्थ होता है अत्यन्त सुन्दर। जैसे, उसके अपरूप रूप पर वह निछावर हो गया। बँगला भाषा के प्रेमी हिन्दी-लेखक इस अर्थ में निरन्तर इसका प्रयोग कर रहे हैं। जो इसके वास्तविक अर्थ से परिचित हैं, वे 'अपरूप' का अर्थ इसके अतिरिक्त और क्या कर सकते हैं कि उसका रूप विकृतिसहित या नष्ट है। क्योंकि अपरूप का यही अर्थ है। बँगला में विरूप का रूप भी विकृत होकर विद्रूप हो गया है। हिन्दी में भी विरूप के स्थान पर विद्रूप लिखा जाने लगा है। यहाँ का वर्णागम विचारणीय है। किसी को चिढ़ाने के लिये मुँह बनाते हैं तो मुँह की आकृति विकृत हो जाती है। ऐसी ही दशा में विरूप का प्रयोग होता है जिसका स्थान विद्रूप ने ले लिया है। यह प्रसाद भी हिन्दी को बँगला से ही मिला है।

मौलिक शब्द भी बँगला से आया है। इस मौलिक का मूल अंग्रेजी का Original शब्द है। पर मौलिक का यह अर्थ नहीं है। यह शब्द हिन्दी में इतना प्रसिद्ध हो गया है कि इसकी रचना पर ध्यान ही नहीं जाता। कोई मस्तिष्क की नयी उपज हुई, कोई स्वतन्त्र रचना हुई कि चट उसके लिये मौलिक शब्द का प्रयोग कर देते हैं। मौलिक का अर्थ होता है जड़ से उत्पन्न वा जड़ से सम्बन्ध रखने वाला। मौलिक शब्द का प्रयोक्ता यह विचार कर ही इसका प्रयोग करता है कि इसका 'मस्तिष्क से उपजा' अर्थ है। शब्द-रचना के मूल पर उसका ध्यान ही नहीं जाता। यह अन्धानुकरण है। ऐसे प्रयोगों पर अभिधा अन्तर से रो उठती है।

चूड़ान्त' शब्द को लीजिये। चूड़ा का अर्थ है चोटी, शिखा। मुर्गे की चोटी लाल होती है, इसीसे उसे ताम्रचूड़ कहते हैं। सिर पर चन्द्रमा के रहने से शिवजी को चन्द्रचूड़ कहते हैं। चोटी या शिखा का अन्त सिरा यही चूड़ान्त का अर्थ है। इसका कई अर्थों में प्रयोग होता है। जैसे, चूड़ान्त परिश्रम किया। अर्थात् जहाँ तक परिश्रम हो सकता है उतना किया। इसकी चूड़ान्त व्याख्या है। अर्थात् व्याख्या साङ्गोपाङ्ग है। चूड़ान्त आलोचना नहीं हुई। अर्थात् जैसी आलोचना होनी चाहिये वैसी नहीं हुई। इस शब्द के ये अभिधेय नहीं हैं और न ऐसे प्रयोग होने चाहिये। 'नख से सिख तक' हिन्दी का एक वाक्य-खण्ड है। इसमें 'सिख तक' के स्थान में ही 'चूड़ान्त' का प्रयोग है। हिन्दी में एक मुहावरा है— 'चोटी के'। वह चूड़ान्त के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है और वह प्रयोग सार्थक होता है। जैसे, ये चोटी के लेख हैं अर्थात् सर्वोत्तम लेख हैं। इसमें भी बँगला की छाया है।

अभ्यर्थना का सीधा सा अर्थ है 'याचना करना' या 'कुछ माँगना'। यह बँगला से हिन्दी में आया। बँगला में यह 'समादर देने' 'स्वागत-सत्कार करने' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। उसीके अनुकरण पर हिन्दी में भी यह स्वागत के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। जैसे, उनकी अभ्यर्थना के लिये स्टेशन चलिये। हिन्दी में ऐसी अन्धाधुंध ठीक नहीं।

ऐसे ही **बाधित** शब्द है। बाधित का अर्थ है पीड़ित, उपरुद्ध, प्रतिबंध-ग्रस्त, तंग किया गया या सताया गया आदि। अब बँगला की देखा-देखी अनुगृहीत, उपकृत, कृतज्ञ आदि के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। जैसे, पत्रोत्तर देकर मुझे बाधित कीजियेगा। अभिधेय अर्थ के विषय में यह भेड़िया-धसान कभी हिन्दी की शोभा न बढ़ायेगी।

संभ्रम शब्द एक प्रकार के आवेग से मिश्रित संमान का बोधक है। इसी संभ्रम से हिन्दी का 'सहम' निकला है जो चकपकाहट का अर्थ देता है। इससे बना संभ्रान्त विशेषण सहम गये हुए या चकपकाये हुए व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होना चाहिये पर बँगला में वह शब्द सम्मानित या प्रतिष्ठित के अर्थ में आता है। बँगला की देखादेखी उसी अर्थ में हिन्दी में भी प्रयुक्त होने लगा है जो ठीक नहीं है। जैसे, वे बड़े सम्भ्रान्त हैं और उनका सम्भ्रान्त वंश में जन्म भी हुआ है। किसी आदरणीय व्यक्ति की उपस्थिति दूसरे को संभ्रम में डालती है। अतः वह सम्भ्रान्त होता है न कि सम्मानित व्यक्ति।

इसी प्रकार बँगला से आया मस्तिष्क भी है। संस्कृत में मस्तिष्क 'भेजा' या 'सिर के गूदे' को कहते हैं। पर बँगला और हिन्दी में यह बुद्धि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे, तुम्हारा मस्तिष्क ठीक नहीं, तुम क्या समझोगे? अब इसकी रूढ़ि इतनी जम गयी है कि इसे अशुद्ध ठहराने की हिम्मत नहीं होती पर है यह मूलतः अशुद्ध प्रयोग।

नाम मात्र के ये उदाहरण है। मुख्य अर्थ की प्राप्ति के लिये हिन्दी में ऐसे प्रयोग न होने चाहिये।

पंद्रहवीं किरण 104049.

अभिधा-वैचित्र्य

लक्षणा का आधार लेकर एक ही अर्थ के द्योतक प्रयोगों के ये कितने सुन्दर उदाहरण हैं। इनमें व्याहित वाच्यार्थ की चारुता सहृदयों को चमत्कृत और आह्लादित कर देती है—

१—चाँदी-सोने का अपना वरदान लुटाती है, माटी धन-धान लुटाती है।

२—शराफ़त सदा जागती है वहाँ, जमीनों में सोता है सोना जहाँ।

३—मेघ जहाँ अमृत बरसावे, खेतन में सोना लहरावे। सुदर्शन

कहना नहीं होगा कि आज का साहित्य ऐसी ही लाक्षणिक चपलता के चमत्कारों से परिपूर्ण है, जिनके भीतर से वाच्यार्थ अपना हीरा-जवाहिर लुटा रहा है।

कविवर पंत ने चुंबन शब्द के ऐसे चमत्कारक प्रयोग किये हैं कि वाच्यार्थ में चार चाँद लग जाते हैं। लक्षणा भले ही अपना दखल जमाये

पर पहले रसिकों का अन्तःकरण वाच्यार्थ के माधुर्य में ही मग्न हो जाता है—

१—मारुत ने जिसके अलकों में चंचल चुम्बन उलझाया।

२—वह मृदु मुकुलों के मुख में भरती मोती के चुंबन।

३—मोती के चुंबन से चूकर मृदु मुकुलों के सस्मित मुख पर।

४—शशि से दीपित प्रणय कपूर, चाँदी से चुंबन कर चूर।

दिनकरजी की भी ऐसी ही एक पंक्ति है—

अंतिम किरणें भर गयीं ऊर्मि अधरों में मोती के चुंबन।

निम्न पंक्तियों में पंतजी ने मोती के भी ऐसे ही सुंदर प्रयोग किये हैं जिनके अभिधेयार्थ सुनते ही मन को अपने वश में कर लेते हैं। लक्षणा तो इसके सामने पीछे रह जाती है। यह वाच्यार्थ के माधुर्य और चमत्कार को कथमपि नहीं दबा सकती। प्रथम तो हम वाच्यार्थ से ही मुग्ध होते हैं, पीछे उसके अन्तर में पैठने के लिये भले ही अन्य शक्तियों को अपनावें। मोती के प्रयोग की ये पंक्तियाँ हैं—

१—मधुर मिलन के मोती चंचल मधुर विरह से पिघल पिघल,
छल छल टल टल अश्रुहार बन स्मृति में गुँथ जाते अविरल।

२—मोतियों जड़ी ओस की डार हिला जाता चुपचाप बयार।

३—शशि-किरणों ने मोती भर भर गूँथी सौरभ अलकावलियाँ।

४—जीवन के फेनिल मोती को ले चल करतल में टलमल।

५—झलका हास कुसुम अधरों पर हिल मोती का सा दाना।

६—अरुण अधरों की पल्लव प्रात मोतियों सा हिलता हिम हास।

अन्तिम दो पंक्तियों में मोती का प्रयोग उपमालंकार में है। अलंकार भी तो अभिधा ही के चमत्कार हैं।

अभिधा के वैचित्र्य-सूचक कुछ अलंकारों के यहाँ उदाहरण दिये जाते हैं—

१—लखन उतर आहुति सरिस, भृगुवर कोप कृसानु।
बढ़त देखि जल सम वचन, बोले रघुकुल भानु॥ तुलसी

तीनों उपमाओं में धर्म का लोप है। दूसरे में वाचक का भी लोप है। यह उदाहरण पुरानी परंपरा का है। किन्तु आजकल की उपमाओं में बड़ा ही बाँकपन है, नवीनता है और उसकी रंगीनी तो और जादू का-सा असर करती है। यह अप्रस्तुत-योजना की खूबी है। जैसे—

२—तरुवर के छायानुवाद-सी उपमा-सी भावुकता-सी।
अविदित-भावाकुल भाषा-सी, कटी छटी नव कविता-सी॥

ये सभी उपमायें छाया कविता की हैं। इनमें उपमेय छाया के अतिरिक्त वाचक, धर्म, उपमान तीनों हैं। प्रतीक के रूप में भी कहीं-कहीं उपमा की बड़ी सुन्दर योजना की गयी है। जैसे—

३—धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश मधुर मुरली-सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना दूती-सी तुम कौन? प्रसाद

अभिधेयार्थ के उपस्कारक उपमा के एक-दो और अपूर्व उदाहरण देखें—

४—माधवी निशा की अलसायी अलकों में लुकते तारा-सी।
क्या हो सूने मरु अंचल में अन्तःसलिला की धारा-सी॥ प्रसाद

इन नवीन कवियों की नवीन धारा में प्राच्य और पाश्चात्य विधियों का सुन्दर समन्वय दीख पड़ता है।

अब रूपक के रूप में वाच्यार्थ-चमत्कार के सुन्दर स्वरूप की सराहना कीजिये।

समय विहग के कृष्ण पक्ष में, रजत चित्र-सी अंकित कौन?
तुम हो सुन्दरि तरल तारिके, बोलो कुछ बैठो मत मौन॥ पन्त

इसमें रूपक के साथ श्लेष और उपमा की भी झाँकी है जिससे पुरानी परंपरा का आभास भी मिलता है। नये प्रकार के रूपक के रूप देखिये—

खींच ऐंचीला भ्रू-सुरचाप शैल की सुधि यों बारंबार।
हिला हरियाली का सुदुकूल, झुला झरनों का झिलमिल हार॥
जलद पट से दिखला मुखचन्द्र, पलक पल पल चपला का प्यार।
भग्न उर पर भूधर-सा हाय! सुमुखि धर देती है साकार॥ पंत

इसमें शैल और शैल-बालिका की सुधि का रूपक बाँधा गया है। एक उदाहरण और लें—

विमाता बन गयी आँधी भयावह, हुआ चंचल न फिर भी श्याम घन वह!
पिता को देख तापित भूमितल-सा बरसने लग गया वह वाक्य जल-सा।
—मै० श० गुप्त

समासोक्ति अलंकार का आधुनिक हिन्दी कविता में बहुत ही बोल-बाला है। यह वह अलंकार है जिसमें प्रस्तुत के वर्णन में समान विशेषणों आदि से अप्रस्तुत का बोध होता है। जैसे—

१—बीती विभावरी जाग री।

अंबर पनघट में डुबो रही तारा घट ऊषा नागरी।—**प्रसाद**

इसमें समाप्तप्राय रात्रि का वर्णन है और ऊषा के आगमन का एक रंगीन चित्र पनिहारिन के रूप में खींचा गया है।

२—नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद हासिनि।

मृदु कर तल पर शशिमुख धर नीरव अनिमिष एकाकिनि। **पंत**

इसमें चटकीली चाँदनी का नीरव चित्र नारी के रूप में अंकित किया गया है। एक और सुन्दर उदाहरण लें—

३—अरुण पूर्व उतार तारक हार, मलिन-सा सित शून्य अंबर धार।

प्रकृति रंजन हीन दीन अजस्र, प्रकृति विधवा थी भरे हिम अस्र। **मै०श०**

इसी प्रकार साधर्म्य, सादृश्य तथा प्रभावसाम्य को लेकर विविध भाँति से अप्रस्तुत-विधान किया जाता है।

उत्प्रेक्षालंकार भी वाच्यार्थचमत्कार के विचार से उपेक्षणीय नहीं है।

१—सोहत ओढ़े पीत पट, श्याम सलोने गात।

मनो नीलमणि शैल पर, आतप परयो प्रभात। **विहारी**

२—फिर भी एक विषाद बदन के तपस्तेज में पैठा था।

मानो लौह तन्तु मोती को बेध उसीमें बैठा था॥ **मै० श० गुप्त**

३—सोने की सिकता में मानो कालिन्दी बहती भर उदास।

स्वर्गंगा में इन्दीवर की या एक पंक्ति कर रही लास॥ **प्रसाद**

कामायनी में तकली घुमाती हुई श्रद्धा काली ऊन की पट्टी बना रही है उसी। यह वर्णन है। इसमें उत्प्रेक्षा भी है और संदेह भी। संदेह का एक उदाहरण और लें—

निद्रा के उस अलसित वन में वह क्या भावी की छाया?

दृग पलकों में विचर रही या वन्य देवियों की माया?—**पंत**

श्लेष, विषम, वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति आदि अनेक अलंकार हैं जो वाच्यार्थ को चमत्कृत करते हैं।

वाच्यार्थ में चमत्कार लाने और उसका गांभीर्य बढ़ाने के अन्यान्य उपाय भी हैं जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक है। इनमें एक प्रसंग-गर्भता भी है, अर्थात् एक प्रकरण में अन्य प्रसंग का लाना। जैसे,

१—करुणे! क्यों रोती है? उत्तर में और अधिक तू रोई।

मेरी विभूति है जो उसको भवभूति क्यों कहे कोई?—**मै० श० गुप्त**

इस कविता में 'भवभूति', उनके 'उत्तररामचरित' और 'एको रसः करुण एव' ये तीनों सामने आ जाते हैं। इससे कविता की सरसता और बढ़ जाती है और अर्थ-गांभीर्य के साथ उक्ति में भी चमत्कार आ जाता है। एक दो और उदाहरण दिये जाते हैं—

गावो, सुनकर प्राण प्राण में नव सर्जन का राग समाये।
बस 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' स्वर छा जाये॥—**सुधीन्द्र**

जागृति के सम्बन्ध में यह मन्त्र प्रसंग में आकर जादू का-सा असर करता है।

'ललित कल्पना' 'कोमल पद' का मैं हूँ 'मनहर' छन्द।—**निराला**

यह उक्ति रास्ते के फूल की है। इसने अपनी पूर्व की अपूर्व अवस्था के वर्णन में अपने को ललित कल्पना का मन-हरण करनेवाला छन्द बताया है। इसी प्रसंग में 'मनहर' छन्द का भी नाम आ गया है जिसको आजकल 'कवित्त' कहते हैं। 'मनहर' ने इसमें और भी मनोहरता ला दी है।

एक प्रकार के ऐसे वाक्य प्रयुक्त होते हैं जिनसे वाच्यार्थ बहुत ही व्यापक और आकर्षक बन जाता है। सुलेखकों के गद्यों के अतिरिक्त पद्यों में भी ऐसे वाक्य प्रयुक्त होते हैं। जैसे—

जो हिचकिचा के रह गया इस पार रह गया।
जिसने लगायी एड़ वह खन्दक के पार था॥ **स्वामी रामतीर्थ**

एड़ लगाने के बाद घोड़े के तड़पने आदि का अर्थ इसके भीतर पैठा हुआ है। पर वाक्य ऐसा है कि उस अर्थ को भी आकर्षित कर लेता है।

'नाव चली या स्वयं पार ही आ गया'।—**मै० श० गुप्त**

इसमें वाच्यार्थ इस अर्थ को भी आकर्षित कर रहा है कि नाव इतनी तेज चली कि पार का आना ज्ञात ही नहीं हुआ।

ऐसे ही ये भी वाक्य हैं—

उन्होंने कंधे झुकाकर एक बार जोर किया तो गाड़ी नाले के ऊपर थी।—**प्रेमचंद**
दस बज गये। लोगोंने ऊपर को दृष्टि उठायी, अकबर सिंहासन पर था। **सुदर्शन**

अधिकांश मुहावरे और कहावतें भी वाच्यार्थ को विचित्र और सजीव बना देती हैं।

मोल होते भी बड़े अनमोल हैं जगमगाते रात में दोनों रहें।
लाल दमड़ी का दिया है, क्यों न हो, जुगनुओं को लाल गुदड़ी का कहें।
हरिऔध

यहाँ गुदड़ी के लाल का अर्थ है—छिपे हुए रत्न, गुप्त अमूल्य वस्तु, अप्रसिद्ध कलाकार आदि। दमड़ी के दिये की तुलना जुगनू से है। सजीव और प्राकृतिक होने के कारण उसको दिये से अधिक महत्ता है। इस मुहावरे में लक्षणा भी काम करती है, किन्तु वाच्यार्थ के सामने गौण हो जाती है। ऐसा ही यह भी है—

हैं कभी छिपते चमकते हैं कभी झोंकते किस आँख में ये धूल है।
रात में जुगनू रहे हैं जगमगा या निराली बेलियों के फूल है॥

हरिऔध

आँखों में धूल झोंकने का अर्थ है धोखा देना। यहाँ जुगनुओं के छिपने और चमकने से धोखा देने का भाव व्यक्त हो सकता है, पर वे बेचारे किसी को धोखा नहीं देना चाहते। हाँ, जग-मगाने या निराली बेली के फूल होने का सन्देह उठाकर वे भले ही आँखों में धूल झोंकते हों। यहाँ भी वाच्यार्थ ने ही लक्षणा को खड़ा किया है।

मंथरा की काली करतूत से ऊर्मिला की सारी आशा जब छिन्न-भिन्न हो गयी तो वह एक ही वाक्य कहती है—'उड़ा ही दिया मंथरा ने सुआ'। इस मर्मोक्ति ने वाच्यार्थ की प्रभविष्णुता इतनी बढ़ा दी है कि ऐसे अवसरों के ये मुहावरे भी भावाभिव्यक्ति में असमर्थ होते हैं। जैसे—'मंथरा ने सारे सुख-स्वप्नों पर या सारी आशाओं पर पानी फेर दिया' अथवा 'मंथरा ने तो जड़ ही काट दी' आदि। अर्थ की व्यवस्था के लिये लक्षणा का भले ही सहारा लिया जाय, किन्तु इस उक्ति के वाच्यार्थ की विशेषता उससे कहीं अधिक है। ऐसे ही—

अब मैं सूख हुई हूँ काँटा आँख-ज्योति ने दिया जवाब।
मुँह में दाँत न आँत पेट में हिलने की भी रही न ताब॥—**भक्त**

सूखकर काँटा होने में वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ तक दौड़ लगाती है, पर 'मुँह में दाँत और पेट में न आँत' से रखने जर्जर बूढ़े का जो वाच्यार्थ होता है वह अपनी प्रबलता से लक्षणा को दबाये बैठा है। कुछ कहावतों के ये उदाहरण हैं—

१ "दूध को जर्यो पियत फूँकि फूँकि मठ्यो है"
२ "धोबी कैसो कूकुर न घर को न घाट को" **तुलसी**

पद्यों की इन कहावतों को प्रचलित भाषा में यों बोलते हैं—"दूध का जला मट्ठा फूँक-फूँक कर पीता है" और "धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का"। वाच्यार्थ की महिमा से ही ये कहावतें अपने भीतर बहुत सा अर्थ भर लेती हैं।

कहावतों में व्यवहार के मर्म, संसार के अनुभव और विचार का वैभव कूट-कूट कर भरा रहता है। कहना चाहिये कि एक-एक कहावत के पीछे जीवन के मर्म का एक-एक इतिहास भरा पड़ा है। इनके अर्थ जितने गंभीर होते हैं उतने ही व्यापक और विस्तृत। पहले का अर्थ लीजिये —

कहीं अशङ्कित स्थान पर या विश्वस्त आदमी से कोई धोखा खा जाता है तो ऐसे स्थलों में भी वह सावधान होकर काम करता है जहाँ उसे धोखा खाने की संभावना नहीं रहती। सारांश यह कि धोखा खाया हुआ मनुष्य अपने काम में सजग हो जाता है। खोकर सीखने में भी यही भाव है।

इसी प्रकार अन्य कहावतें भी समझनी चाहियें। इनका अर्थ सरल होते हुए भी गूढ़ होता है। ये कहावतें घटना-विशेष की द्योतक भी होती हैं। जैसे, पहली कहावत के पीछे बीरबल और बादशाह की, दूध न पीनेवाली बिल्ली की, जो दूध देखते भाग जाती थी, घटना है।

श्री सोहनलाल द्विवेदी 'प्रलय-वीणा' की भूमिका में लिखते हैं—

सुधीन्द्र का कवि सुधीन्द्र नहीं, उसका युग ही है।

इसका वाच्यार्थ यह भासित करता है कि सुधीन्द्र एक पृथक् व्यक्ति है और कवि एक पृथक्। किन्तु बात ऐसी नहीं है। ऐसे ही ये पद्यार्ध भी हैं—

मेरा अन्तरयामी कहता है, मैं मलार बरसाऊँ। **भा. आत्मा**

मेरे कवि के प्राणों में है पीड़ा की झंकार उठा दी। **ह. कृ. प्रेमी**

कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका प्रयोग विपरीत अर्थ में होता है। पाठकों को ऐसे शब्दों का व्यवहार कुछ विलक्षण प्रतीत होगा। **विश्वासी** शब्द को ही लीजिये। इसका अपभ्रंश रूप है '**बिसवासी**'। अर्थ होता है '**विश्वासयोग्य**' '**विश्वासपात्र**'। किन्तु इसका प्रयोग 'विश्वासघाती' के अर्थ में होता है। जैसे—

अरे मलिछ बिसवासी देवा। कित मैं आइ कीन्हि तोरि सेवा। **पद्मावत**

यहाँ विश्वासघाती के अर्थ में यह शब्द लाया गया है।

यही शब्द '**बिसासी**' बनकर ब्रजभाषा में 'विश्वासघाती' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे—

कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मों अँसुवान को लै बरसौ। **घनानन्द**

अनेक कवियों ने इसी अर्थ में बिसासी का प्रयोग किया है।

'अलोप' का अर्थ है लोप न होना। किन्तु लोप होने के ही अर्थ में इसका प्रयोग होता है। जैसे, 'वह वहाँ से अलोप होगया।

आचार का अर्थ है आचरण, चाल-ढाल आदि। इनकी अधिकता को अत्याचार कहना चाहिये पर अर्थ होता है दुर्व्यवहार की अधिकता।

व्युत्पत्ति के अनुसार तत्काल का अर्थ होता है 'वह काल' 'पहले का समय', पर प्रयोग होता है अभी और शीघ्र के अर्थ में। जैसे, यह काम तत्काल होना चाहिये।

कुछ समस्त शब्द ऐसे होते हैं जो अपने वाच्यार्थ से भी अधिक बहुत कुछ भाव अपने भीतर रखते हैं, जो आपसे आप झलक जाते हैं। जैसे—

युवती के लज्जा-वसन बेंच जब ब्याज चुकाये जाते हैं। **दिनकर**

यहाँ 'लाज का कपड़ा' अर्थ नहीं। अर्थ है जो कपड़ा लाज छिपाने भर के लिये ही पर्याप्त है। लाज रखने भर का कपड़ा। ऐसे ही 'पर्णकुटी' पौसाल, कालरण, कालरात्रि आदि शब्द हैं।

एक वाक्य का और चमत्कार देखिये।

कौड़ियों पर अशर्फियाँ लुट रही थी। **प्रेमचन्द**

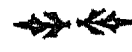
सहसा पढ़नेवाला तो यही लक्ष्यार्थ ले बैठेगा कि साधारण वस्तुओं के लिये असाधारण खर्च किया जाता था। पर यहाँ अभिधा का ही अर्थ ठीक है। जुए में कौडियाँ फेंकी जाती थीं और हजारों की हार-जीत होती थी। मृतप्राय को मारने से छोड़ देने पर जो यह वाक्य कहा जाता है कि 'मौत ने उसे मौत से बचा लिया' वह ऐसा ही अभिधा का सार्थक प्रयोग है।

उपर्युक्त प्रकारों तथा अन्यान्य प्रकारों और विविध विशेषताओं से वाच्यार्थ अपनी अभिव्यक्ति करता है जो लक्षणा और व्यञ्जना का भी प्राण है।



द्वितीय प्रसार

लक्षणा



पहली किरण

लक्षणा शक्ति

लक्षक शब्द

जिस शब्द से मुख्यार्थ से भिन्न, लक्षणा शक्ति द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है उसे लक्षक वा लाक्षणिक शब्द और उसके अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं।

लक्षणा शब्द की रचना दो प्रकार से होती है—एक तो भाव-प्रधान व्युत्पत्ति से। जैसे, लक्षणं लक्षणा। और, दूसरी करण-प्रधान व्युत्पत्ति से। जैसे, लक्ष्यते अनया इति। भाव-व्युत्पत्ति से लक्ष्यार्थ-ज्ञान की और करण-व्युत्पत्ति से लक्ष्यार्थ-ज्ञान के उत्पादक व्यापार की प्रतीति होती है। भाव-व्युत्पत्ति ही आलङ्कारिकों को अभीष्ट है।

शब्द में यह आरोपित है और अर्थ में इसका स्वाभाविक निवास है।

किसी आदमी को गधा कहा जाय तो साधारण बोध का बालक देख-सुन कर चकरा जायगा। क्योंकि, उसने 'गधा' शब्द के अर्थ का एक पशु के रूप में परिचय प्राप्त किया है। यहाँ 'गधा' शब्द का गधे के जैसा अज्ञ, बुद्धू, बेवकूफ अर्थ उपस्थित करना वाचक शब्द के बूते के बाहर की बात है। क्योंकि, यह काम लक्षक शब्द का है। सादृश्य आदि सम्बन्ध से ऐसा करना उसका स्वभाव है। वाचक और लक्षक शब्द में यही भेद है।

लक्षणा

[1]मुख्यार्थ की बाधा या व्याघात होने पर रूढ़ि या प्रयोजन

---

1 मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥ साहित्यदर्पण

को लेकर जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो उसे लक्षणा कहते हैं।

अर्थात् जहाँ वाचक शब्द का अर्थ—वाच्यार्थ— वाक्य में संगत न हो रहा हो, ठीक तरह से न बैठ रहा हो, वहाँ भिन्न भिन्न संबन्धों के द्वारा वाच्यार्थ से संबद्ध होने पर भी वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ, जिस शब्द-शक्ति के द्वारा, या तो प्रचलित रूढि के अनुसार या किसी प्रयोजन के वश, उपस्थित होकर वाक्यार्थ में अन्वित या संगत हो जाय वह लक्षणा शक्ति कही जाती है।

इस लक्षणा के लक्षण में तीन बातें मुख्य हैं—१ मुख्यार्थ की बाधा २ मुख्यार्थ का योग और ३ रूढ़ि वा प्रयोजन। मुख्यार्थ का योग या सम्बन्ध होने से लक्षणा को 'अभिधापुच्छभूता' और उक्त तीन बातों के रहने से 'त्रिस्कन्धा' भी कहते हैं।

१ मुख्यार्थ की बाधा—मुख्यार्थ वा वाच्यार्थ के अन्वय में अर्थात् वाक्यगत और अर्थों के साथ संबन्ध जोड़ने में प्रत्यक्ष विरोध हो वा वक्ता जिस अभिप्रेत आशय को प्रकट करना चाहता हो, वह मुख्यार्थ से प्रकट न होता हो तो मुख्यार्थ की बाधा होती है। जैसे, किसी मनुष्य के प्रति यह कहा जाय कि 'तू गधा है'। इसमें पशुरूप गधे के मुख्यार्थ की बाधा है। क्योंकि मनुष्य लंबे कान और पूँछ वाला पशु नहीं हो सकता।

२ मुख्यार्थ का सम्बन्ध वा योग—मुख्यार्थ का बाध होने पर जो अन्य अर्थ ग्रहण किया जाता है उसका और मुख्यार्थ का कुछ योग सम्बन्ध रहता है। इसीको मुख्यार्थ का योग कहते हैं। जैसे, गधे के मुख्यार्थ के साथ गधे के सदृश मनुष्य के बुद्धूपन, बेवकूफी, नासमझी का सादृश्य के कारण योग है।

३ रूढ़ि और प्रयोजन—पूर्वोक्त दोनों बातों के साथ रूढ़ि वा प्रयोजन का रहना लक्षणा के लिये आवश्यक है।

रूढ़ि का अर्थ है प्रयोग-प्रवाह। अर्थात् किसी बात को बहुत दिनों से किसी रूप में कहने की प्रसिद्धि वा प्रचलन। जैसे, बेवकूफ को गधा कहना एक प्रकार की रूढ़ि है।

प्रयोजन का अर्थ है 'फल-विशेष' अर्थात् किसी अभिप्राय-विशेष को सूचित करना, जो विना लक्षणा का आश्रय लिये प्रकट नहीं होता।

जैसे, मेरा घोड़ा गरुड़ का बाप है। यहाँ घोड़े को गरुड़ का बाप कहना उसकी तेजी बतलाने के लिये ही है। अन्यथा ऐसा वाक्य प्रलाप मात्र ही समझा जायगा। इस वाक्य में लक्षणा का जो आश्रय लिया गया है वह इसी प्रयोजन से कि उस घोड़े की तेजी औरों से अधिक बतलायी जाय।

उपर्युक्त तीनों बातों—कारणों—में से मुख्यार्थ की बाधा और मुख्यार्थ का योग, इन दोनों का प्रत्येक लक्षणा में रहना अनिवार्य है। इसी प्रकार तीसरे कारण रूढ़ि वा प्रयोजन का समस्त भेदों में यथासंभव विद्यमान रहना भी आवश्यक है।

दूसरी किरण

सम्बन्ध-विचार

[1]लक्षणा शक्यार्थ अर्थात् वाच्यार्थ के प्रचलन या प्रयोजन के अनुसार जिससे कुछ न कुछ सम्बन्ध हो उसी अर्थ को लक्षित करती है। इसीलिये आचार्यगण शक्य-सम्बन्ध को ही लक्षणा कहते हैं। पर सम्बन्ध जोड़ने में तात्पर्य पर दृष्टि रहनी चाहिये। जहाँ तात्पर्य ही न सिद्ध हो वहाँ सम्बन्ध को घसीट ले जाना [2]नेयार्थत्व अर्थात् अशक्ति से लक्ष्य अर्थ का प्रकाशन, दोष हो जाता है। इससे [3]यह सम्बन्ध लक्षणा का शरीर या स्वरूप है।

सम्बन्ध सम्बन्धी के साथ ही रहता है। जैसे सम्बन्धी भिन्न भिन्न होते हैं वैसे उनका सम्बन्ध भी भिन्न भिन्न होता है। जब किसी एक वाच्यार्थ का सम्बन्ध दूसरे अर्थ से जुड़ेगा तभी वह दूसरा अर्थ पहले वाच्यार्थ के वाचक शब्द का लक्ष्यार्थ कहा जायगा। अतः लक्षणा के लिये सम्बन्ध के स्वरूप को स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु किस प्रचलन या प्रयोजन से प्रयोक्ता किस प्रकार का सम्बन्ध जोड़ बैठेगा, इसका निश्चय करना कठिन है। अतः न तो सम्बन्धों की संख्या ही दी जा सकती है और न सम्बन्धों के स्वरूप ही स्थिर

---

१ लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्य्यानुपपत्तितः। **मुक्तावली**

२ रूढ़िप्रयोजनाभावादशक्तिकृतं लक्ष्यार्थप्रकाशनम्। **साहित्यदर्पण**

३ सम्बन्धा यथायोग्यं लक्षणाशरीराणि। **रसगङ्गाधर**

किये जा सकते हैं। इसी आशय को लेकर [4]पतञ्जलि संस्कृत में सम्बन्ध की बोधक षष्ठी विभक्ति के सैकड़ों अर्थ बताते हैं। तथापि विद्वानों ने सम्भावित सम्बन्धों का नाम-निर्देश किया है।

उन मुख्य सम्बन्धों में १ तात्स्थ्य—उस पर स्थित होने का सम्बन्ध २ ताद्धर्म्य—उसके धर्म रखने का सम्बन्ध ३ तत्सामीप्य—उसके समीप रहने का सम्बन्ध और ४ तत्साहचर्य—उसके साथ होने का सम्बन्ध, ये चार हैं। प्राचीन उदाहरण हैं—१ मचान हँसते हैं। २ लड़का सिंह है। ३ गंगा में गाँव है और ४ लाठियों को आने दो। तत्साहचर्य को धार्य-धारकभाव सम्बन्ध भी कहते हैं।

पतञ्जलि के उक्त चार सम्बन्धों के साथ [5]भर्तृहरि ने ५ तादर्थ्य नामक पाँचवें सम्बन्ध का भी उल्लेख किया है। किसी व्यक्ति या वस्तु का किसी व्यक्ति या किसी वस्तु के लिये होना तदर्थ होना है। अतः उनका सम्बन्ध तादर्थ्य है। यज्ञ में इन्द्र की पूजा का विधान है। [6]इन्द्र के लिये उत्सृष्ट काष्ठस्तम्भ को ही पूजार्थ इन्द्र मान लिया जाता है।

इनके अतिरिक्त १ तात्कर्म्य २ वैपरीत्य ३ सामान्य-विशेष-भाव ४ प्रेर्य-प्रेरक-भाव ५ आधाराधेय भाव या अवयवावयविभाव ६ स्व-स्वामि-भाव ७ कार्यकारणभाव आदि भी लक्षणा के साधक प्रसिद्ध सम्बन्ध हैं, जिनके उदाहरण यथास्थान मिलेंगे।

सम्बन्ध अर्थ पर निर्भर करता है। एक अर्थ के अर्थान्तर भी हो सकते हैं। अर्थभेद से सम्बन्ध-भेद होना निश्चित है। सम्बन्ध-भेद से लक्षणा भी भिन्न हो जा सकती है। यह भी सम्भव है कि मत-मतान्तर से एक ही अर्थ में दो प्रकार के सम्बन्ध माने जाँय। कहने का अभिप्राय यह कि सादृश्य सम्बन्ध होने से जो लक्षणा गौणी होती है और जो लक्षणा सादृश्येतर सम्बन्ध से शुद्धा होती है उनमें यदि प्रयोक्ता अपनी विवक्षा के अनुसार व्यतिक्रम कर दे तो गौणी लक्षणा शुद्धा बन जायगी और शुद्धा गौणी। एक उदाहरण से स्पष्ट कर लें।

---

४ एकशतं षष्ठ्यर्थाः। **महाभाष्य**

५ तात्स्थ्यात्तथैव ताद्धर्म्यात् तत्सामीप्यात्तथैव च ॥
तत्साहचर्य्यात्तादर्थ्यात् ज्ञेया वै लक्षणा बुधैः ॥ **वाक्यपदीय**

६ इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः। **काव्यप्रकाश**

प्यासों की आँखों में इसकी छवि चिर नूतन से नूतनतर।
नटवर नागर बन हर प्यासा रास रचाता पनघट पर॥ **रा. द. पाँडे**

प्यासों की, सामान्यतः तृषातुरों की और विशेषतः रूप-पिपासुओं की आँखों में पनिहारिनों की चंचल चरणों से मुखरित इस पनघट की नित नूतन निराली छवि बनी रहती है। प्यासों के हासपरिहास और छेड़छाड़ से पनघट पर रास सा रचा रहता है। इसी कारण कवि ने हर प्यासे को नटवर नागर बना डाला है। यही इसका अर्थ हो सकता है।

यहाँ हर प्यासे में नटवर नागर का आरोप है। पर सभी प्यासे नटवर-नागर अर्थात् श्रीकृष्ण, जिनके लिये यह शब्द एक प्रकार से रूढ़ हो गया है, नहीं हो सकते। यह शब्द लक्षणा से सभी को रसिक और विलासी बतलाता है। हर प्यासे को पनिहारिनों से छेड़छाड़ करने वाला बताना प्रयोजन है।

यहाँ की लक्षणा गौणी है या शुद्धा यह बताना सहज नहीं है। यदि पनिहारिनों से छेड़छाड़ करने के कार्य को प्रधानता देते हैं तो तात्कर्म्य सम्बन्ध होने से शुद्धा होती है और यदि श्रीकृष्ण और प्यासे को समान-गुणधर्मा रसिक और विलासी मानते हैं तो सादृश्य सम्बन्ध से गौणी होती है। यह विचार सहृदयता पर ही निर्भर है।

यह युग लक्षणा का है। हिन्दी साहित्य में लक्षणा की बाढ़ सी आ गयी है। सिनेमा के चलन से साधारण नागरिकों के भी 'अरमान तड़पते या बन्दी होते हैं' और 'सपने बिछाये जाते या चमाचम चमकते हैं'। काव्य की तो कोई बात ही नहीं। इससे आधुनिक काव्य-साहित्य को लेकर सम्बन्ध-निर्णय एक समस्या हो गया है; सम्बन्ध निर्द्धारण पहेली बन गया है।

तीसरी किरण

लक्षणा के सामान्य भेद

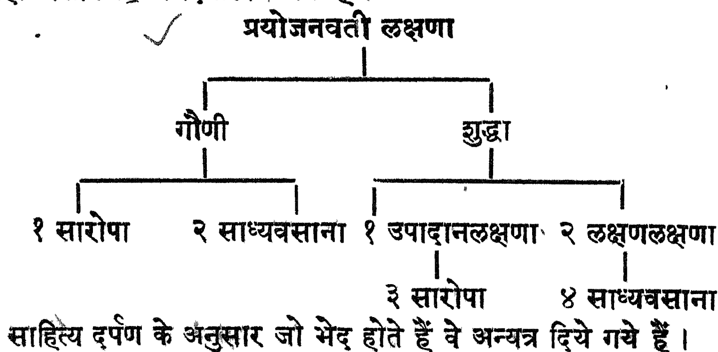
उक्त आधार पर लक्षणा के दो भेद होते हैं। रूढिमती या रूढ़िमूला और प्रयोजनवती या प्रयोजनमूला। संक्षेप में रूढ़िमती को रूढ़ि ही कहते हैं। प्रयोजनवती को स्वारसिका लक्षणा या फललक्षणा कहते हैं।

कई साहित्याचार्य्यों के मत से रूढ़िमती का कोई भेद नहीं होता। कारण यह कि जन-समाज में निष्प्रयोजन भी इसके निरन्तर प्रयोग हुआ करते हैं और इससे कवियों का काव्य में चमत्कार लाना स्वाधीन नहीं रह जाता। किन्तु कई आचार्य इसके भेदोपभेद मानते हैं। प्रयोजनवती लक्षणा के अनेक भेद होते हैं।

प्रयोजनवती लक्षणा द्वारा जहाँ वाच्य अर्थ अर्थान्तर में लक्षित किया जाता है वहाँ ऐसा करने का औचित्य सादृश्य सम्बन्ध पर अथवा कार्य-कारण आदि सम्बन्ध पर अवलम्बित रहता है। इससे सादृश्य सम्बन्ध की लक्षणा गौणी और कार्य-कारण आदि सम्बन्ध की लक्षणा शुद्धा होती है। वाच्यार्थ-लक्ष्यार्थ के गुणों को लेकर ही लक्षणा होने के कारण 'गौणी' और सीधे पदार्थ-सम्बन्ध को लेकर—लक्षणा होने के कारण 'शुद्धा' ये इनके सार्थक नामकरण हैं।

इन दोनों में से जहाँ वाच्यार्थ वाक्यार्थ में स्वत: अनन्वित होने पर अपने सम्बन्धी एक भिन्न अर्थ को लक्षित कराके अपना भी उपादान—ग्रहण—कराता है वहाँ उपादान लक्षणा तथा जहाँ अपने सम्बन्धी भिन्न अर्थ का वाक्य में अन्वय होने के लिये अपना सर्वथा परित्याग कर उपलक्षणमात्र रह जाता है वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि गौणी और शुद्धा के उपादान और लक्षण, आरोप और अध्यवसान से शून्य नहीं होते। दोनों के कलेवर पर पहले या दूसरे का रंग जरूर चढ़ा रहता है। अत: सारोपा और साध्यवसाना उसके ये दो भेद और होते हैं।

काव्यप्रकाश के अनुसार प्रयोजनवती लक्षणा के छ भेद होते हैं जो यहाँ रेखा-चित्र में दिखलाये गये हैं।



साहित्य दर्पण के अनुसार जो भेद होते हैं वे अन्यत्र दिये गये हैं।

चौथी किरण

रूढ़ि और प्रयोजनवती

रूढ़ि लक्षणा

रूढ़ि लक्षणा वह है जिसमें रूढ़ि के कारण मुख्यार्थ को छोड़ कर उससे सम्बन्ध रखनेवाला अन्य अर्थ ग्रहण किया जाय। जैसे,

'पंजाब लड़ाका है'। पंजाब अर्थात् पंजाब प्रदेश लड़ाका नहीं हो सकता। इसमें मुख्यार्थ की बाधा है। इससे इसका लक्ष्यार्थ पंजाब-प्रदेशवासी होता है। क्योंकि पंजाब से उसके निवासी का आधाराधेय-भाव सम्बन्ध है। यहाँ पंजाबियों के लिये 'पंजाब' कहना रूढ़ि है। ऐसे ही 'राजपुताना वीर है' एक दूसरा उदाहरण है।

जिसे चूम हँसती है दुनिया उसे देख मैं रोती हूँ। **दिनकर**

'दुनिया हँसती है' ऐसा बोलने की रूढ़ि है। आधाराधेय-भाव सम्बन्ध द्वारा लक्षणा से 'दुनिया' का अर्थ होता है, दुनिया में रहने वाले। इस प्रकार इसकी अर्थबाधा मिट जाती है।

लक्ष्मण सीता साथ ले श्री दशरथ के लाल।
विपिन धीर गति से गये छोड़ अवध बेहाल॥ **राम**

अवध शब्द की 'अवध प्रदेश' में रूढ़ि है। बेहाल होना दैहिक धर्म है। यह अर्थ जड़ अवध में संभव नहीं। इससे मुख्यार्थ की बाधा है। इसका अवधवासी यह अर्थ लक्षणा शक्ति से हुआ। यहाँ रूढ़ि लक्षणा है।

रूढ़ि में परंपरा-प्रचलित मुहावरों या खण्ड वाक्यों की भी गणना होती है। जैसे, गाँव-का-गाँव बाग़ी हो गया तो गवाह कहाँ से मिलें?' यहाँ गाँव शब्द गाँव में रहने वालों के लिये रूढ़ तो है ही, द्विरुक्त होकर गाँव की संपूर्णता में भी रूढ़ है।

बेतरह दुखे किसी दिल में, भले ही पड़ जाये छाला।
जीभ-सी कुञ्जी पाकर वे, लगायें क्यों मुँह में ताला॥ **अ. उपाध्याय**

इसमें दो मुहावरे हैं—'दिल में छाला पड़ जाना' और 'मुँह में ताला लगाना'। इन दोनों के क्रमशः लक्ष्यार्थ है—'मन में असह्य पीड़ा होना' और 'कुछ भी न बोलना'। दोनों में मुख्यार्थ की बाधा है और मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाले ये अर्थ लक्षणा से ही होते हैं। एक और भी—

उनके बिन बरसाती रातें कैसे कटे अचूक रे।
पिय की बाँह उसीस न हो तो मिटे न हिय की हूक रे ॥ —**नवीन**

इसमें 'रात का कटना' रूढ़ि है। लक्षणा से रात बीतने का तत्सम्बन्धी अर्थ होता है। एक प्राचीन उदाहरण है—

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिये, दई नयी यह रीति ॥ —**विहारी**

जो चीज उलझती है वही टूटती है, जब उसे जोडते हैं तो गाँठ भी उसीमें पड़ती है। यह साधारण बात है। किन्तु यह कैसी नयी रीति है कि आँख उलझती है तो कुटुम टूटता है और प्रीति चतुर के चित्त में जाकर जुड़ती है पर गाँठ पड़ती है दुर्जन के हृदय मे। इसमें आँख उलझना कुटुम्ब टूटना, प्रीति जुड़ना और गाँठ पड़ना, ये चार खण्ड वाक्य हैं। उनके अर्थ बाधित है। क्योंकि न तो आँख उलझने की चीज है और न परिवार टूटने की। ऐसे हो प्रीति न जुड़ने की चीज है और न हृदय में गाँठ ही पड़ती है। अतः इनमे ऊपर के ही समान लक्षणा से तत्सम्बन्धो ये अर्थ किये जाते हैं—लालसा भरो आँखो का चार होना, परिवार से अलग हो जाना, नायक से प्रेम होना और प्रतिद्वन्द्वी को ईर्ष्या होना। बोलने की परम्परा के कारण ऐसे खण्ड वाक्य कहे जाते हैं।

प्रयोजनवती लक्षणा

प्रयोजनवती लक्षण वह है जिसमें किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिये लक्षणा की जाय। जैसे,

'अहीरों का गाँव गंगा मे है'।

इस वाक्य में गंगा के प्रवाह में गाँव का होना असंभावित है। अतः मुख्यार्थ की बाधा है। लक्षक गंगा शब्द से उसकी लक्षणा शक्ति द्वारा सामीप्य सम्बन्ध के नाते 'गंगा का तट' यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। ये दोनो बातें रूढ़ि के समान प्रयोजनवती में भी हैं। पर 'गंगा' शब्द तट के अर्थ में रूढ़ नहीं है। यहाँ गंगा शब्द का प्रयोग करने से वक्ता का प्रयोजन है गाँव की शीतलता, पवित्रता, जलप्राप्ति की सुलभता का निर्देश करना। यही विशेष प्रयोजन है। यदि 'गंगा' की जगह 'गंगातट' कह दिया जाय तो ये बातें उस अतिशय के साथ नहीं प्रतीत होतीं। क्योंकि, पवित्रतादि धर्म गंगा के प्रवाह के हैं, जो तट में संभव

नहीं। 'गंगा' कहने से लक्षणा द्वारा उसके तट में वे सब धर्म भी सूचित होने लगते हैं। अतः इस प्रयोजन से यह प्रयोजनवती लक्षणा हुई। ऐसा ही यह भी उदाहरण है—

गंगाबासी सब कहें गंगातट के लोग।

एक और वाक्योदाहरण—

आँख उठाकर देखा तो सामने हड्डियों का ढाँचा खड़ा है।

इस वाक्य में 'हड्डियों का ढाँचा' का प्रयोग प्रयोजन-विशेष से है। वह है व्यक्ति-विशेष को अधिक दुर्बल बताना। लक्षणा शक्ति से हड्डियों का ढाँचा, दुर्बल व्यक्ति को लक्षित कराता है। वक्ता ने इसका प्रयोग दुर्बलता की अधिकता व्यञ्जित करने के लिये ही किया है।

माता, पिता, सखा, सुख, मान
तुम्हीं हमारे हो भगवान। अनुवाद

इसमें भगवान को माँ, बाप, सखा आदि कहने में इन शब्दों का मुख्यार्थ बाधित है। क्योंकि, ऐसा होना संभव नहीं। किन्तु, यहाँ लक्षणा से रक्षक, सुखदायक आदि इसके तत्सम्बन्धी अर्थ होते हैं। इस लाक्षणिक प्रयोग से भक्त की भक्तिभावना की अनन्यता सूचित होती है, जो प्रयोजन है। इससे यह प्रयोजनवती लक्षणा हुई। यहाँ तात्कर्म्य सम्बन्ध है। श्री तुलसीदास का यह दोहा भी ऐसा ही उदाहरण है—

स्वामि, सखा, पितु, मातु, गुरु जिनके सब तुम तात।

खग मृग मगन देखि छवि होहीं। लिये चोरि चित राम बटोही।

इसमें चित्त का चुराया जाना वर्णित है। किन्तु चित्त कोई धन-दौलत नहीं जो चुराया जा सके। इस प्रकार मुख्यार्थ की बाधा है। लक्षणा से तत्सम्बन्धी अर्थ चित्त को अपने वश में कर लेना आदि लक्षित होता है। यहाँ राम को प्राणिमात्र के लिये नयनाभिराम बताना प्रयोजन है। यहाँ सादृश्य सम्बन्ध है। यदि चित्त चुराना यह मुहावरा इस अर्थ में रूढ़ मान लिया जाय तो इसे रूढ़ि लक्षणा में भी ले जा सकते हैं।

पिघल पिघल कर चू पड़ते हैं दृग से क्षुभित विवश अन्तस्तल। दिनकर

आँखों से अन्तस्तल का पिघल कर चू पड़ने में मुख्यार्थ का बाध है। लक्षणा से अर्थ होता है फूट फूटकर रोना, आठ-आठ आँसू रोना। प्रयोजन है मर्मान्तक पीड़ा प्रकट करना। इससे यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा है।

चौथी किरण

गौणी और शुद्धा

गौणी लक्षणा उसे कहते हैं जिसमें सादृश्य सम्बन्ध से अर्थात् समान गुण वा धर्म के कारण लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाय। जैसे,

है करती दुख दूर सभी उनके मुख पंकज की सुघराई।
याद नहीं रहती दुख की लख के उसकी मुखचन्द्र जुन्हाई॥
—ठा. गोपाल शरण सिंह

चन्द्र और पंकज मुख से भिन्न हैं। दोनों एक नहीं हो सकते। इससे इनमें मुख्यार्थ की बाधा है। पर दोनों में गुण की समानता है। मुख देखने से वैसा ही आनन्द आता है, आह्लाद होता है, हृदय में शीतलता आती है जैसे पङ्कज और चन्द्रमा के देखने से। इस गुणसाम्य से ही मुख चन्द्रमा और पङ्कज मान लिया गया है। यहाँ दो भिन्न भिन्न पदार्थों में अत्यन्त सादृश्य होने से भिन्नता की प्रतीति नहीं होती। इससे यह सादृश्य ही गौणी लक्षणा का कारण है।

एक और उदाहरण लें—

ढल रहे थे मलिनमुख रवि, दुख-किरण
पद्म-मन पर थी, रहा अवसन्न बन
देखती यह छवि खड़ी मैं। —निराला

यहाँ दुःख और मन पर किरण और पद्म का जो आरोप है वह सादृश्य सम्बन्ध से ही है। ढलते हुए रवि की रश्मियाँ निस्तेज हो जात हैं जिनका तात्कालिक प्रभाव पद्म पर पड़ता ही है। इस प्रकार दुख से भी मन मलिन हो जाता है।

शुद्धा लक्षणा

शुद्धा लक्षणा उसे कहते हैं जिसमें सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ का बोध होता है। जैसे—

१. सामीप्य सम्बन्ध से—

पानी में घर है तो मलेरिया क्यों न हो!

पानी में घर होना मुख्यार्थ की बाधा है। यहाँ लक्षणा से घर के समीप अधिक पानी का रहना, घर में या उससे सटी हुई भूमि में अधिक सीड़ रहना, मच्छड़ों का पैदा होना आदि लक्ष्यार्थ लिया जाता है। यहाँ सादृश्य सम्बन्ध नहीं, प्रत्युत सामीप्य सम्बन्ध है। इससे यह शुद्धा लक्षणा है। घर का अस्वास्थ्यकर बताना प्रयोजन है।

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखो में पानी॥ **मै० श० गुप्त**

इसमें आँचल में दूध होना बाधित है। अतः सामीप्य सम्बन्ध द्वारा स्तन में दूध होना लक्ष्यार्थ लिया जाता है। मातृत्व का आधिक्य प्रकट करना प्रयोजन है।

२ आधाराधेयभाव सम्बन्ध से—

कौशल्या के बचन सुनि भरत सहित रनिवास।
व्याकुल विलपत राजगृह मानहु सोकनिबास॥ **तुलसी**

रनिवास का रोना संभव नहीं। अत: यहाँ आधाराधेयभाव सम्बन्ध से रनिवास में रहनेवालों का अर्थ-बोध होता है। विषाद की व्यापकता प्रकट करना प्रयोजन है।

३ अङ्गाङ्गिभाव या अवयवावयविभाव सम्बन्ध से—

करके मीड़े कुसुम लौं गई विरह कुम्हिलाय।
सदा समीपिनि सखिन हूँ, नीठि पिछानी जाय॥ **बिहारी**

यहाँ विरह-मलिन नायिका की करमर्दित कुसुम से समता की गयी है। कुसुम कर से मर्दित नहीं होता बल्कि कराग्रभाग से अर्थात् अँगुलियों से मसला जाता है। अँगुलियों को कर कहने में मुख्यार्थबाधा है। अतः अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध से कर का लक्ष्यार्थ अँगुली होता है। क्योंकि, हाथ अङ्गी है और अँगुलियाँ हैं अङ्ग या अवयवी का अवयव। अतिमलिन बताना प्रयोजन है। ऐसा ही उदाहरण थोड़ा भी कपड़ा जल जाने पर कहते हैं कि कपड़ा जल गया।

४ कार्य कारण सम्बन्ध से—

व्यायाम बल है।

व्यायाम को बल कहने में मुख्यार्थ की बाधा है। यहाँ व्यायाम बलवर्द्धक है—बल का कारण है, यह लक्ष्यार्थ लिया जाता है। व्यायाम कारण है और बल कार्य है। अत: कार्यकारणभाव सम्बन्ध होने से शुद्धा है। व्यायाम को विशिष्ट प्रकार से बलवर्द्धक बताना प्रयोजन है।

५ तात्कर्म्य सम्बन्ध से—

"ऐरे मतिमन्द चन्द आवत न तोहि लाज

होके द्विजराज काज करत कसाई के।—**पद्माकर**

यहाँ चन्द्रमा का कसाई का काम करना बाधित है। क्योंकि, वह तो किसी का गला नहीं काटता। लक्षणा से विरहिनियों को सताने के कारण घातक का अर्थ लिया जाता है। यहाँ तात्कर्म्य अर्थात् समान कर्म करने का सम्बन्ध है। भाव यह कि वह कार्य-विशेष करना, जो दूसरा कोई करता है। संताप देने की अधिकता बताना प्रयोजन है।

यहाँ नौकर मालिक है।

नौकर को मालिक कहने में अर्थबाधा है। मालिक का अधिकारपात्र या विश्वासभाजन होना लक्ष्यार्थ है। तात्कर्म्य सम्बन्ध से शुद्धा है। नौकर के अधिकार की अधिकता बताना प्रयोजन है।

६ तादर्थ्य सम्बन्ध से—

यह अनन्त देव हैं।

यहाँ चतुर्दश-ग्रन्थि-युक्त सूत्र-समूह को अनन्त देव कहा गया है। सूत्र-ग्रन्थि को अनन्त देव कहने में अर्थबाधा है। इसमें तादर्थ्य सम्बन्ध है अर्थात् नियत व्यक्ति के निमित्त व्यवहृत होने का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध से सूत्रग्रन्थि का लक्ष्यार्थ अनन्तदेव होता है। अनन्त व्रत में अनन्त देव की पूजा का विधान है। अनन्त देव के स्थान में सूत्र-ग्रन्थि की पूजा होती है। अनन्त देव के निमित्त पूजित सूत्र-ग्रन्थि को पूज्य बताना प्रयोजन है। यहाँ रूढ़ि होने का सन्देह किया जा सकता है, किन्तु यह रूढ़ि-वादिता नाम साम्य तक ही सीमित है। सूत्र में पूज्य भाव बताना तादर्थ्य सम्बन्ध से ही संभव है।

७ साहचर्य सम्बन्ध से—

आजकल लाल पगड़ी का बोलबाला है

लाल पगड़ी का बोलबाला कहने में मुख्यार्थ की बाधा है। लक्षणा से लाल पगड़ी का अथ सिपाही होता है। यहाँ सिपाही से लाल पगड़ी का साहचर्य सम्बन्ध है, अतः यह शुद्धा है। यहाँ रूढ़ि है।

पाँचवीं किरण

उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा का विचार

साधारणतः उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा के लक्षण ये हैं—लक्षक शब्द का वाच्यार्थ जहाँ लक्ष्यार्थ से अन्वित हो वहाँ उपादानलक्षणा और जहाँ अनन्वित हो वहाँ लक्षणलक्षणा होती है। इनके उदाहरणों में संभव है कि मतभेद हो। ऐसा हो सकता है कि हम जिसे उपादानलक्षणा माने उसे दूसरे लक्षणलक्षणा मानते हों। एक दो उदाहरणों से यह मतभेद की बात स्पष्ट हो जायगी।

पेट काट कर महल बना था दुनिया के मजदूरों का।
लाल फौज करती रखवाली रूस देश मजदूरों का॥ **नरेन्द्र**

इसमें 'पेट काट करके' का यह भी अर्थ हो सकता है कि 'पेट का अन्न या आहार छीन कर' और यह भी अर्थ हो सकता है कि 'मजदूरी काट कर या मजदूरी कम करके'। पहला अर्थ होने से उपादानलक्षणा होगी क्योंकि, पेट अन्न वा आहार का अर्थ देते हुए अपने वाच्यार्थ का उपादान—ग्रहण करता है और दूसरे में वाच्यार्थ सर्वथा अपना त्याग कर मजदूरी को ही लक्षित करता है। इससे लक्षणलक्षणा है।

गात पै लँगौटी एक बोटी भर मांस लिये
पैंतिस करोड भारतीयता की थाती है।
भारत के भाग्यभानु, कर्मवीर गाँधी तेरे
तीन हाथ गात पै हजार हाथ छाती है। **अंबिकेश**

यहाँ 'एक बोटी भर मांस लिये' का अर्थ जब हम यह करते हैं कि 'शरीर में थोड़ा ही मांस रखने वाले' तब तो उपादानलक्षणा होती है। क्योंकि, इसमें मांस अपने अर्थ को नहीं छोड़ता और जब 'एक बोटी मांस लिये का अर्थ 'दुर्बल देह' करते हैं तब लक्षणलक्षणा हो जाती है। क्योंकि इसमें मांस अपना अर्थ एक दम छोड़ देता है।

न धरो इसको कहकर अपना। यह तो दो दिन का है सपना। **प्रसाद**

संसार या संसारिक सुख को माया ममता में लिपटे हुए हम मूढ़ चिरस्थायी समझते हैं पर है यह क्षणस्थायी और यही भाव इस पद्यार्द्ध में व्यक्त है।

इसमें 'दो दिन का' लाक्षणिक प्रयोग है। यदि इसका अर्थ यह लिया

जाय कि 'कुछ दिनों का' तो उपादानलक्षणा होगी और इसका क्षण-स्थायी अर्थ लें तो लक्षणलक्षणा होगी।

इस विचार को बुद्धि का साधारण कौतुक ही कहना चाहिये। किन्तु है यह विचारणीय अवश्य।

छठी किरण

उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा

उपादानलक्षणा

जहाँ वाक्यार्थ की संगति के लिये अन्य अर्थ के लक्षित किये जाने पर भी अपना अर्थ न छूटे वहाँ उपादानलक्षणा होती है।

उपादान का अर्थ है ग्रहण—लेना। इसमें वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग नहीं होता। अतः इसे अजहत्स्वार्था भी कहते हैं। अर्थात् जिसमें अपना स्वार्थ न छूट गया हो। जैसे, सारा घर तमाशा देखने गया है। यहाँ घर का तमाशा देखने जाना बाधित है। लक्ष्यार्थ होता है घर वालों का तमाशा देखने जाना। यहाँ घर अपना अर्थ न छोड़ते हुए घर वालों का आक्षेप करता है। अतः उपादानलक्षणा है। ऐसा ही यह उदाहरण भी है—

भाले आये जब वहाँ चले बाण घनघोर।

यहाँ भालों का आना और बाण का चलना दोनों अर्थ बाधित हैं, क्योंकि जड़ पदार्थ का आना और चलना संभव नहीं। किन्तु ये दोनों अपने मुख्यार्थ की सिद्धि के लिये 'भाले धारण करनेवाले आये' 'शत्रु बाण चलाने लगे', इन अन्यार्थों का आक्षेप करते हैं—बरबस खींच लाते हैं। भाले और बाणों का उनके धारण करनेवालों के साथ धार्यधारक सम्बन्ध है। इसमें भाला और बाण धार्य हैं। दोनों का साथ होने से संयोग-सम्बन्ध भी है। इससे यहाँ शुद्धा उपादानलक्षणा हुई। यहाँ इस वाक्य से भालेवालों की अधिकता और उनके व्यापार की तीक्ष्णता प्रकट होती है। यही प्रयोजन है। इससे यह प्रयोजनवती उपादान-लक्षणा है।

प्राणधन को स्मरण करते नयन झरते नयन झरते। —निराला

यहाँ नयनों का झरना संभव नहीं, अतः अर्थबाध है। लक्ष्यार्थ होता है—आँसू का बहना। इसमें नयन अपना अर्थ न छोड़ते हुए अपने झरने की सिद्धि के लिये आँसू का आक्षेप करता है। निरन्तर आँसू का बहते रहना बताना ही प्रयोजन है। यहाँ जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध है।

ऐसी ही यह भी पंक्ति है—

साँस खींच कर कहते कहते बरस पड़ीं आँखे झर झर झर। —भक्त

उपादान का एक और सुन्दर उदाहरण लें—

मैं हूँ बहन किन्तु भाई नहीं है। राखी सजी पर कलाई नहीं है। सु. कु. चौहान

कलाई अलग रहने की वस्तु नहीं है। अतः कलाई भाई की कलाई का उपादान करता है। यहाँ अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध है।

दूसरे ढंग का एक उदाहरण देखें—

सभ्यों से प्रार्थना है कि वे मुझे सभा की उत्तेजित जनता के वाग्बाणों से बचावें।

इस वाक्य में अन्वयार्थ ठीक है। मुख्यार्थ में बाधा नहीं। फिर भी वक्ता का तात्पर्य केवल कटु वाक्यों से बचाना ही नहीं है। वाग्बाण तो [1]उपलक्षणमात्र है—एक साधारण निर्देश भर है। वस्तुतः वाग्बाण से यहाँ तात्पर्य है सब प्रकार की अप्रतिष्ठा, मारपीट आदि से बचाने का भी। इस दशा में मुख्यार्थ की बाधा है। यहाँ वाग्बाण मुख्यार्थ न छोड़ता हुआ मारपीट आदि दुख देनेवाले अन्यान्य कार्यों का आक्षेप करता है। इससे यहाँ उपादानलक्षणा है। 'कौओं से दही बचाओ' (काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्) एक शास्त्रीय प्राचीन उदाहरण है। यहाँ कौए से अभिप्राय दधि-भक्षक सभी कुत्ता, बिल्ली आदि का है। ऐसे ही—'माँ-बाप की आज्ञा मानो' आदि वाक्य हैं। यहाँ इस वाक्य का तात्पर्य यह नहीं कि अन्य बड़े-बूढ़ों, गुरुजनों की बातें न मानो। माँ-बाप शब्द सभी गुरुजनों के बोध के लिये है।

जब हुई हुकूमत आँखों पर जनमी चुपके मैं आहों में।
कोड़ों की खाकर मार पली पीड़ित की दबी कराहों में॥ —दिनकर

'कोड़ों की मार खाकर' ही क्रांति नहीं पलती। यह एक उपलक्षणमात्र है। इसमें वक्ता का तात्पर्य उन अनेक प्रकार के क्रूर अत्याचार, जुल्म और सितम से है जिनसे क्रांति बढ़ा करती है। यहाँ शब्दगम्य मुख्यार्थ का

---

१ एकपदेन तदर्थान्यपदार्थकथनमुपलक्षणम्।

बाध नहीं, वक्ता के तात्पर्य रूप मुख्यार्थ की बाधा है। ऐसी जगह भी उपादानलक्षणा होती है। ऐसी ही यह पंक्ति भी है—

'फूटी कौड़ी पर विनोदमय जीवन सदा टपकता'। —निराला

यहाँ फूटी कौड़ी का तात्पर्य तुच्छ, नगण्य धन से है। फूटी कौड़ी इसका उपादान करती है।

लक्षणलक्षणा

जहाँ वाक्यार्थ की सिद्धि के लिये वाच्यार्थ अपने को छोड़ कर केवल लक्ष्यार्थ को सूचित करे, वहाँ लक्षणलक्षणा होती है

इसमे अमुख्यार्थ को अन्वित होने के लिये मुख्यार्थ अपना अर्थ बिल्कुल छोड़ देता है। इसलिये इसे जहत्स्वार्था भी कहते हैं। जैसे, रूढ़ि में 'पंजाब लड़ाका है'। इसमें पंजाब पंजाबियों के लिये अपना अर्थ छोड़ देता है। और, प्रयोजन में 'गंगा में गाँव है'। इसमें गंगा शब्द अपने अर्थ को तट के लिये छोड़ देता है। ऐसे ही 'सूर्य माथे पर आ गया'। 'पेट में आग लगी है'' आदि वाक्य हैं। इनके अर्थ होते हैं— 'दोपहर हो गयी'। 'जोर की भूख लगी है'। इसमें लक्षक शब्द अपने अर्थ बिल्कुल छोड़ देते हैं।

क्यों बसिये क्यों निबहिये, नीति नेह पुर वाँहि।
लगालगी लोचन कर, नाहक मन बँधि जाँहि। —बिहारी

इसमें आँखों का लगालगी करना और मन का बँधना, ये दोनों मुख्यार्थ बाधित हैं। क्योंकि न आँखें लड़ाई करती हैं और न मन बँधता है अर्थात् पकड़ा जाता है। इससे इनका लक्ष्यार्थ होता है 'किसी से प्रेम होना', और 'मनका आसक्त हो जाना'। इसमें मुख्यार्थ एकदम छूट जाता है। इससे यह लक्षणलक्षणा है।

मैने चाहे कुछ इसमें विष अपना डाल दिया हो।
रस है यदि तो वह तेरे चरणों ही का जूठन है। —भा० आत्मा

यहाँ विष दोष का और रस गुण का उपलक्षण है। इसके अतिरिक्त रस को 'चरणों ही का जूठन कहने में भी अर्थबाधा है। लक्ष्यार्थ होता है—आपके निकट रहने से ही, आपके संसर्ग से ही, अच्छी वस्तु प्राप्त हुई है। यहाँ चरणों का जूठन अपना अर्थ बिलकुल छोड़ देता है। इससे लक्षणलक्षणा है।

यह लक्षणलक्षणा विपरीत अर्थ की प्रतीति का कारण भी होती है। तुलसीदास का यह पद्यार्ध लीजिये—

रोष भाखे लखन अकनि अनखौंही बातें, तुलसी बिनीत बाणी बिहँसि ऐसी कही।
सुजस तिहारो भरौ भुवननि भृगुतिलक, प्रगट प्रताप आपु कहौ सो सबै सही।

इसमें लक्ष्मण के कथनका मुख्यार्थ है कि हे भृगुकुलतिलक परशुराम जी! आपका सुयश तो भुवन-व्यापी है। इससे आप जो अपना प्रताप कहते हैं सो सब ठीक है। किन्तु परशुराम पर क्रुद्ध लक्ष्मण का यह कहना ठीक इसके उलटा होना चाहिये। इससे मुख्यार्थ की बाधा है। यहाँ लक्ष्यार्थ परशुराम का दुर्यश बताना है, जिससे मातृहन्ता आदि निन्दा की ध्वनि निकलती है। प्रयोजन परशुराम को अत्यधिक चिढ़ाना है। मुक्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का विपरीत सम्बन्ध है। मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया गया है। इससे लक्षणलक्षणा है।

एक और—

यशोधरा—किन्तु कोई अनय करे तो हम क्यों करें।
राहुल— और नहीं माथे पर क्या हम उसे धरें। मै. श. गुप्त

इसका यह विपरीत अर्थ होता है कि हम अन्याय को सिर-माथे पर नहीं धर सकते। मुख्यार्थ की बाधा है। लक्षणा से उक्त अर्थ होता है। मुख्यार्थ छोड़ लक्ष्यार्थ का ग्रहण है। इससे यहाँ लक्षणलक्षणा है।

सातवीं किरण

सारोपा और साध्यवसाना

सारोपा लक्षणा

जिस लक्षणा में आरोप हो अर्थात् आरोप्यमाण (विषयी) और आरोप का विषय इन दोनों की शब्द द्वारा उक्ति हो, उसे सारोपा कहते हैं।

एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभेद-ज्ञापन को आरोप कहते हैं। इसमें विषयी और विषय का [1]तादात्म्य—एकरूपता प्रतीत होती है।

---

[1] भेदसहिष्णुरभेदस्तादात्म्यम्।

जिस वस्तु का आरोप किया जाता है वह आरोप्यमाण वा विषयी और जिस वस्तु पर आरोप होता है उसे आरोप का विषय वा केवल विषय कहते हैं। जैसे—मुख चन्द्र है। यहाँ मुख पर चन्द्रत्व का आरोप है।

सारोपा गौणी लक्षणा

मोहन उल्लू है।

इस वाक्य के मोहन पर उल्लूपन का आरोप है। मोहन आरोप का विषय और उल्लूपन आरोप्यमाण अर्थात् विषयी है। दोनों का शब्द द्वारा कथन है, दोनों में तादात्म्य-प्रतीति है। इसीसे यह सारोपा है। मोहन को उल्लू कहने में मुख्यार्थ की बाधा है। किन्तु, दोनों में जड़ता, अज्ञता, मंदता, निबुद्धिता आदि गुण समान हैं। अत: सादृश्य के आधार पर लक्ष्यार्थ का ग्रहण है। इसीसे यह गौणी है। मोहन में मूर्खता की अधिकता बताना प्रयोजन है।

मोहन मो दृग पूतरी, वा छवि सिगरी प्रान।
सुधा चितौनि सुहावनी, मींचु बाँसुरी तान। **दास**

इसमें मोहन, छवि, चितवन और बाँसुरी-तान आरोप के विषय हैं तथा क्रमशः दृगपूतरी, प्राण, सुधा और मृत्यु आरोप्यमाण—विषयी हैं। दोनों का शब्द द्वारा कथन है, इससे सारोपा है। मोहन को आँख की पुतली, छवि को प्राण, चितवन को अमृत और वंशी ध्वनि को मृत्यु ठहराना, मुख्यार्थ बाध है। किन्तु क्रमशः लक्षणा द्वारा आक्षिप्त अत्यन्त प्रियता, जीवनाधारता, आह्लादकता और पीड़ादायकता (विरहिनियों के लिये) दोनों में समान हैं। इससे गौणी है।

स्वर्ण-किरण-कल्लोलों पर बहता रे यह बालक मन। —**निराला**

यहाँ किरणों पर कल्लोलो का आरोप है। किरणें लहरें बन गयी हैं। उन पर बालक बना मन बह रहा है। दोनों में रूप-गुण-साम्य है। अत: गौणी है। इसमें लक्षण-लक्षणा से बालक मन का अर्थ भोला मन और मन बहने का अर्थ मन का रम जाना—मुग्ध हो जाना, होता है।

सारोपा शुद्धा उपादानलक्षणा

पूर्वोक्त उपादानलक्षणा के उदाहरण में "भाले आये' और 'चले बाण' के साथ-साथ 'ये' सर्वनाम जोड़ दिया जाय तो सारोपा, शुद्धा, उपादान-लक्षणा हो जायगी। 'ये भाले आये' 'ये बाण चले', इनमें भाले और बाण आरोप्यमाण—विषयी हैं और 'ये' (पुर) (भाले और बाण चलाने वाले व्यक्ति—पुरुष) आरोप का विषय हैं। भाले और बाण, तथा 'ये'

(पुरुष) दोनों का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है । इससे सारोपा है। धार्य-धारक सम्बध होने से शुद्धा है।

स्वर्गलोक की तुम अप्सरि थीं तुम वैभव में पली हुई थीं। —हरिकृष्ण प्रेमी

यहाँ तुम पर अप्सरा का आरोप होने से सारोपा है। अप्सरा अपना अर्थ रखते हुए अपनी-सी सर्वाङ्गसुन्दरी, मनमोहिनी नारी का आक्षेप करती है। इससे उपादानमूला है। मनमोहन रूप कर्म के कारण वा स्त्रीजाति की होने के कारण तात्कर्म्य वा साजात्य सम्बन्ध से शुद्धा है।

सारोपा शुद्धा लक्षण-लक्षणा

प्रयोजनवती लक्षणा के उदाहरण 'माता, पिता, सखा, सुख, मान। तुम्हीं हमारे हो भगवान' में भगवान ही को सब कुछ कहा गया है। उन्हीं पर माता, पिता, आदि का आरोप है। दोनों का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है, इससे सारोपा है। यहाँ माता, पिता के अर्थ का त्याग है और लक्ष्यार्थ रक्षक आदि का ग्रहण है। इससे लक्षणलक्षणा है। यहाँ तात्कर्म्य सम्बन्ध से शुद्धा है।

'आज भुजंगों से बैठे हैं वे कंचन के घड़े दबाये।
विनय हार कर कहती है ये विषधर हटते नहीं हटाये। हरिकृष्ण प्रेमी

यहाँ 'ये' के वाच्यार्थ (पूँजीपति) पर 'विषधर' का आरोप है। विषधर अपना अर्थ छोड़कर क्रूर (पूँजीपतियों) का अर्थ देता है। इससे लक्षणलक्षणा है। काटना दोनों का कर्म है, इस सम्बन्ध से शुद्धा है।

साध्यवसाना लक्षणा

जहाँ आरोप का विषय लुप्त रहे—शब्दतः प्रकट नहीं किया गया हो और विषयी (आरोप्यमाण) द्वारा ही उसका कथन हो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है। आरोप के विषय का निर्देश न कर केवल आरोप्यमाण के कथन को अध्यवसान कहते हैं। जैसे—

देखो चाँद का टुकड़ा।

यहाँ आरोप के विषय मुख का निर्देश नहीं है केवल आरोप्यमाण 'चाँद का टुकड़ा' ही कहा गया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा

'रंगमंच की अप्सरा आ गयी है।' इस वाक्य में आरोप का विषय कोई सुगायिका नर्त्तकी का कथन नहीं, केवल आरोप्यमाण अप्सरा ही का कथन है। अप्सरा शब्द गायिका के स्थान पर आकर अध्यवसान पैदा कर देता है। इससे यह लक्षणा साध्यवसाना है। सादृश्य सम्बन्ध से गौणी है। ऐसे ही क्रूर व्यक्ति के लिये 'कसाई' वा 'जल्लाद' तथा 'घातक' व्यक्ति के लिये 'हत्यारा' वा 'यमराज' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

सारोपा में वस्तु को पृथक्-पृथक् समझाते हुए भी तद्रूपता का ज्ञान कराया जाना अभीष्ट होता है और साध्यवसाना में वस्तु की प्रतीति पृथक्-पृथक् कराये बिना ही एकता का ज्ञान कराया जाना। यही दोनों में मुख्य भेद है।

सारोपा में उपमेय और उपमान दोनों रहते हैं। किन्तु, साध्यवसाना में उपमेय का कथन न होकर केवल उपमान का ही कथन होता है। इसमें आरोप का विषय आरोप्यमाण को अपना अस्तित्व सौंप देता है। यह आरोपाधिक्य का ही फल है। उदाहरण लें—

१ बैरिनि कहा बिछावती फिर-फिर सेज कृसान।
सुन्यो न मेरे प्राणधन चहत आज कहुँ जान।—**दास**

इसमें सखी में वैरिणी का, फूलों में कृशानु का और पति में प्राण-धन का अध्यवसान किया गया है। क्योंकि सखी, फूल और पति का उल्लेख नही है। इससे साध्यवसाना है। सादृश्य-सम्बन्ध से गौणी है।

२ हाय मेरे सामने ही प्रणय का ग्रन्थिबन्धन हो गया, वह नव कमल—
मधुप-सा मेरा हृदय लेकर किसी अन्य मानस का विभूषण हो गया।—**पंत**

अपनी प्रणयिनी का दूसरे से परिणय हो जाने पर कवि की उक्ति है। इसमें 'नव कमल' 'प्रणयिनी' के लिये आया है, जो आरोप्यमाण है। आरोप के विषय का कथन नहीं है। विषयी में विषय का अध्यवसान हो जाने से साध्यवसाना है। गुण-धर्म से सादृश्य होने के कारण गौणी है। ऐसे ही 'प्रणय' में 'प्रेमी-युगल' का अध्यवसान है।

है रिपोर्टों में कलेजा छप रहा, देश के आनन्द-भवनों ने कहा।—**भा.आत्मा**

यहाँ 'कलेजा' मर्मान्तक पीड़ा से व्यथित हृदय का स्थानापन्न है। अतः इसे अध्यवसान का उदाहरण मानना चाहिये। ऐसे ही 'आनन्द

भवनों' से आनन्द-भवन-निवासी प्रसिद्ध पिता-पुत्र नेहरूद्वय लिये जाते हैं। अतः यहाँ पर भी अध्यवसान है।

साध्यवसाना शुद्धा उपादानलक्षणा

पूर्वोक्त उदाहरण 'भाले आये' 'बाण चले' में 'ये' जोड़ने से सारोपा लक्षणा हुई। क्योंकि उनमें विषयी और विषय दोनों का निर्देश है। जब इनसे सर्वनाम निकाल दिया जाय तब केवल आरोप्यमाण भाले और बाण रह जाते हैं। भाले तथा बाण में भाले वालों तथा बाण चलाने वालों का अध्यवसान है। अतः साध्यवसाना है। धार्यधारक सम्बन्ध होने से शुद्धा है। मुख्यार्थ का बाध है। लक्ष्यार्थ भाले वाले और बाण चलाने वाले के साथ भाले और बाण दोनों लगे हुए हैं। इससे उपादान है।

विद्युत् की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोती है।
अरी हृदय को थाम महल के लिये झोपड़ी बलि होती है। दिनकर

यहाँ महल में रहने वाले धनियों और झोपड़ी में रहनेवाले गरीबों के लिये महल और झोपड़ी के प्रयोग हुए हैं। ये स्वार्थ को न छोड़ते हुए अन्यार्थों का उपादान करते हैं। अतः यह लक्षणा उपादानमूला है। आरोप्यमाण के ही उक्त होने से साध्यवसाना है। आधाराधेयभाव सम्बन्ध होने से शुद्धा है।

साध्यवसाना शुद्धा लक्षणलक्षणा

पूर्वोक्त उदाहरण में 'भगवान् पिता हैं' की जगह मूर्त्ति दिखाकर 'पिता हैं' कहें तो आरोप के विषय भगवान का कथन न होने से और आरोप्यमाण पिता के कथन से साध्यवसाना हो जायगी। यहाँ तात्कर्म्य सम्बन्ध होने से शुद्धा है। पिता के मुख्यार्थ का त्याग है और लक्ष्यार्थ पालन आदि का ग्रहण है। इससे यह लक्षणलक्षणा है।

सहता गया जिगर के टुकड़ों का बल पाया हाँ पाया। —भा० आत्मा

यहाँ 'जिगर के टुकड़ों' में आत्मीयों का अध्यवसान है। क्योंकि आरोप्यमाण 'जिगर के टुकड़ों' ही उक्त है। आत्मात्मीय सम्बन्ध होने के कारण शुद्धा है। जिगर का टुकड़ा अपना अर्थ छोड़कर अत्यंत निकट सम्बन्धी प्रिय पात्रों का अर्थ देता है। इससे लक्षणलक्षणा है।

आठवीं किरण

गूढव्यङ्ग्या और अगूढव्यङ्ग्या

काव्यप्रकाश के मतानुसार उपर्युक्त प्रयोजनवती लक्षणा के छ भेद व्यङ्ग्य की गूढता और अगूढता के कारण बारह प्रकार के होते हैं। प्रत्येक प्रयोजनवती लक्षणा के भेद में ये पाये जाते हैं। प्रयोजनवती के जो प्रयोजन हैं वे व्यङ्ग्यार्थ ही होते हैं। यहाँ इनका दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है। गूढ़ा और अगूढ़ा के सम्बन्ध में यह जान लेना चाहिये कि कोई प्रयोजन किसीको गूढ़ ज्ञात हो सकता है और किसीको अगूढ़। जो सहृदय हैं, काव्यमर्मज्ञ हैं उन्हें सहज प्रतीत होने के कारण गूढ़ भी अगूढ़ ही प्रतीत होंगे और जो शिक्षित शब्दार्थ-मात्र के ज्ञाता हैं उन्हें अगूढ़ भी गूढ़। गूढ़ की तो बात ही न्यारी है। गूढ़ और अगूढ़ भेद की यह बात सर्वत्र ध्यान देने योग्य है।

गूढ़व्यंग्या

जहाँ का व्यंग्य मार्मिक सहृदय द्वारा ही समझा जा सके वहाँ गूढ़व्यंग्या लक्षणा होती है। जैसे—

'रणजीतसिंह पंजाब-केसरी थे'। इसका लक्ष्य अर्थ अत्यधिक बलशाली होना तो सबकी समझ में आ सकता है। किन्तु, केसरी कहने से रणजीत सिंह का वीर-बहादुर, विजयी, विक्रमशाली, प्रभुशक्तिसम्पन्न, राजा, विकट योद्धा आदि होना जो लक्षणा का व्यंग्य प्रयोजन है वह गूढ़ अर्थात् सहजगम्य नहीं। इसीसे यहाँ गूढ़व्यङ्ग्या लक्षणा है। ऐसे ही कोई कर्जदार कहे कि 'सेठजी! आपने मेरे लिये वह किया जो दूसरा कोई नहीं कर सकता'। इसमें गूढ़ व्यङ्ग्य यह है कि आपके ऐसा दूसरा सूद-खोर मुझे यों घर-घर का भिखारी न बना देता। ऐसे वाक्य गूढ़व्यङ्ग्या के ही उदाहरण होते हैं।

चाले की बातें चलीं सुनति सखिन के टोल।
गोये हू लोयन हँसत विहँसत जात कपोल॥ **बिहारी**

अर्थ है—सखियों की मंडली में अपने चाले (गौने) की बातें सुन रही है। आँखें छिपाने पर भी हँसती हैं और कपोल मुस्कुरा रहे हैं।

कपोलों के विहँसने या मुस्कुराने में मुख्यार्थ की बाधा है। क्योंकि

हँसने का काम मनुष्य का है, कपोलों का नहीं। यहाँ विहँसता का लक्ष्यार्थ उल्लसित होना—प्रसन्नता की झलक दिखाना है। विहँसने और कपोलों के झलकने में विकास आदि अनेक गुणों का साम्य है। इससे सादृश्य सम्बन्ध है। यहाँ संचारी भाव लज्जा और हर्ष से नायिका का मध्या होना व्यङ्ग्य है। यह सहृदय-संवेद्य ही है। साधारण बुद्धिवालों के परे है। इसीसे गूढ़व्यङ्ग्या है। सादृश्य-कथन से गौणी और विहँसत के अपना अर्थ छोड़ देने के कारण लक्षणलक्षणा है।

आनन में मुसुकान बिकासित बंकुरता अँखियान छई है।
बैन खुले, मुकुले उरजात, जकी तिय की गति ठौनि ठई है॥
दास प्रभा उछले सब अंग सुरंग सुबासता केलिमई है।
चन्द्रमुखी तन पाय नबीनो भई तरुणाई अनन्दमई है॥ **दास**

एक नवयुवक ने किसी नवयुवती को देखकर यह वर्णन किया है। इसमें कई लक्षणायें और कई व्यङ्ग्यार्थ हैं, जो इस प्रकार हैं—

१ 'विकासित' का अर्थ है उत्फुल्ल होना। यह कुसुम का धर्म है न कि मुसकान का। मुख्यार्थबाध होने से लक्ष्यार्थ हुआ असंकोच फैल जाना। दोनों का सादृश्य सम्बन्ध होने से गौणी है। मुसुकान विकासित दोनों के कथन से सारोपा है। विकासित के अपना अर्थ छोड़कर फैल जाने का अर्थ ग्रहण करने से लक्षणलक्षणा है। इससे जो आनन का सौंदर्याधिक्य और सुगन्धित्व सूचित होता है वही व्यंग्य है।

२. 'छई है' का अर्थ है छा जाना या घेर लेना जो किसी ढँक लेने वाले पदार्थ के सम्बन्ध में ठीक उतरेगा। इससे मुख्यार्थबाध होने पर लक्ष्यार्थ होता है नेत्रों में वक्रता या कटाक्ष का अधिक होना। दोनों की स्थिति का सादृश्य संबन्ध है। छई के अपना अर्थ छोड़ देने से लक्षण-लक्षणा है और प्रयोजन रूप व्यंग्य है—प्रेमी पर अपना अनुराग प्रकट करने का ढंग दिखाना।

३. 'बैन खुले' का अर्थ है बात करना। बँधी हुई चीज ही खुलती है। इसलिये मुख्यार्थ का बाध होने से अर्थ हुआ—वचनों का बाहर आना, बोलने लगना। दोनों में सादृश्य सम्बन्ध होने से गौणी है। खुले का अपना अर्थ त्याग करने से लक्षणलक्षणा है। प्रयोजन है असंकोच का आविर्भाव—संकोच का कुछ कुछ मिटना, जो गूढ है।

४. 'मुकुले उरजात' का मुख्यार्थ है अर्धविकसित वा विकासोन्मुख उरोज। इसमें अर्थबाधा है। क्योंकि, उरोज अर्धविकसित नहीं हुआ करता।

लक्ष्यार्थ होता है उभरा या कठिन होना। मुकुल अर्थात् अधखिली कली का ही अर्धविकसित होना धर्म है। दोनों के अवयवों की सुश्लिष्टता का सादृश्य होने से गौणी है। कुचों की कमनीयता और आलिङ्गन-योग्यता का सूचन व्यङ्ग्य है। 'मुकुले' के अर्थत्याग से लक्षणलक्षणा है।

५. 'प्रभा उछले सब अंग' में प्रभा का उछलना कहने से अर्थबाध है। क्योंकि, उछलना प्राणिगत धर्म है। अतः लक्ष्यार्थ होता है अंगों से आभा का फूट पड़ना। सौंदर्यातिशय और सकलमनोहारित्व रूप अर्थ व्यङ्ग्य है। सादृश्य या सामान्य-विशेष सम्बन्ध से गौणी या शुद्धा है। उछलने का अपना अर्थ छोड़ देने से लक्षणलक्षणा है।

६. 'तरुनाई अनन्दमयी है' में तारुण्य का आनन्दमय होना कहने से मुख्यार्थ-बाध है। क्योंकि आनन्दित होना—चेतनगत धर्म है। अतः लक्ष्यार्थ होता है यौवन का पूर्ण होना—यौवनोचित उत्कर्ष को प्राप्त करना। व्यङ्ग्य है यौवनकाल की उन्मदता का उन्मेष होना। जन्य-जनकभाव सम्बन्ध से शुद्धा और अपना अर्थ छोड़ कर अन्यार्थ-ग्रहण से लक्षणलक्षणा है।

अगूढ़व्यङ्ग्या

जहाँ व्यङ्ग्य सहज ही समझ में आ जाय वहाँ अगूढ़व्यङ्ग्या लक्षणा होती है। जैसे—

आप यहाँ कैसे आ टपके। इसका यह व्यङ्ग्यार्थ सहज ही समझ में आ जाता है कि आपको यहाँ न आना चाहिये था।

पल न चलैं जकि-सी रही, थकि-सी रही उसास।
अब ही तन रितयो कहा मन पठयो केहि पास॥—**बिहारी**

पलकें भी नहीं चलतीं। जकड़ी—स्तम्भित-सी हो रही हो। साँस भी थक-सी रही है। अभी अभी शरीर को क्या खाली—बेहाल कर दिया है और मन को किसके पास भेज दिया है।

इसमें मन का भेज देना संभव नहीं। क्योंकि वह कोई स्थानान्तर कर देने की वस्तु नहीं। पर ऐसा कहना परंपराप्रचलित रूढ़िवाक्य है। इसे मुहावरा कह सकते हैं। ऐसा ही साँस का थकना भी है। आदमी थकता है, पैर थकते हैं। साँस थकती नहीं। इनके लक्ष्य अर्थ होते हैं—किसी की ऐसी तन्मयता के साथ चिन्ता करना कि शरीर के व्यापार शिथिल हो जायँ। इन वाक्यों में मुख्यार्थ के त्याग से

लक्षणलक्षणा है। यहाँ कार्यकारण भाव सम्बन्ध भी है। पूर्वानुराग व्यङ्ग्य है, जो वर्णन से सहज ही व्यक्त हो जाता है और अनायास ही समझ में आ जाता है। इसीसे अगूढ़व्यङ्ग्या लक्षणा है।

संयोगिन की तू हरै उर पीर वियोगिनी के सु धरे उर पीर।
कलीन खिलाय करै मधुपान गलीन भरै मधुपान की भीर॥
नचै मिलि बेलि बधू कि अँचै रस 'देव' नचावत आधि अधीर।
तिहूँ गुन देखिये दोष भरो अरे सीतल, मंद सुगन्ध समीर॥ देव

यह वसन्त-समीर का वर्णन है। 'आधि-अधीर को नचाना' से 'मनोवेदना से व्यथित को क्षण क्षण विवश कर देना' रूप अर्थ लक्षित होता है। दुःखातिशय व्यङ्ग्य है। सरलता से बोध होने के कारण यहाँ अगूढ़व्यङ्ग्या है।

गूढ़ागूढ़व्यङ्ग्या

लाज गरब आलस उमग भरे नयन मुसुकात॥
राति रमी रति देति कहि औरे प्रभा प्रभात॥ —बिहारी

ये मध्याधीरा नायिका के व्यङ्ग्य वचन हैं जो उसने रात और कहीं बिताकर सबेरे आये हुए अपने नायक से कहे हैं। यहाँ 'लाज, आलस्य आदि से भरे नयनों का मुसकाना' आँखों में एक अपूर्व दशा का दिखाई पड़ना रूप अर्थ को लक्षित कर रात्रि-जागरण-रूप व्यङ्ग्य को बोधित करता है और उससे परकीयारमण की प्रतीति होती है। यह व्यंग्य अर्थ गूढ़ है जो परिपक्व प्रतिभा द्वारा ही गम्य है। आँखों और चेहरे की प्रभा 'रात रमी रति' को कहे देती है, इससे रहस्य-प्रकाशन रूप अर्थ निकलता है जो गूढ़ नहीं है। 'कहना' का अर्थ प्रकाशन है, यह साधारण व्यक्ति भी समझता है। अतः यह व्यंग्यार्थ अगूढ़ है।

ये प्रयोजन रूप गूढ़ और अगूढ़ व्यंग्य कहीं धर्मी अर्थात् लक्ष्यार्थ में और कहीं धर्म अर्थात् लक्ष्यार्थ के धर्म में होते हैं।

नवीं किरण

धर्मधर्मिभेद और प्रयोजन

प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन ही की प्रधानता रहती है पर किसी लक्षणा का कोई निश्चित प्रयोजन हो, यह संभव नहीं। लाक्षणिक पदों का प्रयोक्ता उनका जो प्रयोजन मानता हो, हो सकता है अर्थकर्ता उससे भिन्न प्रयोजन माने। प्रतिभाशाली सहृदय अर्थव्यक्ति वा अर्थगौरव के अनुरोध से प्रयोजनान्तरों की कल्पना कर सकता है, जिनका पता प्रयोक्ता को न हो। एक उदाहरण से इसकी स्पष्टता कीजिये।

> कर रहा सृजन अद्भुत भविष्य का संघर्षों में वर्तमान।
> हो एक जहाँ पचास कोटि करते स्वदेश का परित्राण॥ **पांडे**

यह कवि की चीन के विषय में उक्ति है। यहाँ पचास कोटि में एक का आरोप है। यह कैसे हो सकता है कि पचास करोड मनुष्य एक हो जाँय। इससे इसमें आया हुआ एक एकमत होने के अर्थ का उपादान करता है। समवाय सम्बन्ध होने से शुद्धा है। संघशक्ति का प्रदर्शन प्रयोजन है जो धर्मगत है। इस एकता में असाधारण आत्मत्याग और बलिदान छिपा हुआ है। एकात्मक और एकमत होने के लिये कितना भगीरथ प्रयत्न करना पड़ा है, यह सर्वबोध्य नहीं। इससे गूढा प्रयोजनवतीलक्षणा है।

उपर्युक्त व्याख्या में संघशक्ति या एकता का प्रयोजन स्पष्ट किया गया है। इस प्रयोजन के अतिरिक्त इस लक्षणा के ये भी प्रयोजन माने जा सकते हैं कि एक एक व्यक्ति समान रूप से स्वदेशप्रेमी है; देश का शुभचिन्तक है; स्वतन्त्रता का उपासक है; परतन्त्रता का विद्वेषी है, इत्यादि। इस प्रकार जब एक एक व्यक्ति पचास करोड़ का प्रतिनिधि बना है तो व्यक्ति की ही विशेषता लक्षित होने से यह लक्षणा धर्मिगत होगी। एक को पचास कोटि मान लेने से उनके ऐकमत्य, देश की कल्याणकामना, स्वातन्त्र्य. अपारतन्त्र्य, आत्मसम्मान आदि का वैशिष्ट्य-प्रदर्शन प्रयोजन मान लिया जाय तो फिर ये प्रयोजन धर्मगत होंगे। अभिप्राय यह कि जहाँ धर्मी अर्थात् द्रव्य में व्यञ्जनागम्य प्रयोजन हो वहाँ धर्मिगत और जहाँ धर्मी के गुण या क्रिया में हो वहाँ धर्मगत लक्षणा होती है।

दशवीं किरण

धर्मिधर्मगता लक्षणा

धर्मिगतप्रयोजनलक्षणा

जहाँ लक्षणा का फल अर्थात् व्यञ्जनागम्य प्रयोजन धर्मी अर्थात् लक्ष्यार्थ (द्रव्य) में स्थित हो वहाँ धर्मिगत प्रयोजन-लक्षणा होती है। जैसे—

'सत्संग काँच को कंचन कर देता है'। यहाँ काच को कंचन कर देने का अर्थ है बुरे को भला, अयोग्य को योग्य, अधम को उत्तम बना देना आदि। लक्ष्यार्थ का फल या प्रयोजन है सत्संग का महत्त्व बताना। यह लक्षणा का प्रयोजन—सत्संग का महत्त्व, धर्मी काच—बुरे में है। इससे धर्मिगता है।

सिर पर प्रलय नेत्र में मस्ती मुट्ठी में मनचाही।
लक्ष्य मात्र मेरा प्रियतम है, मै हूँ एक सिपाही॥ भा० आत्मा

'मै हूँ एक सिपाही' में वक्ता स्वयं सिपाही है। इससे 'मैं हूँ' कहने से ही सिपाही का बोध हो जाता है। अतः प्रकृत में सिपाही पद का मुख्यार्थ बाधित है। लक्षणा द्वारा सिपाही का अर्थ होता है—प्राणपण से इच्छानुरूप कठिन-से-कठिन कार्य करनेवाला। यहाँ सिपाही शब्द अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य है। क्योंकि यह प्राण निरपेक्ष कार्यकरना रूप विशेष अर्थ की प्रतीति कराता है। यहाँ सिपाही में ही प्राणनिरपेक्ष कार्य करने की अतिशयता द्योतित होती है। अतः यहाँ लक्षणा का फल धर्मी सिपाही में है।

धर्मगताप्रयोजनलक्षणा

जहाँ लक्षणा का फल अर्थात् व्यञ्जनागम्य प्रयोजन धर्म अर्थात् लक्ष्यार्थ के धर्म (द्रव्य के गुण) में हो वहाँ धर्मगता लक्षणा होती है। जैसे—

'आपकी आकृति ही आपको गुणी बता रही है।' यहाँ आकृति के बताने का लक्ष्यार्थ है 'देखने ही से मालूम हो जाना'। प्रयोजन है रूपवत्ता और गुणवत्ता का सामानाधिकरण्य प्रदर्शित करना। यहाँ सामानाधिकरण्य

रूप प्रयोजन रूपगत और गुणगत होने से धर्म में है। अतः यहाँ धर्मगता लक्षणा है।

शराफत सदा जागती है वहाँ, जमीनों में सोता है सोना जहाँ। —**सुदर्शन**

यहाँ 'जमीनों में सोना सोता है' का अर्थ है पृथ्वी पर बहुमूल्य अन्न-राशि पड़ी रहती है। प्रयोजन है अन्नराशि की उपयोगिता का अतिशय बताना। अतिशयरूप प्रयोजन उपयोगितागत है, जो धर्म है। अतः यहाँ धर्मगता है।

ये लक्षणायें कहीं पद में होती हैं और कहीं वाक्य में होती हैं। दोनों के उदाहरण यथास्थान ऊपर आ गये हैं।

शुद्धा उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा के उत्कृष्ट व्यंग्य ही अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य ध्वनि एवं अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि हो जाते हैं। इन्हीं दोनों के भेद सारोपा और साध्यवसाना क्रमशः गौणी रूप में होने पर रूपक और रूपकातिशयोक्ति अलंकार के प्रयोजक हो जाते हैं। अलंकार के साधक होने से ये व्यङ्ग्य उत्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते। कारण यह कि वाच्य के उपस्कारक मात्र होने से व्यङ्ग्यों की अपनी प्रधानता क्षीण हो जाती है। अथच शुद्धा भेद में जो व्यङ्ग्य अगूढ़ या स्पष्ट रूप में प्रतीत होते हैं वे सभी ध्वनि या गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य के विधायक नहीं हो सकते। उनमें जो चमत्कारपूर्ण होते हैं वे ही उक्त दोनों श्रेणियों में अन्तर्भूत हो सकते हैं। ध्वनि-किरण में इनका स्पष्टीकरण होगा।

ग्यारहवीं किरण

लक्षणा के भेदों का उपयोग

प्राचीन आचार्य रूढ़ि के कारण होनेवाली रूढ़ा वा निरूढ़ा को तो मानते हैं पर उसके भेद नहीं मानते। इन आचार्यों के रूढ़ि के भेद न मानने का कारण यह है कि व्यवहार में इसके भेद स्पष्ट नहीं लक्षित होते।

रूढ़ि भाषा के प्रवाह में आप ही आप चल पड़ती है। उसके चलाने की आवश्यकता नहीं होती। उसके निर्माण का कारण जनता

की वाक्स्वतन्त्रता है। उसका प्रयोग प्रयोगकर्ता के वश की बात नहीं। इसीसे कुमारिल भट्ट का कहना है कि कुछ लक्षणायें अभिधा के समान अपनी प्रसिद्धि के कारण रूढ़ हो गयी हैं। कुछ लक्षणायें अब भी की जाती हैं किन्तु बिना प्रसिद्धि वा प्रयोजन के प्रयोक्ता की अशक्ति—असामर्थ्य वा अव्युत्पत्ति के कारण अंडबंड लक्षणा नहीं होती।[१]

चलती रूढ़ियों में नये निर्माण का, उनमें उलट-फेर करने का कोई अधिकार किसीको नहीं है। जैसे, वह नौ दो ग्यारह हो गया अर्थात् भाग गया। क्योंकि, चौपड़ के खेल में पासों का नौ दो पड़ना ही गोंटियों के भाग निकलने—पिटी न जाने का कारण होता है। इस अर्थ में कोई सात चार ग्यारह हो गया यह प्रयोग नहीं कर सकता। यदि करे भी तो इससे भागने का अर्थ कोई नहीं समझ सकता। ऐसे ही घर का घर चौपट हो गया अर्थात् घर भर का नाश हो गया या वंशलोप हो गया की जगह पर मकान का मकान चौपट हो गया, कोई नहीं कह सकता। हाँ, आवश्यकतानुसार प्रयोजनसिद्धि के लिये नयी लक्षणायें की जा सकती हैं।

बाद के आचार्यों ने रूढ़ि लक्षणा में भी भाषा-चमत्कार की दृष्टि से हो, शब्द-सम्बन्ध के विस्तार के अनुसन्धान की दृष्टि से हो, चाहे जिस कारण से हो, उसके सादृश्य सम्बन्ध और सादृश्येतर सम्बन्ध को जान लेना आवश्यक समझा। इस कारण उन्होंने रूढ़ि के भी गौणी और शुद्धा ये दो भेद मान लिये हैं। किन्तु साहित्य-दर्पणकार इसके प्रधानतः आठ भेद मानते हैं जो आगे रेखाचित्र में नाम के साथ दिये गये हैं। इन भेदों को कितने आलङ्कारिक व्यंग्य—प्रयोजन—से शून्य होने और किसी अलङ्कार के आधार न होने के कारण निरर्थक कहते हैं। पर बात ऐसी नहीं। रूपकालङ्कार में सारोपा गौणी का रूपकातिशयोक्ति में साध्यवसाना गौणी का, हेतु अलङ्कार में शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना का, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक ध्वनि में शुद्धा लक्षणलक्षणा का और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि में शुद्धा उपादानमूला प्रयोजनवती लक्षणा का उपयोग होने से इन्हीं लक्षणाओं की सार्थकता मानी जाती है और अन्य भेदों को व्यर्थ का विस्तार बताया जाता है।

---

[१] निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः॥

मम्मटमतानुयायी गौणी के उपादानमूला और लक्षणमूला भेद जो नहीं मानते उसका कारण काव्यप्रकाश की टीका काव्यप्रदीप ही है। टीकाकार का कहना है कि अजहत्स्वार्था मुख्यार्थ के अपरित्याग से ही हो सकती है और मुख्यार्थ का सादृश्य किसी भिन्न वस्तु के साथ ही हो सकता है, स्वार्थ के साथ नहीं। क्योंकि सम्बन्ध द्विष्ठ, अर्थात् दोनों सम्बन्धी में रहना चाहिये। सादृश्य सम्बन्ध मुख्यार्थ में कैसे होगा। कारण, अपना भेद अपने में ही नहीं रहता और बिना भेद-प्रतीति के सादृश्य की सत्ता ही नहीं रहती। किन्तु ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं जो इस विचार के विरुद्ध साक्ष्य ही नहीं देते, प्रत्युत बिना उपादान या लक्षण लक्षणा को गौणी माने उनकी संगति ही नहीं बैठती। अतः ये भेद हो सकते हैं और अपने चमत्कारों से शून्य भी नहीं होते। इसलिये दर्पणकार द्वारा प्रदर्शित ये भेद ग्राह्य प्रतीत होते हैं। इनके उदाहरण इनके भेदों के साथ यथास्थान दिये गये हैं।

दर्पणकार ने प्रयोजनवती लक्षणा के जो मुख्य बत्तीस भेद किये हैं जिनका रेखाचित्र में नाम के साथ उल्लेख है, वे न तो व्यर्थ के विस्तार हैं और न महत्वहीन ही। उन्हें साहित्यिक महत्वपूर्ण समझते हैं। यदि यह व्यर्थ का ही विस्तार होता तो आचार्यों की इनकी नामगणना से क्या लाभ था?

दर्पणकार ही क्यों, पीयूषवर्षी जयदेव ने भी अपने चन्द्रालोक के नवम मयूख में लक्षणा के भेदों का विवेचन किया है। वह व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि भाषा की अर्थवृद्धि का मूल लक्षणा ही है। वर्तमान हिन्दी भाषा में लक्षणा के न जाने कितने नित-नूतन प्रयोग देखने को मिलते हैं। कुछ अलंकारों का अंकुर भी तो लक्षणा ही है। अतः लक्षणा का जितना ही विचार होगा उतना ही लाभ होना निश्चित है।

बारहवीं किरण

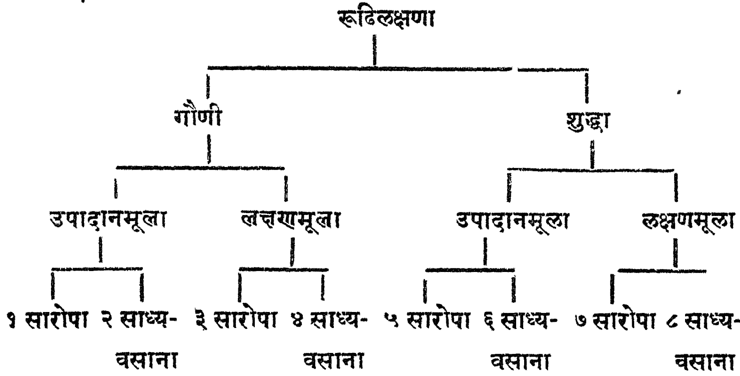
लक्षणा के विशेष भेद

१ रूढ़िलक्षणा

साहित्यदर्पण के अनुसार लक्षणा के निम्नलिखित भेद होते हैं—

रूढ़िलक्षणा के प्रथम शुद्धा और गौणी के भेद से २ भेद होते हैं। इन दोनों के भी उपादानलक्षणा और लक्षण-लक्षणा के भेद से दो दो

और भेद होकर ४ हो जाते हैं। ये चारो भेद सारोपा और साध्यवसाना के भेद से ८ भेद हो जाते हैं। आठो भेदों के नाम निम्न चित्र में इस प्रकार हैं—



रूढिमती लक्षणा के आठ भेद और उनके नाम

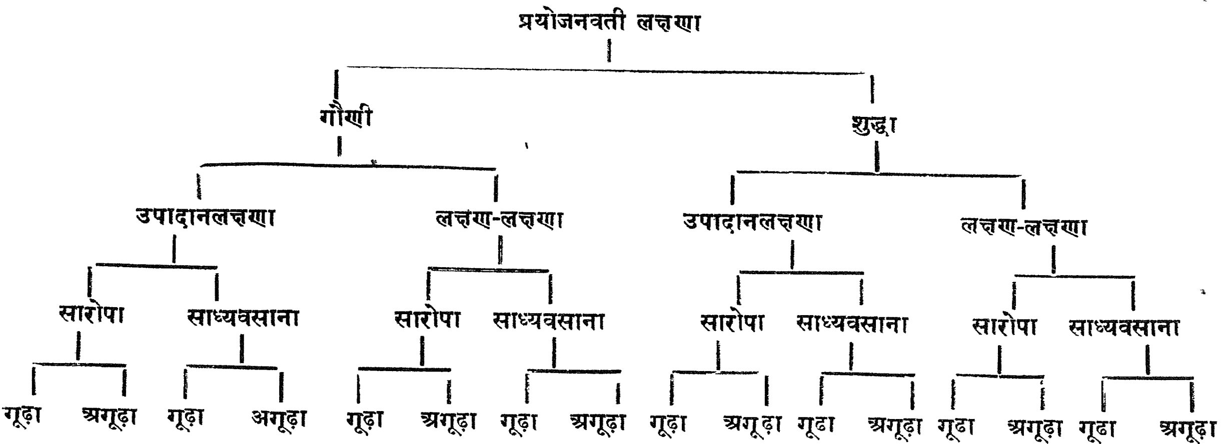
१ गौणी, सारोपा, उपादानमूला, रूढ़िलक्षणा।
२ शुद्धा, सारोपा, उपादानमूला, रूढ़िलक्षणा।
३ गौणी, साध्यवसाना, उपादानमूला, रूढ़िलक्षणा।
४ शुद्धा, साध्यवसाना, उपादानमूला, रूढ़िलक्षणा।
५ गौणी, सारोपा, लक्षणमूला, रूढ़िलक्षणा।
६ शुद्धा, सारोपा, लक्षणमूला, रूढ़िलक्षणा।
७ गौणी, साध्यवसाना, लक्षणमूला, रूढ़िलक्षणा।
८ शुद्धा, साध्यवसाना, लक्षणमूला, रूढ़िलक्षणा।

ये ही आठो लक्षणायें पदगत और वाक्यगत के भेद से सोलह हो जाती हैं।

२ प्रयोजनवती लक्षणा

दर्पणकार प्रयोजनवती लक्षणा में उक्त शुद्धा के चार भेदों के समान गौणी के भी चार भेद मानते हैं—१ गौणी, सारोपा, उपादानलक्षणा २ गौणी, सरोपा, लक्षण-लक्षणा ३ गौणी, साध्यवसाना, उपादानलक्षणा और ४ गौणी साध्यवसाना, लक्षण-लक्षणा।

गौणी के ये चार और उक्त शुद्धा के ऐसे ही चार मिलकर ८ होते हैं। ये आठो गूढ़व्यङ्ग्या और अगूढ़व्यङ्ग्या के भेद से १६ हो जाते हैं। ये सोलहो धर्मिगत और धर्मगत के भेद से ३२ हो जाते हैं। इन भेदों के नाम चित्र में इस प्रकार हैं।



इन्हीं सोलहों के धर्मभेद से और धर्मिभेद से ३२ भेद हो जाते हैं और इनके ही भेद और उदाहरण इसमें दिये गये हैं। ३२ भेदों के ही पद और वाक्य के भेद से ६४ भेद हो जाते हैं।

प्रयोजनवती लक्षणा के ३२ भेद और उनके नाम

१ गौणी, सारोपा, उपादानमूला, गूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
२ गौणी, सारोपा, उपादानमूला, अगूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
३ शुद्धा, सारोपा, उपादानमूला, गूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
४ शुद्धा, सारोपा, उपादानमूला, अगूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
५ गौणी, साध्यवसाना, उपादानमूला, गूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
६ गौणी, साध्यवसाना, उपादानमूला, अगूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
७ शुद्धा, साध्यवसाना, उपादानमूला, गूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
८ शुद्धा, साध्यवसाना, उपादानमूला, अगूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
९ गौणी, सारोपा, लक्षणमूला, गूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
१० गौणी, सारोपा, लक्षणमूला, अगूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
११ शुद्धा, सारोपा, लक्षणमूला, गूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
१२ शुद्धा, सारोपा, लक्षणमूला, अगूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
१३ गौणी, साध्यवसाना, लक्षणमूला, गूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
१४ गौणी, साध्यवसाना, लक्षणमूला, अगूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
१५ शुद्धा, साध्यवसाना, लक्षणमूला, गूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
१६ शुद्धा, साध्यवसाना, लक्षणमूला, अगूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
१७ गौणी, सारोपा, उपादानमूला, गूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
१८ गौणी, सारोपा, उपादानमूला, अगूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
१९ शुद्धा, सारोपा, उपादानमूला, गूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
२० शुद्धा, सारोपा, उपादानमूला, अगूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
२१ गौणी, साध्यवसाना, उपादानमूला, गूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
२२ गौणी, साध्यवसाना, उपादानमूला, अगूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवनीलक्षणा
२३ शुद्धा, साध्यवसाना, उपादानमूला, गूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
२४ शुद्धा, साध्यवसाना, उपादानमूला, अगूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
२५ गौणी, सारोपा, लक्षणमूला, गूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
२६ गौणी, सारोपा लक्षणमूला, अगूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
२७ शुद्धा, सारोपा, लक्षणमूला, गूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
२८ शुद्धा, सारोपा, लक्षणमूला, अगूढ़ा धर्मिगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
२९ गौणी, साध्यवसाना, लक्षणमूला, गूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
३० गौणी, साध्यवसाना, लक्षणमूला, अगूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
३१ शुद्धा, साध्यवसाना, लक्षणमूला, गूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवतीलक्षणा
३२ शुद्धा, साध्यवसाना, लक्षणमूला, अगूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवतीलक्षणा

ये ही ३२ भेद पदगत और वाक्यगत के भेद से ६४ हो जाते हैं। किन्तु, मुख्यता इन ३२ भेदों की ही मानी जाती है।

तेरहवीं किरण

लक्षणा के वाक्यगत मिश्रित उदाहरण

सहज-सुबोध के लिये लक्षणा के उक्त भेदों के सरल-लक्षण-समन्वय-सहित वाक्यों के कुछ मिश्रित उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं। आगे की किरणों में समन्वय-सहित पद्योदाहरण दिये जायेंगे।

लक्षणा के समस्त भेदों में उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा ही आधार-भूत हैं। सारोपा, साध्यवसाना, गूढ़व्यंग्या, अगूढ़व्यंग्या, धर्मिगता, धर्मगता, पदगता और वाक्यगता नामक समस्त भेद स्वतंत्र सत्ता वाले कोई भिन्न पदार्थ नहीं हैं। ये सब उन्हीं दोनों का आश्रय लेकर नियमतः यथायोग्य रहनेवाले विशेष-विशेष भेद हैं। आगे के उदाहरणों से इनका स्पष्टीकरण हो जायगा।

१ शुद्धा, सारोपा, उपादानमूला, साध्यवसाना, पदगता, रूढ़िलक्षणा

'स्याही गयी' 'सपेदी आयी'।

यों 'स्याही' का जाना और 'सपेदी का आना' रूप अर्थ संगत प्रतीत नहीं होता। कारण यह कि स्याही या सपेदी पृथक् पृथक् गुण हैं। स्याही स्वयं स्वतंत्र रूप से जा नहीं सकती और सपेदी आ नहीं सकती। इस प्रकार मुख्यार्थ की असंगति या बाधा है।

किन्तु गुण और गुणी का समवाय संबंध लोक विख्यात है। इससे स्याही और सपेदी का यहाँ बाल के साथ संबंध है। इस प्रकार मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध है।

अतः स्याही और सपेदी पदों से कालापन से युक्त तथा उजलापन से युक्त बाल का अर्थ आक्षिप्त होता है। फिर जाने और आने की योग्यता वाक्यार्थ में आ जाती है। इस प्रकार योग्यता द्वारा वाक्य सिद्ध हुआ।

इस तरह के प्रयोग लोक-व्यवहार में प्रचलित हैं। गुण से गुणी का बोध कराने में प्रायः कुछ खास मतलब (व्यंग्य) नहीं होता। इससे इसे रूढ़िमूला लक्षणा कह सकते हैं।

यहाँ कालापन और उजलापन लिये ही केश रूप अर्थ का बोध होता है। इससे यहाँ की लक्षणा उपादानलक्षणा है।

यहाँ स्याही से हीन सपेदी लिये बाल का निर्देश है जो शब्दतः प्रकट नहीं है। यहाँ स्याही और सपेदी शब्द अन्त में (वाक्यार्थ बोध के समय) केश रूप अर्थ में अध्यवसित—परिणत होते हैं। इससे यह साध्यवसाना है।

प्रस्तुत लक्षणा का सम्बन्ध सादृश्य से भिन्न समवाय रूप है। अतः यह शुद्धा का भेद कहा जायगा।

यदि सपेदी शब्द के साथ सपेद बाल के लिये संकेतित 'यह' सर्वनाम जोड़ दिया जाय तो यही भेद गुण और गुणी की अभेद-प्रतीति होने से सारोपा भेद का उदाहरण हो जायगा। इसको यों समझिये—सपेदी पद विषयी उजलापन गुण से युक्त केश अर्थ को लक्षित करता है और 'यह' सर्वनाम—विषय—भी स्वयं शब्दरूप में प्रकट है। अतः अभेद सम्बन्ध से एकता प्रतीत हो जाती है। इस प्रकार अभिन्नता सम्पन्न हो जाने पर वाक्यार्थ-बोध होता है—उजलापन-गुण-विशिष्ट बाल। क्योंकि, यहाँ बाल के ऊपर सपेदी का आरोप किया गया है। अतः यह सारोपा लक्षणा है। ऐसे ही आगे के उदाहरणों में भी समन्वय कर लेना चाहिये।

२ शुद्धा, सारोपा, साध्यवसाना, उपादानमूला, अगूढ़व्यङ्ग्या, पदगता, धर्मगता, प्रयोजनवती लक्षणा

लट्ठ आ रहे हैं।

बिना किसी के सहारे लट्ठ जैसी जड़ वस्तु का आना संभव नहीं जँचता। इससे मुख्यार्थ की बाधा है। किन्तु धार्यधारक सम्बन्ध होने के कारण लट्ठ और लट्ठ के धारण करनेवालों का सम्बन्ध स्पष्ट है। प्रस्तुत सम्बन्ध के सहारे लट्ठ पद से लट्ठधारी रूप अर्थ आक्षिप्त होता है। फिर आना रूप क्रिया का प्रयोग खलता नहीं। वाक्यार्थ की योग्यता पूर्ण हो जाती है।

इस प्रकार का शब्द-व्यवहार प्रयोजनयुक्त है। क्योंकि यहाँ लट्ठ-धारियों की बहुलता और उग्रता जताना व्यंग्य है। इससे यहाँ लक्षणा प्रयोजनवती है।

यहाँ लट्ठ अपने अस्तित्व को बनाये रखकर ही अपने धारक व्यक्तियों का आभास देता है। इसलिये यहाँ की लक्षणा उपादान-लक्षणा हुई।

यहाँ आरोप के विषय लट्ठधारी का कथन नहीं है। लट्ठ शब्द अंत में—वाक्यार्थ बोध के समय लट्ठधारी रूप अर्थ में अध्यवसित होता है। इससे साध्यवसाना है।

यहाँ का संबंध धार्यधारक रूप है, सादृश्य नहीं। अतः शुद्धा है।

यहाँ का व्यंग्य स्पष्ट सा है। इससे यह अगूढ़व्यंग्या है।

धर्मी लट्ठधारी व्यक्तियों की उग्रता का बोध कराने के लिये इस लक्षणा की प्रवृत्ति हुई है। इससे यह धर्मगता है।

केवल लट्ठ में ही लक्षणा होने से यहाँ पदगता है।

इसी उदाहरण में अगर लट्ठ के पहले धारक व्यक्तियों के लिये संकेतित 'ये' सर्वनाम लगा दें तो सारोपा लक्षणा का स्वरूप खड़ा हो जायगा। क्योंकि यहाँ 'ये' से विषय और लट्ठ से आरोप्यमाण दोनों की प्रतीति होगी।

३ शुद्धा, साध्यवसाना, लक्षणमूला, पदगता, रूढ़िलक्षणा

मिथिला ने दर्शन सिखाया।

मिथिला एक देश होने के कारण अचेतन है और कुछ सिखाना चेतन प्राणी द्वारा ही सम्भव है। फलतः मुख्यार्थ की बाधा हुई।

देश और देशवासियों में आधाराधेयभावरूप संबंध है। अतएव मिथिला से मैथिलों का बोध होता है। इस प्रकार सिखाना क्रिया का औचित्य सिद्ध हुआ।

इस प्रकार का वाक्य प्रचलित है। इससे यहाँ रूढ़िमूला लक्षणा हुई।

इसमें मिथिला शब्द का अर्थ बिलकुल ही अन्वित नहीं होता। उससे केवल उसमें रहनेवालों का बोध होता है। इससे यह लक्षणलक्षणा है।

यहाँ आरोप के विषय मैथिल शब्द का कथन नहीं है। मिथिला शब्द मैथिल रूप अर्थ में अध्यवसित हुआ है। इससे यह साध्यवसाना है।

यहाँ सादृश्य से भिन्न आधाराधेयभावरूप सम्बन्ध है। अतः यह शुद्धा लक्षणा है।

यहाँ मिथिला पद में लक्षणा होने से यह पदगता लक्षणा है।

४ शुद्धा, सारोपा, साध्यवसाना, लक्षणमूला, अगूढ़व्यंग्या, धर्मिगता, प्रयोजनवती लक्षणा

यही तो मेरी आँख है।

(यहाँ शास्त्र को लक्ष्य करके 'आँख' शब्द कहा गया है।)

आँख शब्द का वाच्यार्थ नेत्र है। किन्तु यहाँ शास्त्र के लिये प्रयुक्त हुआ है। अतः अर्थबाधा है।

जिस प्रकार आँखों से संसार के फूल या काँटे देखे जाते हैं और लोग उनके ग्रहण और त्याग में प्रवृत्त होते हैं उसी प्रकार शास्त्र भी उचित अनुचित का ज्ञान कराते हैं और तदनुसार लोग आचरण करते हैं या छोड़ देते हैं। इस प्रकार नेत्र और शास्त्र में समान-कार्य-कारित्व संबंध है। फलतः आँख शब्द का लक्ष्यार्थ शास्त्र है।

शास्त्र को आँख कहने में एक प्रयोजन है। वह यह कि कृत्याकृत्य के बोधक जितने साधन हैं उनसे शास्त्र सर्वथा उत्कृष्ट है। यही व्यंग्य है। इसीसे यह लक्षणा प्रयोजनवती है।

यहाँ आँख का अपना वाच्यार्थ बिल्कुल नहीं रहता। वह शास्त्र रूप लक्ष्यार्थ ही देता है। इससे यह लक्षणलक्षणा है।

यहाँ आरोप के विषय शास्त्र का कथन नहीं है। आँख का शास्त्ररूप अर्थ में अध्यवसान हुआ है। अतः यहाँ साध्यवसाना है।

यहाँ का व्यंग्य उतना स्पष्ट नहीं। साधारण बुद्धिवालों के लिये आँख शब्द के इस गूढ़ अभिप्राय तक पहुँचना संभव नहीं। इससे यह गूढ़व्यंग्या लक्षणा है।

यहाँ व्यंग्य प्रयोजन अन्य साधनों से शास्त्ररूप साधन की विशेषता बतलाता है। अतः विशिष्ट साधन में रहने से यह धर्मिगता है।

यहाँ पूर्वोक्त संबंध होने से शुद्धा लक्षणा है।

लक्षणा केवल आँख में है। इससे पदगता है।

आँख के साथ शास्त्र लगा देने से दोनों की उक्ति हो जायगी। इससे यही सारोपा लक्षणा का उदाहरण हो जायगा।

ऊपर दिखलाये गये उदाहरण आठ लक्षणाओं (चार साध्यवसाना और चार सारोपा) के है जो चार वाक्यों में ही दिखला दिये गये है। ये शुद्धा के है। अब सादृश्य संबन्ध वाली लक्षणाओं के, जो गौणी कहलाती हैं, उदाहरण दिये जाते हैं।

५ गौणी, सारोपा, साध्यवसाना, उपादानमूला, पद्गता, रूढ़िलक्षणा।

माला पहनाओ।

(खादी की मुलायम गुरियों से बनी माला को लक्ष्य कर यहाँ माला शब्द का प्रयोग है।)

माला शब्द का अर्थ है—फूलों से बना हुआ हार या गजरा। उस अर्थ का प्रस्तुत माला में अभाव है। अतः मुख्यार्थ-बाध है।

दोनों में रचना—आकार-प्रकार की समता, होने से सादृश्य रूप संबंध है। इससे गौणी है।

इसी संबंध से इस माला शब्द से खादी की गुरियों की माला जैसी वस्तु ज्ञात हुई। इसी लक्ष्यार्थ से यहाँ वाक्य की योग्यता है।

आकार की समानता से इस प्रकार का प्रयोग लोकप्रचलित होने से यह लक्षणा रूढ़िमूला है।

यहाँ माला शब्द अपने वाच्यार्थ फूल के हार रूप अर्थ का भान कराकर ही समान आकार की खादी की माला के रूप में उपस्थित होता है। अतः यहाँ उपादानलक्षणा है।

यहाँ आरोप के विषय का कथन नहीं है। प्रस्तुत माला शब्द के पहले 'यह' सर्वनाम नहीं होने से खादी की गुरियों की ओर संकेत करने का कोई शब्द नहीं है, नकली माला में असली माला का अध्यवसान है। इससे यह साध्यवसाना है।

यहाँ केवल माला पद में लक्षणा होने से यह पद्गता है।

'यह' सर्वनाम जोड़ने से दोनों का अभेद संबंध हो जायगा। इससे यह लक्षणा सारोपा हो जायगी।

६ गौणी, सारोपा, साध्यवसाना, अगूढ़व्यंग्या, उपादानमूला, प्रयोजनवती लक्षणा।

पंडितजी आ गये।

(यहाँ चन्दन तिलकधारी पंडित के आकार-प्रकार वाले सदाचारी व्यक्ति के लिये पंडित शब्द का प्रयोग है।)

वस्तुतः पंडित शब्द का वाच्यार्थ विलक्षण बुद्धि वाला शास्त्रवेत्ता विशेष व्यक्ति है जो उक्त उदाहरण में नहीं है। यहाँ मुख्यार्थ की बाधा है।

दोनों का रूप समान होने से सादृश्य संबंध है। इससे पंडित का

लक्ष्यार्थ पंडित जैसे आकारवाला व्यक्ति हुआ। अतः वाक्यार्थ की ठीक संगति हुई।

यहाँ पंडित शब्द का वाच्यार्थ अपना आभास देकर ही सदाचारी सामान्य व्यक्ति में प्रवृत्त हुआ है। अतः यह उपादानलक्षणा है।

यहाँ आरोप के विषय का कथन नहीं है। पंडित शब्द का अर्थ आगत व्यक्ति के रूप में अध्यवसित हुआ है। इससे साध्यवसाना है।

सदाचार की व्यंजना गूढ़ नहीं है। इससे यह अगूढ़व्यंग्या है।

यहाँ सदाचार रूप धर्म लेकर लक्षणा की प्रवृत्ति है। अतः यह धर्मगता है।

पंडित पदमात्र में लक्षणा होने से यह पदगता है।

इसी पंडित शब्द के पहले यदि 'ये' सर्वनाम जोड़ दिया जाय तो सारोपा का भेद हो जायगा।

७ गौणी, सारोपा, साध्यवसाना, लक्षणमूला, पदगता, रूढ़िलक्षणा

आग लगा के जमालो दूर खड़ी।

(झगड़ा खड़ा करके चुप हो जाने वाले के अर्थ में यह प्रवाद-वाक्य है।)

आग शब्द का वाच्यार्थ है दाहक पदार्थ। इससे मुख्यार्थ की बाधा है।

किन्तु नाशक दृश्य प्रस्तुत करके जलन पैदा करने में दोनों की शक्ति तुल्य है। अतः इस सादृश्य संबंध से यहाँ गौणी लक्षणा है।

अतः लक्ष्यार्थ कलह से वाक्यार्थ की संगति होती है।

झगड़ा लगाने के अर्थ में आग लगाना कहने की लोक-प्रवृत्ति है—एक मुहाविरा है। इससे यह लक्षणा रूढ़िमूला हुई।

आग शब्द ने अपना अर्थ छोड़कर झगड़ा—कलह रूप अर्थ को लक्षित किया है। इससे लक्षणलक्षणा हुई।

यहाँ आरोप के विषय कलह का कथन नहीं है। आग शब्द का अर्थ कलह में अध्यवसित हुआ है। इसीसे साध्यवसाना है।

उक्त उदाहरण में केवल आग में लक्षणा है। अतः पदगता है।

इसी आग पद के साथ कलह का सर्वनाम 'यह' शब्द जोड़ दें तो यह सारोपा का उदाहरण हो जायगा। क्योंकि यह और आग में अभेद संबंध स्थापित हो जायगा।

८ गौणी, सारोपा, साध्यवसाना, लक्षणमूला, गूढ़व्यंग्या, प्रयोजनवती लक्षणा

कोयल गा रही है।

(यहाँ किसी मधुकंठी गायिका को लक्ष्य कर 'कोयल' कहा गया है।)

कोयल का वाच्यार्थ एक पक्षी है, जिसका स्वर अत्यन्त मधुर होता है। उक्त मुख्यार्थ मनुष्य जाति में बाधित है।

स्वर में समान माधुर्य होने से कोयल और गायिका में सादृश्य संबंध है। इसी संबंध द्वारा कोयल पद से गायिका रूप लक्ष्यार्थ हुआ।

गायिका को कोयल कहने में प्रयोजन है। वह यह कि स्वर में जो माधुर्य है उसकी अतिशयिता प्रतीत हो। इससे यह प्रयोजनमूला लक्षणा है।

यह कोयल पद अपना अर्थ एकदम छोड़कर गायिका के अर्थ में प्रतिष्ठित हो गया है। इससे यह लक्षणलक्षणा है।

यहाँ आरोप के विषय गायिका का कथन नहीं है। कोयल शब्द का अर्थ गायिका रूप अर्थ में अध्यवसित हो गया है। इससे यह साध्यवसाना है।

यहाँ का व्यंग्य—स्वर में माधुरी की अधिकता—सर्वसाधारणगम्य नहीं है। अतः यह गूढ़व्यंग्या है।

धर्मी गायिका में नहीं, प्रत्युत उसके धर्म उत्कृष्ट स्वर-माधुरी में प्रयोजन है। अतः यहाँ धर्मगता लक्षणा है।

यदि इसमें कोयल के पहले गायिका के निर्देश के लिये 'यह' सर्वनाम—विषय—उक्त हो जाय तो यह सारोपा का भेद हो जायगा।

इसी प्रकार लक्षणा के भेदोपभेदों के लक्षणों और उदाहरणों का समन्वय होता है। मिश्रित का एक पद्योदाहरण लें।

शुद्धा-गौणी, सारोपा, उपादानमूला धर्मि-धर्मगता, गूढ़ा और प्रयोजनवती लक्षणा

मिट्टी के पुतले आज कठिन चट्टानशिला ये भेद चले।
चढ़ अग्निसेज मृत्युञ्जय ये प्रह्लाद सरीखे फूल चले॥ **केसरी**

अर्थ है—साधारण मनुष्य भी समर में असाधारण सैन्य का सामना करते हुए आगे बढ़ रहे हैं और भयानक युद्धभूमि में वैसे ही विजयी बन रहे हैं जैसे कि प्रज्वलित ज्वलन में पैठ कर प्रह्लाद फूल से फूले रहे।

इसमें 'ये' सर्वनाम मनुष्यों के लिये आया है। इन्हीं पर मृत्युञ्जय का आरोप है। पर मनुष्य मृत्युञ्जय हो नहीं सकते, अतः अर्थबाधा है। इसको दूर करने के लिये मृत्युञ्जय शब्द से मृत्यु से निर्भय या मृत्यु की परवाह न करने वाले व्यक्तियों का उपादान होता है। इस प्रकार सारोपा उपादानलक्षणा है। सादृश्य सम्बन्ध से गौणी और तात्कर्म्य सम्बन्ध से शुद्धा है। मृत्युञ्जय शब्द रखने का प्रयोजन है स्वराजी स्वयंसेवकों को शारीरिक मोहमाया से शून्य और असम साहसिक बताना। यह प्रयोजन स्वयंसेवक धर्मी में है या उसके साहस की अधिकता में मानने से धर्म में है। गूढ़ है। क्योंकि जो स्वदेशसेवाव्रती होता है। वह यह समझता है कि शरीर तो नश्वर है। इससे यदि अक्षय यश प्राप्त किया जाय तो शरीर की सार्थकता है। यह सर्वसाधारणगम्य नहीं। इससे यहाँ धर्मिगता, पर्याय से धर्मगता, गूढ़ा प्रयोजनवती लक्षणा है।

ऐसे ही 'ये' पर मिट्टी के पुतले का भी आरोप है। पञ्चतत्त्वात्मक शरीर में मिट्टी का अंश अधिक है। क्योंकि सारा शरीर मिट्टी में मिल जाता है। मिट्टी का पुतला शब्द अधिकांश मिट्टी से बनी मनुष्यमूर्ति का उपादान करता है। सादृश्य सम्बन्ध से गौणी है। मिट्टी के पुतले और मनुष्य में सामान्य-विशेष सम्बन्ध मानें तो शुद्धा है। मनुष्य-शरीर को निःसार तुच्छ बताना प्रयोजन है। यहाँ शरीर की विशिष्टता न बताकर तद्गत तुच्छता या निःसारता बताना अभीष्ट है। अतः यह धर्मगता है। सभी के लिये शरीर को मिट्टी का पुतला सा निःसार समझना संभव नहीं। इससे गूढ़ा प्रयोजनवती लक्षणा है।

यहाँ अग्नि-सेज में युद्धभूमि का अध्यवसान है। अग्निसेज संभव नहीं। अतः इस शब्द से अग्निमय गोली-गोलों से भरी भूमि का उपादान होता है। सादृश्य सम्बन्ध से गौणी है। क्योंकि दोनों में अग्नि-संयोग है। यदि दोनों का दाहक और मारक कर्म मान लें तो तात्कर्म्य सम्बन्ध होने से शुद्धा है। युद्धभूमि की विशेषता होने से धर्मिगता है और युद्ध की अत्यन्त भीषणता प्रदर्शन हो तो धर्मगता है। प्रयोजन स्पष्ट होने से अगूढ़ा प्रयोजनवती लक्षणा है।

चौदहवीं किरण

रूढ़िलक्षणा के सोदाहरण विशेष भेद

साहित्यदर्पण के मत से दिये हुए रेखाचित्र के नामों के अनुसार रूढ़िलक्षणा के उदाहरण दिये जाते हैं।

१ गौणी, सारोपा, उपादानमूला, रूढ़िलक्षणा

जा कहँ करत पियार प्राण सम जे तोहि प्राण कहेंगे।
तेऊ तो कहँ मन्यो जानिकै देखत देह डरेंगे॥ **रामप्रिया**

पति को, प्रिय को 'प्राण' कहने की परिपाटी है। इस 'प्राण' कहने का कोई प्राणवान प्रयोजन नहीं है। यह प्यार प्रकट करने का एक प्रचलित सम्बोधन सा हो गया है। ऐसा ही 'कलेजा' शब्द भी है। इससे रूढ़ि है। 'तोहि' में प्राण का आरोप होने से सारोपा है। 'तोहि' प्राण हो नहीं सकता। इस अर्थबाधा को मिटाने के लिये 'प्राण' प्राणप्यारा अर्थ का आक्षेप करता है। इससे उपादानमूला है। तुम भी प्यारे हो और प्राण भी प्यारे हैं। दोनों में सादृश्य सम्बन्ध होने से गौणी है। इस प्रकार पूर्वोक्त भेद का यह उदाहरण हुआ। अथवा

हेमन्त में हे कन्त ये सब तेल देते सुख सदा।

तेलों में सादृश्य सम्बन्ध होने से गौणी है। 'ये' सर्वनाम के उक्त होने से सारोपा है। यहाँ का तेल शब्द तिल से निकले स्नेह रूप मुख्यार्थ का परित्याग न करते हुए सरसों आदि के तेलों का, तैल अर्थात् तिल भव न होने पर भी, लक्षणा से उपादान करता है। तेल का यह अर्थ लोकप्रसिद्ध है। अतः उपादानमूला रूढ़िलक्षणा है।

हेमन्त में तेल के विषय में पद्माकर की एक पंक्ति है—

तान की तरंग, तरुणापन, तरणितेज, तेल, तूल, तरुणि, तमाल, ताकियतु है।

२ शुद्धा, सारोपा, उपादानमूला, रूढ़िलक्षणा

यारो! या घुड़दौड़ में यह उजला परधान।
लोल लोक लोचन लखत, याही को नहिं आन॥ **राम**

उजले घोड़े में उजलापन समवाय सम्बन्ध से है और 'यह' सर्वनाम पर उजले का आरोप है। इससे शुद्धा सारोपा है। यहाँ घोड़ा अनुक्त है। इसकी उपस्थिति उजलापन लिये हुए होती है। अर्थात् उजला अपना अर्थ न छोड़ते हुए अपनी अन्वय-सिद्धि के लिये

उजले घोड़े का आक्षेप करता है। इससे उपादानमूला है। उजले घोड़े की जगह 'उजला' बोलने की प्रसिद्धि है। इससे रूढ़ि है। अथवा

एरे मतिमंद चंद आवत न तोहि लाज
होके द्विजराज काज करत कसाई के ॥ पद्माकर

यहाँ द्विजराज (चन्द्रमा) पर द्विजराज (ब्राह्मण) का आरोप किया गया है। नामैक्य सम्बन्ध से आरोप होने के कारण शुद्धा है। उपादानमूला इसलिये है कि आरोप-विषय द्विजराज अपना अर्थ नहीं छोड़ता। द्विजराज शब्द चन्द्रमा और ब्राह्मण दोनों में रूढ़ है। इस प्रकार उपर्युक्त भेद का यह उदाहरण हुआ।

३ गौणी, साध्यवसाना, उपादानमूला, रूढ़िलक्षणा

कौन सी है गाँठ जिसको खोल वे सकते नहीं। **हरिऔध**

यहाँ गाँठ में कठिन कार्य का अध्यवसान है। क्योंकि 'गाँठ खोलना' एक मुहावरा है जो कठिन कार्य कर डालना, पेचीदा मामलों को सुलझा देना आदि अर्थ देता है। अतः साध्यवसाना रूढ़िलक्षणा है। गाँठ खोलना कठिन कार्यों में भी पड़ता है। इससे यह अपना अर्थ न छोड़ते हुए अन्यान्य कठिन सुलझावों का उपादान करता है। गाँठ खोलने और कठिन कार्यों के सुलझाने में सादृश्य सम्बन्ध है। अतः गौणी और उपादानमूला है।

४ शुद्धा, साध्यवसाना, उपादानमूला, रूढ़िलक्षणा

क्षण भर में देखी रमणी ने, एक श्याम शोभा बाँकी।
क्या शस्य-श्यामल भूतल ने, दिखलायी निज नर-झाँकी ॥ **गुप्तजी**

यहाँ 'साँवली सूरत' 'मोहनी मूरत' के समान ही 'बाँकी श्याम शोभा' का भी प्रयोग है जो साँवली सूरत वाले के लिये निरन्तर व्यवहार में—बोलचाल में—आने के कारण एक प्रकार से रूढ़ि है। श्याम शोभा राम में समवाय सम्बन्ध से है। इससे शुद्धा है। श्याम शोभा में अनुक्त राम का अध्यवसान है। अतः साध्यवसाना है। यह उपर्युक्त भेद का वाक्यगत उदाहरण है। अथवा

शान्ति अहिंसा में सदा जिनकी भक्ति अटूट।
गांधी जी को देखने शहर पड़ा था टूट ॥ **राम**

इसमें स्वतः शहर के उपस्थित होने का अर्थ बाधित है। शहर से शहर में रहने वालों का लक्ष्यार्थ लिया गया है। शहर अपना अर्थ न छोड़ते हुए शहर वालों का आक्षेप करता है। अतः उपादानमूला है।

बोलने का मुहावरा होने से रूढ़ि है। शहर में शहर वालों का अध्यवसान होने से साध्यवसाना है। आधाराधेयभाव सम्बन्ध होने से शुद्धा है। वाक्यगता है। ऐसे स्थलों में आधार को सर्वथा अनन्वित समझने वाले इसे लक्षणलक्षणा कह सकते हैं।

५ गौणी, सारोपा, लक्षणमूला, रूढ़िलक्षणा

आजादी के लिये बने ये पाकिस्तानी काँटें।
होगा समुचित माता को क्या काट काट ये बाँटें ?॥

जिस प्रकार काँटे किसी मार्ग के बाधक होते हैं उसी प्रकार ये पाकिस्तान चाहने वाले भी स्वतन्त्रता के बाधक हैं। अतः सादृश्य सम्बन्ध से यहाँ की लक्षणा गौणी है। सारोपा इसलिये है कि विषयी और विषय दोनों का शब्दतः कथन है। 'काँटा' अपना अर्थ बिलकुल छोड़कर केवल बाधक अर्थ की प्रतीति कराता है। अतः लक्षण-लक्षणा है है। बाधक जितने होते हैं वे मार्ग के कंटक कहाते ही हैं। इससे रूढ़ि है। 'पाकिस्तानी काँटे' में लक्षणा होने से पदगता है।

६ शुद्धा, सारोपा, लक्षणमूला, रूढ़िलक्षणा

युग बीते भारत में रहते फिर भी अरब न भूले।
सचमुच ये दानव हैं भगवन् मानवता में फूले॥

यहाँ आरोप-विषय और आरोप्यमाण—मानव और दानव दोनों शब्दतः उक्त हैं। नीच काम करने वाले दानव—राक्षस कहलाते ही हैं। यह रूढ़ि है। दानव यहाँ अपना अर्थ छोड़कर नीच कर्म करने वालों का बोध कराता है। अतः लक्षण-लक्षणा है। शुद्धा इसलिये है कि यहाँ सादृश्य सम्बन्ध नहीं। बल्कि तात्कर्म्य सम्बन्ध से मानव में दानव का आरोप किया गया है। यह भी पदगता लक्षणा है।

७ गौणी, साध्यवसाना, लक्षणमूला, रूढ़िलक्षणा

हँसी खुशी तुम रुपया देव, दूध पूत तुम हमसे लेव। **प्र० ना० मिश्र**

'दूध पूत' एक प्रचलित वाग्धारा है। इसीका दूसरा रूप है 'दूधन नहावो, पूतन फलो'। इससे रूढ़ि है। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ का एक सा इष्ट साधकत्व धर्म है। अतः सादृश्य सम्बन्ध होने से गौणी है। दूधपूत में आशीर्वाद का अध्यवसान है। दूध पूत अपना अर्थ सर्वथा छोड़ देता है। अतः साध्यवसाना लक्षणलक्षणा है। अथवा

अमल सेज पर सोकर यह सुख कैसे भोग सकूँगा।
किस बूते पर ये बिखरी निधियाँ मैं जोड़ सकूँगा॥ **द्विज**

यहाँ केवल विषयी—उपमान 'अनल सेज' का ही कथन है, उपमेय का प्रयोग नहीं किया गया है। अतः साध्यवसाना स्पष्ट है। लक्षणलक्षणा इसलिये है कि 'अनल सेज' अपना अर्थ सर्वांशतः छोड़कर दुःख के संताप का बोध करता है। अनल सेज और दुःख-संताप में सादृश्य संबंध होने के कारण गौणी है। दुःख के दाह में 'अनल सेज पर सोना' एक प्रकार का मुहावरा होने से रूढ़ि है। वाक्य में होने से वाक्यगता है।

८ शुद्धा, साध्यवसाना, लक्षणमूला, रूढ़िलक्षणा

रोड़े डाल रहे हो क्यों तुम आजादी के पथ में।
गड्ढे में क्यों उसे दे रहे बैठे हो जिस रथ में॥
जन्म लिये हो यहीं यहीं के दानों से पलते हो।
ऐ भारत के जयचन्दो! फिर उसी राह चलते हो॥

आजादी के पथ में रोड़े डालनेवाले और जयचन्द में तात्कार्म्य सम्बन्ध होने से शुद्धा है। इसमें केवल विषयी—उपमान 'ऐ भारत के जयचन्दो' का ही कथन है, विषय उपमेय का नहीं। अतः साध्यवसाना है। लक्षणलक्षणा इससे है कि जयचन्द अपने अर्थ को बिल्कुल छोड़ कर देशद्रोही का अर्थ प्रकट करता है। देशद्रोही के अर्थ में जयचन्द शब्द अत्यन्त प्रसिद्ध है। अतः पदगता रूढ़िलक्षणा है।

पन्द्रहवीं किरण

प्रयोजनवती धर्मगता लक्षणा के सोदाहरण विशेष भेद

१ गौणी, सारोपा, उपादानमूला, गूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवती लक्षणा

अन्नदाता हैं धीर किसान, सिपाही दिखलाते हैं शान।
डराते उन्हें तमाचा तान, तुम्हें क्या सूझा हे भगवान॥ **सनेही**

किसान में अन्नदाता का आरोप है। किसान अन्नदाता नहीं, अन्नोत्पादक हैं। अर्थबाध होने से अन्नदाता अन्नप्राप्ति के साधक का अर्थ देता है। इसमें अन्नदाता अपना अर्थ नहीं छोड़ता। इससे सारोपा, उपादानमूला है। सादृश्य सम्बन्ध होने से गौणी है। प्रयोजन है

किसानों की उदारता, स्वयं दुःख सहकर दूसरों को सुख देना आदि। किसान की महत्ता दिखलाना प्रयोजन होने से धर्मगता है। अन्न-दाता कहने का जो गूढ़ प्रयोजन है वह सर्वजन-सुलभ नहीं। इससे गूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवती लक्षणा है।

२ गौणी, सारोपा, उपादानमूला, अगूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवती लक्षणा

एक छोटी झोपड़ी खर घास पात पुआल वाली।
झोपड़ी कैसी अरे वह छिद्रवाली एक जाली॥ **केसरी**

यह एक झाँझर झोपड़ी का वर्णन है। झोपड़ी में जाली का आरोप है। झोपड़ी जाली नहीं हो सकती। इससे जाली अगणित छेदवाली, जाली बनी झोपड़ी के अर्थ का उपादान करती है। सादृश्य सम्बन्ध से गौणी है। दारिद्र्य की अधिकता सूचन प्रयोजन है। यह धर्मगत और अगूढ़ है। अतः उपर्युक्त लक्षणा का यह उदाहरण हुआ।

३ शुद्धा, सारोपा, उपादानमूला, गूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवती लक्षणा

भारत के चालीस कोटि का मोहक मन्त्र बना तेरा स्वर।
तू भारत का वृहत्पराक्रम तुझमें भारतवर्ष बृहत्तर॥" **पांडे**

गाँधी जी के स्वर—उच्चरित में मन्त्र का आरोप है। यह आरोप सामान्य-विशेष संबन्ध से है। अतः शुद्धा सारोपा है। गाँधी जी का स्वर मन्त्र नहीं हो सकता। इस अर्थबाध को मिटाने के लिये स्वर अपना अर्थ रखते हुए प्रभावशाली शब्द रूप अर्थ का उपादान करता है।

मन्त्र के सन्बन्ध में तुलसीदास जी ने कहा है "मन्त्र परम लघु जासु बस, बिधि हरि हर सुर सर्ब।" यही गुण गाँधीजी के स्वर में अर्थात् उक्ति में है। उनका स्वर शत्रु-मित्र, शिक्षित-अशिक्षित, ग्रामीण-नागरिक, मूढ़-चतुर, सब पर एक समान जादू का सा असर डालता है। स्वर का यही सामर्थ्य, और उसकी प्रेरणात्मक शक्ति का प्रदर्शन ही प्रयोजन है जो गूढ़ है। प्रयोजन स्वर के धर्म में होने से धर्मगता प्रयोजनवती लक्षणा है।

४ शुद्धा, सारोपा, उपादानमूला, अगूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवती लक्षणा

पुण्य भूमि है स्वर्ग भूमि है जन्मभूमि है देश यही।
इससे बढ़कर या ऐसी ही दुनियाँ में है जगह नहीं॥ **रू० ना० पांडेय**

देश में जन्मभूमि का आरोप है। समस्त देश सबकी जन्मभूमि नहीं हो सकता। क्योंकि, जन्मस्थान तो देश के एक छोटे से स्थान पर कहीं होगा। इससे जन्मभूमि का लक्ष्यार्थ होता है जिस देश में जन्म लिया है उस देश की भूमि। यहाँ जन्मभूमि देश-भूमि का उपादान करती है। इससे उपादान-मूला है। जन्मभूमि तथा देश से अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध है जिससे शुद्धा है। प्रयोजन है स्वदेश की महत्ता का द्योतन, जो धर्मगत और अगूढ़ है।

५ गौणी, साध्यवसाना, उपादानमूला, गूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवती लक्षणा

हम पाँचों सवार जाते हैं एक साथ ही दिल्ली,
पिछड़ी देख सवारी मेरी यों न उड़ावो खिल्ली।
ये चारो ही हरकारे हैं आये मुझको लेने,
मैं जाता हूँ बादशाह को असली जीनत देने। **हिन्दी प्रेमी**

यह गधे पर सवार एक धोबी की उक्ति है। गधे पर चढ़ने वाला सवार नहीं हो सकता। किन्तु आरोही होने के कारण सादृश्य सम्बन्ध से वह अपने को भी सवारों में शामिल कर रहा है। इससे उपादानमूला गौणी है। सबके लिये प्रयुक्त बहुवचनान्त 'हम' में वक्ता धोबी का अध्य-वसान है। प्रयोजन है अपने को सवार कहकर अपना मान बढ़ाना। उसका यह अभिप्राय स्पष्ट नहीं। इससे गूढ़व्यङ्ग्या और मान बढ़ाना गुण में होने से धर्मगता प्रयोजनवती लक्षणा है।

६ गौणी, साध्यवसाना, उपादानमूला, अगूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवती लक्षणा

इस दुनिया से जिसे मोह हो बैठे छिपा घरोंदों में।
इन्कलाब से जो डरता हो बैठे सरसों-कोदो में॥ **नरेन्द्र**

घरोंदों में छोटे २ घरों का अध्यवसान है। घरोंदा अपना अर्थ रखते हुए निर्वाह के योग्य, संकीर्ण तथा छोटे छोटे घरों का उपादान करता है। इससे उपादानमूला साध्यवसाना है। दोनों में समानता के कारण सादृश्य सम्बन्ध होने से गौणी है। प्रयोजन है मजदूरों की दीनता और दुर्दशा प्रगट करना। यह धर्म में रहने के कारण धर्मगत और स्पष्ट होने से अगूढ़ है। क्योंकि, मजदूरों के अपार कष्टों की जो कल्पना है वह सहज-संवेद्य है। अथवा

मैं सुनता उस पार कुटी में भूखे शिशुओं की चीत्कारें।
मैं सुनता उस चुसी ठठरियो के घावों की हरी पुकारें॥ **दिनकर**

यहाँ चुसी ठठरियों में कृशित किसानों का अध्यवसान है। सादृश्य सम्बन्ध से गौणी है। चुसी ठठरियाँ ठठरीवाले किसानों का उपादान करती हैं। किसानों की दयनीय दीनता दिखलाना प्रयोजन है जो प्रथम पंक्ति के वर्णन से साफ है। दीनता आदि धर्म में होने के कारण धर्मगता और पदगता भी है।

७ शुद्धा, साध्यवसाना, उपादानमूला, गूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवती लक्षणा

विजय केवल लोहे की नहीं धर्म की रही धरा पर धूम।
भिक्षु होकर रहते सम्राट् दया दिखलाते घर घर घूम॥ प्रसाद

लोहे में लौहास्त्र का अध्यवसान है। लोहा लोहे के बने अस्त्र का उपादान करता है। अतः उपादानमूला साध्यवसाना है। प्रकृति-विकृति-भाव सम्बन्ध होने से शुद्धा है। प्रयोजन है लौहास्त्र की कठिनता, अभङ्गुरता आदि बताना जो शस्त्रों के धर्म में है और सर्वसाधारण के बुद्धिगम्य नहीं है। अतः गूढ़ा और धर्मगता प्रयोजनवती लक्षणा है।

यहाँ दो प्रकार के उपादान हैं। एक तो लोहे से बने अस्त्र का और दूसरे उसके धारण करनेवालों का। क्योंकि लोहे के बने शस्त्रों की विजय नहीं होती बल्कि लौह-निर्मित-शस्त्रधारी की विजय होती है। इससे यहाँ दुहरी लक्षणा है। अथवा—

माटी मोल न किछु लहै औ माटी सब मोल।
दिष्टि जो माटी सों करैं माटी होइ अमोल॥ जायसी

मिट्टी का कुछ मूल्य नहीं होता पर समझिये तो मिट्टी का (मनुष्य शरीर का) भी बहुत कुछ मूल्य होता है। मिट्टी पर भी यदि दृष्टि रक्खी जाय अर्थात् तुच्छ से तुच्छ विषय पर भी ध्यान दिया जाय तो वही मिट्टी (शरीर) अमूल्य हो सकती है।

यहाँ मिट्टी में शरीर का अध्यवसान है। शरीर मिट्टी नहीं हो सकता। अतः मिट्टी मिट्टी से बने हुए या मिट्टी का अधिकांश रखनेवाले शरीर का उपादान करती है। अतः उपादानमूला साध्यवसाना है। प्रयोजन है शरीर की निस्सारता, तुच्छता और नश्वरता बताना। यह शरीर के धर्म में है और सबके विचार में आने योग्य नहीं। इससे धर्मगता, गूढ़ा, प्रयोजनवती लक्षणा है। समवाय सम्बन्ध वा कार्यकारण भाव सम्बन्ध होने से शुद्धा है।

८ शुद्धा, साध्यवसाना, उपादानमूला, अगूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवती लक्षणा

चूती जिनकी खपरैल सदा वर्षा की मूसलधारों में।
ढह जाती है कच्ची दिवार पुरवाई की बौछारों में ॥ मो. ला. द्विवेदी

यहाँ खपरैल में खपरैल मकान का अध्यवसान है। खपरैल अपना अर्थ रखते हुए खपरों से छाये हुए मकान को जताती है। निर्धनतासूचन प्रयोजन है। अतः उपादानगता प्रयोजनवती है। मकान का स्पष्ट कथन न होने से साध्यवसाना और अवयवावयवी-भाव सम्बन्ध होने से शुद्धा है। खपरैल के चूने से गरीब होने का बोध गूढ़ नहीं है। निर्धनता में प्रयोजन होने से धर्मगता और वाक्य में होने से वाक्यगता है। अथवा—

वहाँ न लड़ती दाढ़ी-चोटी वहाँ नहीं साहूकारी। नरेन्द्र

दाढ़ी और चोटी में मुसलमान और हिन्दू का अध्यवसान है। इन दोनों का लड़ना असंभव है। दाढ़ी और चोटी, दाढ़ी रखने वाले मुसलमान और चोटी रखनेवाले हिन्दू का उपादान करती है। समवाय सम्बन्ध होने से शुद्धा है। प्रयोजन है रूसियों का स्वभावतः एकप्राण, असाम्प्रदायिक और स्वदेशप्रेमी होना आदि बताना। एकता आदि धर्म में होने से धर्मगता और स्पष्ट होने से अगूढ़ा प्रयोजनवती लक्षणा है।

९ गौणी, सारोपा, लक्षणमूला, गूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवती लक्षणा

नारी के नयन
त्रिगुणात्मक ये सन्निपात
किसको प्रमत्त नहीं करते
धैर्य किसका ये नहीं हरते
वही अस्त्र मेरा था। प्रसाद

नारी के नयनों पर त्रिगुणात्मक सन्निपात का आरोप है। सादृश्य सम्बन्ध से गौणी है। क्योंकि, दोनों में मादक आदि धर्म की समानता है। त्रिगुणात्मक सन्निपात अपना अर्थ मोहक, मादक, मारक आदि को दे देता है। इससे लक्षणलक्षणा है। प्रयोजन है नेत्रों की तीक्ष्णता उसकी स्ववशकारिणी शक्ति का प्रदर्शन। धर्म में होने से धर्मगता और सहृदय-संवेद्य ही होने के कारण गूढ़ा प्रयोजनवती लक्षणा है। इसपर यह प्राचीन दोहा याद आ जाता है।

अमी हलाहल मद भरे श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इकबार।

एक और उदाहरण लें—

लेना अनल किरीट भाल पर ओ आशिक होने वाले। **दिनकर**

किरीट पर अनल का आरोप है। भाल पर अनल-किरीट धारण करना अर्थात् विपद् मोल लेना है। इस सादृश्य सम्बन्ध से गौणी है। अनल-किरीट अपना अर्थ छोड़कर आपत्ति मोल लेने—संकट उठाने, का अर्थ देता है। इससे लक्षणलक्षणा है। प्रयोजन है प्रेमियों के, विशेषकर देश-प्रेमियों के अपार कष्ट सहने, मौत के साथ खेलने आदि का प्रदर्शन। यह सहजगम्य न होने से गूढ़ है। इससे गूढव्यङ्ग्या प्रयोजनवती लक्षणा है। विपद् की अधिकता और कठिनता में फल होने से धर्मगता और पदगता है।

१० गौणी, सारोपा, लक्षणमूला, अगूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवती लक्षणा

अरुण करुण बिम्ब
भस्मरहित ज्वलनपिण्ड
विकल विवर्तनों से, विरल प्रवर्तनों में
श्रमित नमित सा
पश्चिम के व्योम में आज निरवलम्ब सा। **प्रसाद**

सूर्य के अरुण विम्ब में ज्वलन-पिण्ड का आरोप है। सादृश्य सम्बन्ध से गौणी है। ज्वलन-पिण्ड अपना अर्थ छोड़कर अङ्गार सा लाल सतेज अर्थ देता है, जिससे लक्षणलक्षणा है। प्रयोजन है सूर्य-विम्ब की अरुणिमा का अतिशय द्योतन। धर्म में फल के होने से यहाँ की लक्षणा धर्मगता और स्पष्ट होने से अगूढ़ा, पदगता, प्रयोजनवती लक्षणा है। अथवा

वे मिट्टी के पुतले हैं टूट रहे तो टूटें
वे माया के बंधन हैं छूट रहे तो छूटें। **हरिकृष्ण प्रेमी**

यहाँ 'वे' परिवार जन के लिये आया है। उन पर मिट्टी के पुतलों का आरोप आकार-प्रकार और नश्वरता के सादृश्य सम्बन्ध से होने के कारण गौणी है। माया के बन्धन का भी आरोप है, किन्तु, तात्कर्म्य सम्बन्ध होने से शुद्धा है। मिट्टी के पुतले अपना अर्थ छोड़कर नश्वर होने का अर्थ देते हैं। इससे लक्षणलक्षणा है। प्रयोजन है परिवार के

लोगों को तुच्छ, प्रेम के अयोग्य तथा क्षणजीवी बताना। नश्वरता आदि धर्म में होने से धर्मगता और स्पष्ट होने के कारण अगूढ़ा, प्रयोजनवती लक्षणा है।

११ शुद्धा, सारोपा, लक्षणमूला, गूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवती लक्षणा

गर्जन के द्रुत तालों पर चपला का बेसुध नर्तन।
मेरे मन बाल-शिखी में संगीत मधुर जाता बन। **म. दे. वर्म्मा**

यहाँ मन में बालशिखी का आरोप है। मेघों का गर्जन सुनकर मोरों के अन्दर आनन्द होना और नृत्य करना उनका स्वभाव है। इसीको लेकर मन पर बालशिखी का आरोप है। अतः तात्कार्म्य सम्बन्ध से शुद्धा सारोपा है। लक्ष्यार्थ होता है वर्षागम से चित्त का आनन्दित होना। इसके लिये मन बालशिखी में अपना अस्तित्व खो देता है। कहना चाहिये कि दोनों पंक्तियों ने अपना संपूर्ण अर्थ छोड़कर उक्त लक्ष्यार्थ को दे दिया है। यहाँ कवि को मन की मस्ती, सरसता, प्रकृति-प्रियता आदि प्रयोजन दर्शाना है। मन के आनन्दातिरेक में प्रयोजन होने के कारण धर्मगता और गूढा है। क्योंकि, यहाँ का प्रयोजन साहित्यमर्मज्ञों के ही बोध का विषय है। पद में होने से पदगता प्रयोजनवती है।

अश्रुगङ्गा-स्नात प्राणों के प्रदीप जला निशा भर,
अर्चना आतुर जगी पीड़ा अचल आराधिनी सी
शून्य मेरे गगन में स्मृति तुम्हारी चाँदनी सी। **जा. ब. शास्त्री**

अश्रु गंगा नहीं हो सकता। इससे लक्ष्यार्थ लिया जाता है अश्रु का अनवरत प्रवाह। गंगा शब्द अपना अर्थ छोडकर (आँसू का) धारा-प्रवाह बहना अर्थ प्रगट करता है। इससे लक्षणलक्षणा है। आँसू का आधिक्य द्योतन प्रयोजन होने से प्रयोजनवती है। गंगा के समान स्नानादि कर्म अश्रु के द्वारा होने के कारण तात्कर्म्य सम्बन्ध से शुद्धा और विषयी तथा विषय के कथन से सारोपा है। इस सम्पूर्ण वर्णन से अनुप्राणित अश्रुगंगास्नान से जो अत्यन्त विरह-वेदना का बोध होता है, वह गूढ़ है। अश्रु का आधिक्य बताने से धर्मगता और अश्रुगंगा में होने से पदगता है।

१२ शुद्धा, सारोपा, लक्षणमूला, अगूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवती लक्षणा

इक मन का कोमल राजा था इक मन की कोमल रानी थी।
उनकी दुनियाँ मीठे सपनो की एक प्रेम-कहानी थी॥ **सुदर्शन**

यहाँ दुनियाँ पर प्रेम-कहानी का आरोप है। दोनों का आनन्द देना एक सा कर्म है। अतः शुद्धा सारोपा है। सपनों की प्रेम-कहानी अपना अर्थ आनन्द-दान को दे देती है। इससे लक्षणलक्षणा है। प्रयोजन है राजा-रानी की दुनिया में सुख का आधिक्य बताना। अभिप्राय यह है कि दोनों अपनी दुनियाँ में सुखी थे। प्रयोजन स्पष्ट होने से अगूढ़ा और आनन्दाधिक्य में होने से धर्मगता। सम्पूर्ण वाक्य में होने से वाक्य-गता है।

१३ गौणी, साध्यवसाना, लक्षणमूला, गूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवती लक्षणा

अरुण पराग जलज भर नीके। शशिहि भूष अहि लोभ अमी के। **तुलसी**

इस चौपाई में विवाह के समय सीताजी की माँग में रामचन्द्रजी के हाथ से सिन्दूर-दान का वर्णन है। सम्पूर्ण चौपाई में केवल उपमानों का ही कथन है और सभी उपमेयों का अध्यवसान। अरुण पराग में सिन्दूर, जलज में हाथ, शशि में जानकी का मुख, अहि में राम की बाँह और अमी में जानकी का मुख-सौन्दर्य अध्यवसित हैं। इन सब उपमेयों और उपमानों में सादृश्य सम्बन्ध से गौणी है। उक्त पदसमूहों का वाच्यार्थ यही हो सकता है कि एक साँप कमल में लाल पराग भरकर चन्द्रमा को अमृत पाने के लोभ से भूषित करता है। इस वाच्यार्थ से यहाँ कोई अभिप्राय सिद्ध नहीं होता। यहाँ आरोप-विषयों का निर्देश न होने से साध्यवसाना है। प्रयोजन है सिन्दूर में स्निग्धता, हाथ में कोमलता और सुन्दरता, मुख में सौन्दर्याधिक्य और हाथ में सुखस्पर्श के लिये विकलता और औत्सुक्य आदि। आरोप-विषय उपमेयों का स्वार्थ-त्याग होने से लक्षणलक्षणा है। यहाँ उपमानभूत विषयी से लक्षणा का कोई प्रयोजन न होकर उपमानगत उक्त धर्मों से है। इसीसे धर्मगता और सर्वत्र प्रयोजन असाधारण होने से गूढ़ा तो है ही। वाक्य में होने से वाक्यगता प्रयोजनवती लक्षणा है। अथवा

उपल हो ? आओ पुजोगे प्रणय मन्दिर रिक्त मेरा।
अनल हो ? आओ न आहुति का हृदय अभिषिक्त मेरा॥ **जा.ब.शास्त्री**

इसमें केवल विषयी—आरोप्यमाण उपल और अनल का शब्दतः कथन है। विषय अर्थात् व्यक्ति का नाम नहीं है। अतः साध्यवसाना है। सादृश्य सम्बन्ध से अध्यवसान होने के कारण गौणी है। उपल और अनल का लक्ष्यार्थ होता है कठोर और दाहक। यही व्यक्ति-विशेष

में संभव है। उपल और अनल मुख्यार्थ छोड़कर लक्ष्यार्थ को ही लेते हैं। अतः लक्षणलक्षणा है। प्रयोजन है प्रेमी को अतिनिष्ठुर और अति दुखदायक बताना जो सहज-गम्य न होने के कारण गूढ़ है। कठोरता और दाहकता धर्म में होने से धर्मगता और पदों में पृथक् २, होने से पदगता प्रयोजनवती लक्षणा है।

१४ गौणी, साध्यवसाना, लक्षणमूला, अगूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवती लक्षणा

नीलोत्पल के बीच सजाये मोती से आँसू के बूँद।
हृदय सुधानिधि से निकले हो सब न तुम्हें पहचान सके। **प्रसाद**

नीलोत्पल के बीच में मोती के सदृश आँसू के बूँद सजे हैं। इस अर्थ में बाधा स्पष्ट है। किन्तु आँसू के सहारे नीलोत्पलों में अध्यवसित उपमेय नयनों का शीघ्र बोध हो जाता है। प्रयोजन है नयनों का अतिशय सौन्दर्य दिखाना। यह स्पष्ट है। अतः साध्यवसाना अगूढ़ा है। उपमान और उपमेय में सादृश्य सम्बन्ध होने से गौणी है। नीलोत्पल अपना अर्थ छोड़कर आँख का अर्थ देता है। अतः लक्षणलक्षणा है। सौन्दर्याधिक्य में प्रयोजन होने से धर्मगता है और पदगता भी।

१५ शुद्धा, साध्यवसाना, लक्षणमूला, गूढा, धर्मगता, प्रयोजनवती लक्षणा

नग्न बाहुओं से उछालती नीर।
तरंगों में डूबे दो कुमुदों पर हँसता था एक कलाधर
ऋतुराज दूर से देख उसे होता था अधिक अधीर। **निराला**

यहाँ कुमुद और कलाधर के उपमेय अध्यवसित हैं। बीच की पंक्तियों का अर्थ होगा दिन में भी तरगों में डूबे हुए दो कुमुदों पर एक कलाधर—चन्द्रमा, हँसता था। डूबे कुमुदों में द्विवचन और हँसते चन्द्रमा में एकवचन कुछ अर्थ रखते हैं। लक्ष्यार्थ है (उस नायिका के) तरंगों में डूबे हुए दो उरोज और उनपर खिला हुआ उसका मुखड़ा। इस लक्ष्यार्थ के लिये कुमुद और कलाधर अपनी अपनी सत्ता छोड़कर उन अध्यवसित उपमेयों में लीन हो जाते हैं। प्रयोजन है नायिका की वयः सन्धि की अवस्था में कुमुदोपम उरोजों को देखकर प्रसन्न होने की विशेषता और मुख में सुकुमारता, मधुरता तथा सुन्दरता, जो कलाधर शब्द से व्यक्त होता है, दिखलाना। कुमुदों के समान उरोजों का अभिनव उद्भेद और कलाधर के समान मुख का उल्लास दिखाने से तात्कर्म्य

सम्बन्ध होने के कारण शुद्धा है। मनोहरता आदि धर्मों में प्रयोजन होने से धर्मगता और साथ ही सर्वसाधारण के बोधगम्य न होने के कारण गूढ़ा है और वाक्य में होने से वाक्यगता भी। अथवा

पिलाने को कहाँ से रक्त लावें दानवों को।
नहीं क्या स्वत्व है प्रतिशोध का हम मानवों को। **दिनकर**

यहाँ रक्त में श्रमोपार्जित धन और दानवों में क्रूर अत्याचारियों का अध्यवसान है। क्योंकि आरोप्यमाण ही उक्त है, आरोप-विषय नहीं। रक्त और धन में सामान्य-विशेष सम्बन्ध और दानव तथा अत्याचारियों में तात्कर्म्य सम्बन्ध होने से शुद्धा साध्यवसाना है। मुख्यार्थ को छोड़ लक्ष्यार्थ ग्रहण करने से लक्षणलक्षणा है। कृषकों का खून पसीना एक कर उपार्जित किये हुए और बिलखते हुए बच्चों के मुख से छीने हुए ग्रास तक का रईसों को दे देना, जो रक्षा के नाम पर बीभत्स नृत्य दिखलाते हैं, प्रयोजन है। यह गूढ़ है। उपार्जित अन्न की महत्ता और अत्याचारियों की क्रूरता में प्रयोजन होने से धर्मगता और पदगता है।

१६ शुद्धा, साध्यवसाना, लक्षणमूला, अगूढ़ा, धर्मगता, प्रयोजनवती लक्षणा

प्रथम भी ये नयनों के बाल खिलाये हैं नादान।
आज मणियों ही की तो माल हृदय में बिखर गयी अनजान।
टूटते असंख्य उडुगन दिल हो गया चाँद का थाल।
गल गया मन मिश्री का कन नयी सीखी पलकों ने बान। **पंत**

यहाँ बीच की दो पंक्तियों में शब्दतः कथित उपमानों के उपमेय अश्रुकण अध्यवसित हैं। बिखरना तथा टूटना आदि कार्य एक समान होने के कारण तात्कर्म्य सम्बन्ध से शुद्धा है। पंक्तियों के उक्त उपमान अपने अर्थ छोड़कर अश्रुबिन्दुओं के बोधक बन जाते हैं। इससे लक्षण-लक्षणा है। अत्यधिक आँसू गिरने से वेदनाधिक्य प्रकट करना प्रयोजन है। लक्ष्यार्थ के धर्म में होने से धर्मगता है। 'नयनों के बाल' और 'पलकों ने सीखी बान', इन वाक्यों से यहाँ अश्रुकण का अध्यवसान और उसका प्रयोजन गूढ़ नहीं है। अतः अगूढ़ा, वाक्यगता प्रयोजनवती लक्षणा है।

सोलहवीं किरण

२ प्रयोजनवती लक्षणा के सोदाहरण विशेष भेद (धर्मिगता)

धर्मगता लक्षणा के समान सब भेदों के उदाहरण न देकर धर्मिगता लक्षणा के सामान्यतः कुछ ही उदाहरण दिये जाते हैं।

१ गौणी, सारोपा, उपादानमूला, अगूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवती लक्षणा

ये बाबू बाराती आये कुछ मँगनी के घोड़े लाये। **राम**

यहाँ सादृश्य सम्बन्ध से 'ये' दृश्यमान सर्वनाम पर बाबूपन का आरोप है। बाबू शब्द यथार्थ में अपना अर्थ रखते हुए बने हुए बाबुओं का उपादान करता है। इससे गौणी, सारोपा, उपादानमूला है। सच्चे बाबुओं के समान बने हुए बाबुओं की ओर ध्यान दिलाकर उनका व्यक्ति-वैचित्र्य दिखाना प्रयोजन है जो सहज-गम्य होने से अगूढ़ है। बाबुओं में प्रयोजन होने से धर्मिगता और पदगता प्रयोजनवती लक्षणा है।

२ शुद्धा, सारोपा, उपादानमूला, गूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवती लक्षणा

तुम आती हो—
घन सा विषाद घुल जाता है, अवसाद शेष धुल जाता है,
छाया मलीन पल में विलीन हो जाती है,—हो जाता है
पल में मेरा कुछ और, और से और रूप! **नरेन्द्र**

यहाँ रूप में 'और से और' का आरोप है। रूप में विशेपता आ जाने से सामान्य-विशेष सम्बन्ध होने के कारण शुद्धा है। रूप 'और ढंग' का नहीं हो जा सकता। इस अर्थबाधा को मिटाने के लिये रूप अपना अर्थ रखते हुए रूप की अनुपमता रूपी अर्थ का उपादान करता है। रूप का ही वैचित्र्य और वैशिष्ट्य बताना प्रयोजन है जो धर्मी में है। अतः उपादानमूला धर्मिगता है। प्रेयसी का समागम कितना सुखकर है और वह क्या से क्या नहीं कर देता है! रूप का और से कुछ और हो जाना, यहाँ सहृदय-संवेद्य ही है। बिहारी की भी ऐसी ही एक उक्ति है—

वह चितवनि औरे कछू, जेहि बश होत सुजान।

एक और उदाहरण लें—

मेरा कवि कहता चरवाहा यह मानवता का चरवाहा।
जनगण का नायक चरवाहा क्रांतिगीत गायक चरवाहा।
कहता अजी चलो दृग मूँदे कहता अजी छलांगे मारो।
दुर्बल दीन अंग देखो मत बढ़ो आप जीतो या हारो॥ **रा. द. पांडे**

गाँधी जी पर चरवाहे का आरोप है। गाँधी जी चरवाहा—पशु चरानेवाले—नहीं हो सकते। यहाँ चरवाहा अपने संचालन रूप अर्थ का उपादान करता है। गाँधी जी संचालन का कार्य करते ही हैं, यह पद्य से ही स्पष्ट है। तात्कर्म्य सम्बन्ध से शुद्धा है। भारतीय मात्र गाँधी जी का आज्ञानुवर्ती है, यह बताना प्रयोजन है। यह धर्मिगता और गूढ़ा है। क्योंकि, यह गाँधी जी का व्यक्ति-वैशिष्ठ्य अन्य व्यक्तियों में दुर्लभ है। यहाँ गाँधी जी के व्यापक प्रभाव का बताना प्रयोजन नहीं माना जा सकता। क्योंकि, इसमें चरवाहे के आरोप की उतनी सार्थकता नहीं है। गाँधी जी को चरवाहा कहने के भाव को सर्व-साधारण नहीं समझ सकते। अतः गूढ़ा प्रयोजनवती लक्षणा है।

३ शुद्धा, सारोपा, उपादानमूला, अगूढ़ा, धर्मिगता प्रयोजनवती लक्षणा

क्रीतदासी, स्वामिनी, आराध्य हो, आराधिका भी,
प्राणमोहन कृष्ण हो तुम, शरण अनुगत राधिका भी.
सहचरी हो भार्या हो बन्दनीया अम्बिका भी,
भक्ति की कृति हो स्वयं, फिर भक्त की प्रतिपालिका भी॥ **नरेन्द्र**

भार्या पर क्रीतदासी का आरोप है। भार्या खरीदी चेरी नहीं हो सकती। यहाँ दासी स्वार्थ रखते हुए अधीन सेविका के अर्थ का उपादान करती है। तात्कर्म्य सम्बन्ध से शुद्धा है। सादृश्य सम्बन्ध से गौणी भी हो सकती है। प्रयोजन है पाणिगृहीती पत्नी का वैशिष्ठ्य बताना। पद्यगत अन्यान्य आरोप के विषय भी इसी वैशिष्ठ्य को प्रकट करते हैं। यह सर्वसाधारणगम्य होने से अगूढ़ा है। भार्या धर्मी में होने से धर्मिगता प्रयोजनवती लक्षणा है।

४ गौणी, उपादानमूला, साध्यवसाना, गूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवती लक्षणा

सँभाले हैं जिसको कंगाल सिहरते हिलते से कंकाल।
देखता हूँ विस्तृत साम्राज्य और ये कृष्ण कंकाल॥ **नरेन्द्र**

यहाँ कंकाल स्वार्थ रखते हुए सादृश्य सम्बन्ध से दुर्बल देह, दीन, कंकालस्वरूप किसानों अर्थ का उपादान करता है। अतः उपादानमूला गौणी है। कंकाल में कृशकाय किसानों का अध्यवसान है। क्योंकि, आरोप का विषय उक्त नहीं है। यहाँ किसानों की विशेष क्षमता बतलाना प्रयोजन है। इस विशेषता में साम्राज्य भर के भोजन का भार उठाना भी सम्मिलित है। इससे गुण-धर्म की अपेक्षा उनका अन्य देश के किसानों से वैशिष्ट्य ही द्योतित होता है। उक्त प्रयोजन गूढ़ है। क्योंकि, यहाँ का विरोधाभास समझना और उसके अन्तस्तल तक पहुँचना सर्वसाधारण के लिये कठिन है। कंकाल में प्रयोजन होने से धर्मिगता और पदगता प्रयोजनवती लक्षणा है।

५ शुद्धा, साध्यवसाना, उपादानमूला, गूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवती लक्षणा

है अपूर्व यह युद्ध हमारा हिंसा की न लड़ाई है।
नंगी छाती की तोपों के ऊपर विकट चढ़ाई है॥ **नैपाली**

नंगी छाती में निरस्त्र व्यक्ति का अध्यवसान है। नंगी छाती से नंगी छाती वाले व्यक्तियों का उपादान होता है। अंगागिभाव सम्बन्ध से शुद्धा है। प्रयोजन है नगी छाती वाले अर्थात् निरस्त्र सत्याग्रही योद्धाओं का अन्य सशस्त्र योद्धाओं की अपेक्षा वैचित्र्य प्रकट करना। यह प्रयोजन गूढ़ है। क्योंकि, साधारण जन सत्याग्रहियों के दूसरे के प्रहार को सह लेना, स्वयं प्रहार न करना, इस वैशिष्ट्य को नहीं समझते और न यही मानते हैं कि अत्याचारियों के अत्याचार सत्याग्रह के समक्ष असफल ही हो जाते हैं और उन्हें सत्य के सामने एक न एक दिन सिर झुकाना ही पड़ता है। इस वैलक्षण्य के सत्याग्रही में होने के कारण धर्मिगना प्रयोजनवती लक्षणा है। ऐसी ही एक पंक्ति दिनकर की भी है—तनकर बिजली का वार सहे, यह गर्व नये सीने का है।

६ शुद्धा, साध्यवसाना, उपादानमूला, अगूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवती लक्षणा

किसी राष्ट्र की आशा थे यह, उनको क्या मालूम। **सुमन**

यह पद्यार्ध कलकत्ते के फुटपाथ पर भूख से बिलखलाते हुए बच्चों को मौत के मुँह में जाते देखकर कवि की उक्ति है।

बच्चों में राष्ट्र की आशा का अध्यवसान है। राष्ट्र की आशा राष्ट्र के आशापूरक या भविष्य-विधायक रूप अर्थ का उपादान करती है। दोनों में पूर्यपूरक भाव या विधेय-विधायक-भाव सम्बन्ध होने से शुद्धा है। बच्चों को राष्ट्र की आशा-भरोसा कहना, उनका औरों से विलक्षण देश-हितकारक होना प्रकट करता है। इससे धर्मिगता है। प्रयोजन स्पष्ट होने से अगूढ़ा प्रयोजनवती लक्षणा है। अथवा

अब भी सत्याग्रह सिखलाया है गोरों को कालों ने। **गुप्तजी**

कालों और गोरों में हिन्दुस्तानियों और अंग्रेजों का अध्यावसान है और ये काले तथा गोरे रंग वाले मनुष्यों अर्थात् भारतीयों और अंग्रेजों का उपादान करते हैं। अतः उपादानमूला साध्यवसाना है। समवाय सम्बन्ध से शुद्धा है। अंग्रेजों की दृष्टि में हेय होते हुए भी हिन्दुस्तानियों को शिक्षागुरु बतलाना प्रयोजन है, जो स्पष्ट है। यहाँ भारतीयों के ही वैशिष्ट्य बताने के कारण धर्मिगता प्रयोजनवती लक्षणा है।

७ गौणी, सारोपा, लक्षणमूला, अगूढ़ा धर्मिगता, प्रयोजनवती, लक्षणा

मेरा जीवन इन्द्रधनुष का कानन।

जीवन की रंगीनियों का सादृश्य सम्बन्ध लेकर इन्द्रधनुष का आरोप होने से गौणी सारोपा है। इन्द्रधनुष का कानन अपना अर्थ जीवन की विविधता को दे देता है। अतः लक्षण-लक्षणा है। प्रयोजन है विविधता और अनेकरसता में भी जीवन का एक-समान सौन्दर्य-प्रदर्शन, जो साधारणतः अलभ्य है। अतः जीवन का वैशिष्ट्य प्रदर्शन होने से धर्मिगता और फल स्पष्ट होने से अगूढ़व्यङ्ग्या प्रयोजनवती लक्षणा है।

८ शुद्धा, साध्यवसाना, लक्षणमूला, गूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवती लक्षणा

बागी दागी कहलाने पर जरा न मन में मुरझाया।
अगणित कंसों ने सम्मुख ही सहसा कृष्ण खड़ा पाया। **भा० आत्मा**

यहाँ कंसों में अत्याचारियों का और कृष्ण में तिलक का अध्यवसान है। तात्कर्म्य सम्बन्ध होने से शुद्धा है। कंसों ने अपना अर्थ अत्याचारियों को और कृष्ण ने अपना अर्थ तिलक को दे दिया है। इससे लक्षण-लक्षणा है। कंसों में अत्याचार की पराकाष्ठा, जिसमें बालक बध तक सम्मिलित है, दिखलाना प्रयोजन है। यह अगूढ़ और धर्म्मि-

गत है। किन्तु, तिलक को कृष्ण कहने का प्रयोजन दुष्टदमन की प्रवृत्ति के साथ साथ गीतोपदेशकत्व भी सूचित करना है, जो तिलक की व्यक्तिगत विशेषता है। अतः धर्मिगता है। यहाँ का प्रयोजन गूढ़ है। अतः गूढ व्यङ्ग्या प्रयोजनवती लक्षणा है। अथवा

प्रह्लादों को जला सके जो जग में ऐसा ताप नहीं। **दिनकर**

यहाँ प्रह्लादों में सत्याग्रहियों का तात्कर्म्य सम्बन्ध से अध्यवसान किया गया है। इससे शुद्धा साध्यवसाना है। सत्याग्रही अर्थ देने से लक्षण-लक्षणा है। प्रयोजन है सत्याग्रहियों की अपराजेयता और सब प्रकार की यातनाओं में निर्विकारता का द्योतन। यह प्रयोजन गूढ़ है। क्योंकि, इसमें जो यह बात छिपी हुई है कि सत्याग्रहियों में आत्मबल का जो पारावार लहराता है, वह समय समय पर असह्य यातनायें भुगतने पर भी उनको अधीर नहीं होने देता। सत्याग्रहियों के व्यक्तित्व की विशिष्टता बताने में ही लक्षणा का फल है। इससे धर्म्मिगता तथा पदगता प्रयोजनवती लक्षणा है।

९ शुद्धा, साध्यवसाना, लक्षणमूला, अगूढ़ा, धर्मिगता, प्रयोजनवती लक्षणा

तू शकटार बना है पापी नन्दवंश का जीवित काल। **नवीन**

यहाँ नन्दवंश में अत्याचारी तथा अविवेकी शासकवर्ग का और शकटार में गणेश शंकर विद्यार्थी का अध्यवसान है। दोनों में तात्कर्म्य सम्बन्ध होने से शुद्धा है। दोनों अपना अपना अर्थ छोड़कर लक्ष्यार्थ में लीन हो जाते हैं। इससे लक्षणलक्षणा है। प्रयोजन है शासकवर्ग को अनन्यसाधारण अत्याचारी और विद्यार्थीजी को अत्यन्तकष्टसहिष्णु होकर शत्रुओं का सामना करनेवाला बताना, जो धर्मा शासक और विद्यार्थीजी में हैं। इससे धर्मिगता और प्रयोजन केवल ऐतिहासिकगम्य होने से गूढ़ा, पदगता, प्रयोजनवती लक्षणा है।

———

सत्रहवीं किरण

लक्षणा का भिन्न रूप से विचार

पीयूषवर्षी जयदेवकृत चन्द्रालोक के आधार पर लक्षणा का यह विचार किया जाता है।

सारोपा लक्षणा और साध्यवसाना लक्षणा के तीन-तीन भेद होते हैं १—सिद्धा अर्थात् उद्देश्य में रहनेवाली, २—साध्या अर्थात् विधेय में रहनेवाली और ३—साध्याङ्गा अर्थात् विधेयान्वयि-वाचक पद में रहने वाली। जैसे—

१—इतना समझाया पर गधा कुछ नहीं समझता। इसमें गधा उद्देश्य है। २—आप ही माँ-बाप हैं। इसमें माँ-बाप विधेय है। ३—गंगा में गाँव है। गाँव विधेय है। इससे सम्बन्ध रखनेवाले गंगा शब्द में लक्षणा की जाती है, और तट का बोध होता है। यहाँ साध्याङ्ग से सम्बन्ध है। ऐसे ही अन्य उदाहरण समझ लें।

स्फुट तथा अस्फुट प्रयोजनवती अर्थात् अगूढ़व्यंग्या तथा गूढ़-व्यंग्या लक्षणा के दो भेद होते हैं—१ तटस्थगता और २ अर्थगता।

लक्ष्यार्थ और लक्षक पदार्थ से भिन्न स्थान में जो प्रयोजन होता है वह तटस्थगता लक्षणा होती है।

स्फुटव्यंग्या, तटस्थगता, प्रयोजनवती लक्षणा।

'प्राचीमुख चूमत, लखो, यह सुधांशु है रक्त।'

इसमें किसी नायक-नायिका के वृत्तान्त की प्रतीति कराना प्रयोजन है और इसीके लिये 'मुख चूमत' का लाक्षणिक प्रयोग है। 'पूर्व दिशा के अग्रभाग पर चन्द्रबिम्ब आया है', यही लक्ष्यार्थ है। 'मुख चूमत' यह लक्षक पद है। इन लक्ष्यार्थ और लक्षक पद से अन्य नायक के कार्य की प्रतीति कराना है जो एक तीसरा पदार्थ है। इससे यहाँ प्रयोजन तटस्थगत है। यहाँ अन्य पुरुष का ज्ञान व्यञ्जना से होता है।

अस्फुटव्यंग्या, तटस्थगता प्रयोजनवती लक्षणा।

'मुख में विकस्यो मुसकान'

विकास फूल में होता है, अर्थात् फूल खिलता है। मुस्कान नहीं खिल सकता। अतः यहाँ लक्षणा से अधिक हास का बोध होता है। उसकी मनोहरता और सुगन्धि-विस्तार रूप प्रयोजन अस्पष्ट है। यह न तो लक्ष्यार्थ—अधिक हास में है और न तो विकसित रूप लक्षक

पदार्थ में, प्रत्युत मुख में रहता है। अतः तटस्थगत है। यहाँ का प्रयोजन गूढ़ है।

अर्थगता स्फुटप्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद होते हैं—१ लक्ष्यार्थ-निष्ठ—अर्थात् लक्षक अर्थ में रहनेवाला प्रयोजन और २ लक्षक-पदार्थ-निष्ठ अर्थात् लक्षक पदार्थों में रहनेवाले प्रयोजन। जैसे—

१—'चन्द्रमा ही मुख है।' यहाँ अर्थबाधा होनेपर चन्द्रमा पद से अभिन्न मुख की प्रतीति होना लक्ष्यार्थ है। चन्द्रमा-समान मुख का सुन्दर होना प्रयोजन है जो लक्ष्यार्थ मुख में वर्तमान है।

२—'मुख ही चन्द्रमा है', इसमें अर्थबाध से मुखरूपी चन्द्रमा का ज्ञान होता है। यहाँ मुख पद लक्षक है। इसीमें सुन्दरता की प्रतीति होती है।

भिन्न रूप से लक्षणा के और भी चार भेद होते हैं।

१ लक्षकनिष्ठा स्फुटप्रयोजनवती लक्षणा। जैसे—

'उसका मुख ही चन्द्रमा है' यहाँ मुखपद चन्द्रमा का लक्षक है। मुख को सुन्दर प्रतीत कराना प्रयोजन है। यह प्रयोजन स्फुट है और लाक्षणिक पद मुख में वर्तमान है।

२ तटस्थनिष्ठा स्फुटप्रयोजनवती लक्षणा। जैसे—

'दिया बढ़ाओ' 'दुकान बढ़ाओ' आदि।

यहाँ बुझाओ और समेटो लक्ष्यार्थ हैं। अमंगल का परिहार-रूप प्रयोजन वक्ता और श्रोता को अपेक्षित है। यह न तो लक्ष्य अर्थ और न तो लक्षक शब्द में ही है। यह एक तीसरे में है। अतएव तटस्थ है।

३ लक्ष्यस्था स्फुटप्रयोजनवती लक्षणा। जैसे—

'सुभाषित अमृत है।' यहाँ अमृत पद से सुभाषित का अर्थात् सूक्ति-पूर्ण कविता का सरस तथा मधुर होना लक्षित होता है। अत्यन्त रमणीय बताना प्रयोजन है। अमृत पद लक्षक है और काव्य लक्ष्यार्थ। उक्त प्रयोजन लक्ष्यार्थ काव्य में है।

४ अस्फुटप्रयोजनवती लक्षणा। जैसे—

'यह कपड़ा जला हुआ है।' इसका लक्ष्यार्थ है कि इस कपड़े का कुछ अंश जला हुआ है। 'काम के लायक नहीं' यही बताना प्रयोजन है जो कि सर्वसाधारण को सुबोध न होने से अस्पष्ट है। 'एक भाग जला हुआ कपड़ा' यह लक्षक है और प्रयोजन इसी लक्षक में वर्तमान है।

लक्ष्य और लक्षक में विशेषण लगा देने से उक्त सिद्धा और साध्या

के दो भेद होते हैं—१ विशेषणवती सिद्धा और २ विशेषणाती साध्या। जैसे—

१—'सरस काव्य ही अमृत है'। इसमें लक्ष्य काव्य पद के साथ सरस विशेषण है। तात्कर्म्य सम्बन्ध द्वारा अमृत पद से काव्य की आनन्द-दायकता प्रतीत होती है। यहाँ विशिष्ट लक्ष्य है।

२—विशेषणवती साध्या। जैसे—'विद्या चिर-स्थायी धन है'। यहाँ धन साध्य—विधेय है। इसीका विशेषण 'चिरस्थायी' है। तात्कर्म्य सम्बन्ध से विद्या का सुखदायक होना लक्षित होता है। विद्या को धन से उत्तम बताना प्रयोजन है। विधेय में विशेषण लगाने से विशेषणवती साध्या है।

मतान्तर से लक्षणा के और दो भेद होते हैं।

१—सहेतुलक्षणा और २–निर्हेतुलक्षणा। जैसे—

१ 'यह किशोर कमनीयत्ता से कामदेव ज्ञात होता है।' यहाँ कामदेव होने का हेतु 'कमनीयता' उक्त है।

२—'यह रमणी मूर्तिमती रति है'। यहाँ रति होने का हेतु उत्कृष्ट सौन्दर्य आदि उक्त नहीं है। अतः यहाँ निर्हेतुलक्षणा हुई।

पीयूष वर्ष जयदेव के मत से लक्षणा पद, पदार्थ, वाक्यार्थ, संख्या, कारक और लिङ्ग में भी होती है, जो अलङ्कारों के अंकुर का काम देती है। जैसे—

पद में—'आग ठंढी हो गयी।' इसमें आग से आग की लपट का बोध होता है।

पदार्थ में—'मुख चन्द्र है।' इसमें मुख पदार्थ से उसका चन्द्र सा सुन्दर होना अर्थ होता है।

वाक्यार्थ में—जो 'गुरु के उपदेश सुनते हैं वे अमृत पीते हैं।' इस वाक्य के अर्थ से सुख-लाभ रूप अर्थ लक्षित होता है।

संख्या में—वे सत्याग्रही हैं।' यहाँ बहुवचन का प्रयोग पूज्य भाव का उत्पादक है। ऐसे ही आपके दर्शन हुए आदि वाक्य हैं।

कारक में—'तसला चढ़ा है।' यहाँ तसले में चावल चढ़ाने का अर्थ है।

लिङ्ग में—'हाथी' और 'हथिनी' दोनों को 'हाथी' ही कहते हैं। ऐसे ही 'बिल्ली', 'बिलार' या 'बिल्ले' सब को 'बिल्ली' ही कहते हैं। यहाँ लिङ्ग के सम्बन्ध लक्षणा ही काम करती है।

अट्ठारहवीं किरण

लक्षणा–वैचित्र्य

लक्षणा-वैचित्र्य का अभिप्राय लक्षणा के नूतन प्रयोगों से है जिन पर भारतीयता की छाप होने पर भी विदेशी प्रवृत्ति का प्रभाव विशेषत: लक्षित होता है। भाषा की स्वाभाविकता से हमारे प्रतिक्षण लक्षणा के प्रयोग करने पर भी उधर दृष्टि नहीं जाती। ये प्राय: मुहावरे के रूप में प्रतिदिन प्रयुक्त होते रहते हैं। जैसे, क्यों बात काटते हो?' बात ऐसी कोई वस्तु नहीं जो काटी जा सके। यहाँ से खंडन वा विरोध का अर्थ लिया जाता है। हम बराबर सुनते हैं 'चना चुरमुर बोले, बबुआ का मनवा डोले' पर गुनते नहीं कि लक्षणा ने कैसे बोलते हुए शब्दों में सूक्ष्म भाव को गोचर रूप देकर प्रत्यक्ष कर दिया है। चना बोलता नही। मन डोलता नहीं। खाने के समय चुरमुर शब्द होता है वही उसका बोलना है। उससे बच्चों के चित्त ललचा जाते हैं। वही मन का डोलना है। किन्तु, अब विशेप रूप से, पद्य ही में नहीं, गद्य में भी नाना भाँति से लक्षणा के प्रयोग किये जाने लगे है। हम कहते हैं 'भक्ति–भाव से वरदान लो'। इसमें कुछ प्रभाव डालना हुआ है तो कहते हैं 'वरदान सिर आंखों पर लो'। किन्तु लक्षणा के नूतन प्रयोग में इसका रूप दिनकर की पंक्ति में 'चूम कर प्रति रोम से सिर पर चढ़ा वरदान प्रभु का' हो जाने से इसकी प्रभविष्णुता बहुत बढ़ गयी है।

ऐसे लाक्षणिक प्रयोगों का कारण यह है कि लेखक वा कवि अपने भावों को उतनी स्पष्टता और तीव्रता से वाचक शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता जितनी कि लाक्षणिकता का आश्रय लेकर। लाक्षणिक प्रयोगों से भाव-विशेष वक्रता-पूर्ण व्यंजित होते हैं; उक्ति में वैचित्र्य और चमत्कार का समावेश हो जाता है और वस्तुओं के एक प्रकार के मूर्त प्रत्यक्षीकरण से परम आनन्द प्राप्त होता है। यह लाक्षणिकता वर्तमान समय की सब से बड़ी विशेषता है। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

चारु चन्द्र की चंचल किरणे खेल रही हैं जल-थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बर-तल में।
पुलक प्रगट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से,
मानो झूम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोकों से॥ पंचवटी

किरणों का खेलना, चाँदनी का बिछना, धरती का पुलक प्रकट करना, तरुओं का झूमना ऐसे प्रयोग हैं जो हमारे समक्ष एक दृश्य सा खड़ा कर देते हैं। वह वाचक शब्दों के परे की बात है।

'रब्बी ने खेतों में सुनहला फर्श बिछा दिया था और खलिहानो में सुनहले महल उठा दिये थे। सन्तोष इस सुनहले फर्श पर इठलाता फिरता था और निश्चिन्तता इस सुनहले महल में ताने अलाप रही थी। **प्रेमचन्द**

सुनहला फर्श बिछाने, महल उठाने, सन्तोष के इठलाने और निश्चिन्तता के तानें अलापने से जो भाव व्यंजित होता है वह साधारण वाचक शब्दों द्वारा नहीं हो सकता।

'बस गयी एक बस्ती है स्मृतियों की इसी हृदय में।
नक्षत्र लोक फैला है जैसे इस नील निलय में॥' **प्रसाद**

स्मृतियों की बस्ती बसने की जगह पर बहुत सी स्मृतियाँ हैं, कहने से अगणित नक्षत्रों की भाँति असंख्य स्मृतियों के जागरूक रहने का भाव कभी व्यंजित हो सकता था? यह अनुभव-गम्य ही है।

लाक्षणिक प्रयोगों से अमूर्त का मूर्त-विधान

काव्य में जब सूक्ष्म भावों को विशेष रूप से व्यक्त करना होता है, उनकी गम्भीर व्यंजना अभीष्ट होती है तब उनका मूर्त-विधान किया जाता है—उन्हें गोचर बना दिया जाता है। इस मूर्त-विधान से अन्तःकरण के सूक्ष्म भाव साकार से हो उठते हैं और उनका प्रभाव विशेष पड़ता है। उससे वे हमारे हृदय-चक्षु के समक्ष प्रत्यक्ष से हो जाते हैं। ऐसी जगह प्रयोजनवती लक्षणा काम देती है। जैसे—

इस करुणा कलित हृदय में क्यो विकल रागिनी बजती।
क्यो हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती॥ **प्रसाद**

करुणा-कलित हृदय में क्यों तड़पन की रागिनी बजती है? अब उसमें वेदना का ही क्यों हाहाकार सुनायी पड़ता है? हृततन्त्री के झनझना उठने से पीड़ा का बाँध टूट पड़ने ही की विशेष सम्भावना होती है। असीम वेदना का गरजना मर्मस्पर्शी लाक्षणिक मूर्तिमत्ता है।

"जिसके आगे पुलकित हो जीवन है सिसकी भरता।
हाँ मृत्यु नृत्य करती है, मुसकाती खड़ी अमरता॥
वह मेरे प्रेम विहसते, जागो मेरे मधुवन में।
फिर मधुर भावनाओं का कलरव हो इस जीवन में॥' **प्रसाद**

जीवन का सिसकी भरना, मृत्यु का नाचना, अमरता का मुसकाना, प्रेम का विहँसना, भावनाओं का कलरव होना मार्मिक लाक्षणिक मूर्तिमत्ता है। जब प्रेमी प्रेमपरायण हो विकल बन जाता है तब उसे मृत्यु की भी चिन्ता नहीं, क्योंकि वह मर कर भी अमर हो जाता है। जब कि हँसता हुआ प्रेम जाग उठता है तब क्या नहीं होता! जीवन यथार्थ जीवन हो उठता है। अंतरंग में मधुर भावनाओं का उन्मेष हो जाता है। इन मूर्त-विधानों से सूक्ष्म भावों का मूर्त प्रत्यक्षीकरण हो जाता है।

"हिला हिला निज मृदुल अधर कहते कुछ तरुदल मरमर।
अंधकार का अलसित अञ्चल अब द्रुत ओढ़ेगा संसार॥
+ + +
मारुत ने जिसकी अलकों में चंचल चुम्बन उलझाया।
+ + +
विस्तृत मरु-थल के उस पार जहां स्वप्न सजते शृङ्गार॥
+ + +
मानस-शय्या पर मेरी इन वाञ्छाओं को सोने दो।
अपना अंचल निज स्वप्नों से भरने दे मां भरने दे॥ **पंत**

वृक्षों का अधर हिलाकर कुछ कहने, संसार के अन्धकार का अंचल ओढ़ने, अलकों में चुम्बन उलझाने, स्वप्नों के शृंगार सजने, वांछाओं के मानस-शय्या पर सोने आदि के द्वारा हिलते डुलते पत्रों से मरमर शब्द होने, अंधकार के फैलने, हवा से अलकों के मन्द मन्द हिलने, सुन्दर मनोवांछा करने, इच्छाओं के मन में विलीन होने आदि की अति कमनीय कोमल भावनायें की गयी हैं। इनमें लाक्षणिक प्रयोगों से सूक्ष्म भावनायें मूर्त होकर प्रत्यक्ष सी हो गयी हैं।

"अंचल हिमगिरि के हृदय में आज चाहे कंप हो ले,
या प्रलय के आंसुओं में मौन अलसित व्योम रो ले।
आज पी आलोक को डोले तिमिर की घोर छाया,
जाग या विद्युत शिखाओं में निठुर तूफान बोले,
पर तुम्हें है नाशपथ पर चिन्ह अपने छोड़ आना।" **महादेवी**

पहली पंक्ति से असंभव के संभव होने, दूसरी पंक्ति से प्रलय का दृश्य उपस्थित होने, तीसरी पंक्ति से अन्धकार का साम्राज्य होने और चौथी पंक्ति से हो-हल्ले के तूफान मचने के भावों को लाक्षणिकता से मूर्त रूप दिया गया है, जिससे उनकी अभिव्यंजना बड़ी प्रभावशालिनी हो गयी है।

लाक्षणिक प्रयोगों से मूर्त का अमूर्त-विधान

अमूर्त के मूर्त-विधान में ही लक्षणा के सफल प्रयोग नहीं हो रहे हैं बल्कि प्रस्तुत मूर्त के अप्रस्तुत अमूर्त-विधान में भी। वस्तु का सजीव वर्णन करने के लिये और सादृश्य तथा भाव को तीव्र करने के लिये प्रभावसाम्य का आश्रय लेकर अप्रस्तुत योजना की जाती है। मूर्त को अमूर्त बनाने में वही मनोवृत्ति काम करती है। पाठकों को विचारमग्न करने के लिये मूर्त वस्तु को हटा कर किसी गुण को लेकर उसकी भावात्मक सत्ता की प्रतिष्ठा की जाती है। इसमें भी लक्षणा का हाथ रहता है।

"दीनता के ही विकंपित पात्र में, दान बढ़ कर छलकता है प्रीति से।" **पंत**

यहाँ प्रस्तुत वा मूर्त दीन के लिये अमूर्त वा अप्रस्तुत दीनता का विधान है। दीन के हाथ का पात्र कंपित होता है, न कि दीनता के। प्रीति पूर्वक दिया हुआ दान छलक उठता ही है। पात्र की परिपूर्णता की क्या बात ! या यों कहिये कि कपित पात्र से दान का छलक पड़ना स्वाभाविक है। काँपते हुए दीन को दान मिलने से उसके आनन्दित होने की कैसी स्वाभाविक अभिव्यंजना है। दीन तो दीनता की प्रतिमूर्ति होता ही है। दीन के लिये दीनता का प्रयोग पाठकों की मनोवृत्ति को गंभीर बना देता है और उसमें दीनता ही दीनता भर जाती है। यहाँ दीनता मूर्त्तिमती होकर अपनी प्रधानता प्रगट कर रही है। दीनता के पात्र में कहने से जैसे यहाँ मानवीकरण है वैसे ही विकम्पित दीन के स्थान पर विकम्पित पात्र कहने से विशेषण-या विशेषणव्यत्यय भी है। यहाँ पात्र का श्लेष भी कमाल का है !

पाश्चात्य साहित्य में मानवीकरण एक प्रधान अलंकार माना जाता है। अमूर्त के मूर्त-विधान, विशेषण-विपर्यय आदि के उदाहरणों में प्रायः मानवीकरण अलंकार पाया जाता है। मानवीकरण से काव्य में नाटकीय प्रभाव बढ़ता है और उसकी व्यंजना-शक्ति और प्रभावशालिता बढ़ जाती है।

अल्पता की संकुचित आंखें सदा, उमड़ती हैं अल्प भी अपनाव से। **पंत**

हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों ? **प्रसाद**

सर्वथा परिपूर्ण व्यक्ति अत्यन्त समानुभूति दिखलाने पर भी उतना प्रसन्न नहीं होता जितना कि एक अभावग्रस्त व्यक्ति सामान्य सुमानुभूति से गद्गद हो उठता है। उस श्रम के पास आँसू के अतिरिक्त रहना ही क्या है कि वह उसके प्रतिदान में दे ! यहाँ अल्पता का

विधान अभावग्रस्त—क्षुद्र—साधारण व्यक्ति के लिये किया गया है। असम्पन्न व्यक्ति की आँखें सदा संकुचित तो होंगी ही और थोड़ी सी आत्मीयता से उसका उमड़ पड़ना—अश्रु-विगलित होना स्वाभाविक ही है। यहाँ अल्पता के प्रयोग से तुच्छ मनुष्य की अल्पता की ओर विशेषतः आकर्षित करना ही कवि को अभीष्ट है।

कालिदास ने कुछ ऐसा ही कहा है "स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृत-द्वारमिवोपजायते"। स्वजन वा समानुभूति-प्रदर्शक व्यक्ति के सम्मुख दुःख साधारण रूप में उपस्थित नहीं होता। ऐसा मालूम होता है जैसे दुःख का फाटक ही खुल गया है।

दूसरी पंक्ति में सौन्दर्य का प्रयोग सुन्दर व्यक्ति के लिये किया गया है। सुन्दर व्यक्ति की सुन्दरता को यहाँ इतनी प्रधानता दे दी गयी है कि सुन्दर दृष्टि से दूर ही गया और सुन्दरता ने अपनी गोचर प्रतिष्ठा करा ली। इससे समष्टि-सौन्दर्य की ओर संकेत है।

लक्षणा और पाश्चात्य अलङ्कार

लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा आधुनिक कविता में विशेषण-व्यत्यय आदि अलंकारों की भी सुन्दर योजना की जा रही है। ऐसी जगह प्रायः साध्यवसाना लक्षणा काम देती है। विशेषण व्यत्यय का उदाहरण लें—

आह! यह मेरा गान।

कल्पना में है कसकती वेदना अश्रु में जीता सिसकता गान है। 'पंत'

इनमें गान का विशेषण 'गीला' और 'सिसकता' है। पर गान न तो गीला होता है न सिसकता हुआ। किन्तु ये विशेषण आँसू बहाते और सिसकते हुए मनुष्य के हैं और उसी के दृश्य उपस्थित करते हैं।

यह 'गीला' ज्ञात होता है, जगत् को ही गीला करके छोड़ेगा। इस गीले' पर छायावादी कवियों की गहरी छाप है। दो चार उदाहरण लें—

मेरी वीणा गीली गीली, आज हो रही ढीली ढीली। 'मै० श० गुप्त'
धधक एक जिसकी इस गीले यौवन को ज्वालामय कर दे। 'द्विज'
दृग में गीला सुख विहँस उठा शबनम मेरी रंगीन हुई। 'दिनकर'
चू पड़ते इनकी छवि पर नभ के भी गीले प्राण यहाँ। 'केसरी'
बिजली की चमचमा पर चढ़ गीले मोती भू चूम उठे। 'भा० आत्मा'

कविवर 'निराला' के निराले विशेषण-व्यत्यय के उदाहरण लें—

बता कहाँ अब वह वंशीवट कहाँ गये नटनागर श्याम।
चल चरणों का व्याकुल पनघट कहाँ आज वह वृन्दा-धाम। 'निराला'

पनघट व्याकुल नहीं था। जड़ में चेतन का भावावेश कभी संभव नहीं। पनघट से लक्षण-लक्षणा द्वारा पनघट पर की चंचल ब्रजबालाओं की व्याकुलता का भाव लिया गया है। यहाँ विशेषण-व्यत्यय से भावना के आधिक्य की व्यञ्जना हुई है। इससे काव्य की मार्मिकता बहुत बढ़ गयी है।

किस विनोद की तृषित गोद में आज पोंछती वे दृगनीर।
कहाँ छलकते अब वैसे ही ब्रज-नागरियों के गागर। 'निराला'

यहाँ अगोचर विनोद का मोद के संबन्ध से मूर्त-विधान किया गया है। तृपित गोद से लक्षणा द्वारा किसी तृषित व्यक्ति का ही तात्पर्य अभिप्रेत है। तृषित गोद में दृगनीर पोंछना बड़ा ही स्वाभाविक है। यहाँ गोचर रूप की प्रतिष्ठा से तथा तृपित व्यक्ति के विशेषण-व्यत्यय और मूर्तविधान दोनों ही स्पष्ट हैं।

ऐसे ही पतंजी के मूक व्यथा का मुखर भुलाव में व्यथित व्यक्ति ही मूक है, व्यथा नहीं। ऐसे ही भूलनेवाला ही व्यक्ति मुखर है, भुलाव नहीं। साथ ही मूक और मुखर विशेषण अमूर्त व्यथा और भुलाव को मूर्तिमान बनाकर उनकी प्रभविष्णुता को बढ़ा देते हैं।

पद्य ही में नहीं, गद्य में भी इस विशेषण-व्यत्यय के प्रयोग देखने में आते हैं। 'सिन्दूर की होली' की भूमिका में डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी लिखते हैं--साहित्य एवं समाज की स्वतन्त्रता और नैसर्गिता की नीव पर रचना करना ही आधुनिक शिक्षित प्रयास का लक्षण है। प्रयास शिक्षित नहीं होता। यहाँ शिक्षित प्रयास से शिक्षितों का प्रयास ही अभीष्ट है।

लक्षणा और प्रतीक (धर्म के लिये धर्मी का प्रयोग)

वर्तमान कविता में लाक्षणिकता के बल पर ऐसे उपमानों के प्रयोग हो रहे हैं जो पूर्णतः गुणसाम्य न होने पर भी प्रतीक का काम देते हैं। इन में धर्म के स्थान पर धर्मी के प्रयोग से लाक्षणिक चमत्कार के कारण काव्य का सौन्दर्य बढ़ जाता है। ऐसे प्रयोगों में यह लक्ष्य रखना आवश्यक है कि जिस धर्म या जिस गुण के लिये जिस वस्तु वा प्रतीक का उल्लेख किया जाय वह उसी धर्म वा गुण के लिये प्रसिद्ध हो। ऐसा न होने से न तो गुण-धर्म की विशेषता ही प्रगट होगी और न काव्य ही चमत्कृत होगा। धर्म के लिये धर्मी का प्रयोग सहज नहीं। उसमें जितनी मार्मिकता से काम लिया जायगा

उतना ही उसका सफल प्रयोग समझा जायगा। एक साधारण सा उदाहरण लें—काया माया बादल-छाया। बादल की छाया क्षणभंगुर होती है। शरीर और संपत्ति भी उसी तरह क्षणस्थायी हैं। यहाँ 'काया माया' के लिये 'बादल-छाया' का प्रतीक 'तुक पर तुक' है और इसका लाक्षणिक चमत्कार अनुपम है।

विकसित सरजिस-वन-वैभव मधु-ऊषा के अंचल में।
उपहास करावे अपना जो हँसी देख ले पल में॥ **प्रसाद**

इस कविता में 'हँसी' के लिये वासन्तिक प्रातःकाल में विकसित कमल को प्रतीक बनाया गया है। बल्कि इस प्रतीक को खड़ा करके भी कवि ने हास की विशेषता दिखलाने के लिये उसका उपहास कराया है।

उषा का था उर में आवास मुकुल का मुख में मृदुल विकास।
चांदनी का स्वभाव में भास विचारों में बच्चों की सांस। **'पंत'**

पहला चरण हृदय में हर्षातिरेकके लिये, दूसरा सुन्दर स्मित के लिये, तीसरा स्वभाव की निश्छलता के लिये और चौथा विचारों की सरलता के लिये आया है। इनमें गुण या धर्म का उल्लेख न करके वस्तुओं का ही उल्लेख कर दिया गया है जो तत्तुल्य गुण वा धर्म के आधार पर होने के कारण लाक्षणिक प्रतीक के काम करते हैं। यहाँ यह कहना अनावश्यक है कि ऐसे प्रतीकों के लिये बड़ी कष्ट-कल्पना करनी पड़ती है।

शिशु का हृदय देव-आवास, हास चन्द्रिका-चारु-विलास।
श्रुति में मधु टपकाते बोल, इसका होवे कैसे मोल॥ **राम**

बच्चों का हृदय निर्विकार होता है, यह न कहकर देव-आवास कह दिया। क्योंकि छल-प्रपंच की जगह देवभाव का होना असंभव है। हास निर्मल होता है, इसके लिये चारु चन्द्रिका का विलास बता दिया जैसी आह्लादकता चारु-चन्द्रिका में होती है वैसी ही शिशु के हास में भी वह वर्तमान रहती है। मधुर वचन के लिये श्रुति में मधु टपकाने का उल्लेख कर दिया। क्योंकि शिशु के सरल अनमोल बोल श्रवणसुखद होते ही हैं। कर्णेन्द्रिय को इसी में माधुर्य का बोध होता है। इनमें धर्म के स्थान में धर्मी का प्रयोग करके लाक्षणिक प्रतीक का चमत्कार दिखलाया गया है।

नहीं हिमालय यह तो शिव का अट्टहास है पुञ्जीभूत। **अनुवाद**

हास्य का रंग श्वेत वर्णित है। हिमालय भी श्वेत है। विशाल हिमालय हिमालय नहीं, वह तो शिव का पुंजीभूत अट्टहास है। एक

तो शिव का हास, वह भी अट्टहास, वह भी पुंजीभूत। उत्कर्ष का भी कोई अंत है! इस वर्णन से हिमालय की विशालता और विशदता प्रत्यक्ष है। हिमालय के लिये यह लाक्षणिक प्रतीक अवर्णनीय है। अलंकार ने हिमालय की जगह अट्टहास को दे दी है।

लक्षणा और प्रतीक (धर्मी के लिये धर्म का प्रयोग)

धर्म के लिये धर्मी के प्रयोग में जो मनोवृत्ति काम करती है वही धर्मी के लिये धर्म के प्रयोग में भी। मूर्त के सूक्ष्म विधान के लिये ही ऐसे प्रयोग किये जाते हैं। यहाँ भी लक्षणा ही अपना प्रभाव दिखाती है। जैसे—

बंद हुए हैं आज जेल में पुण्य हमारे पर्व।
सत्य, अहिंसा, देशभक्ति, औ भारत गौरव, गर्व॥ **राम**

सहसा सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं और गान्य नेताओं के नजरबंद होने पर यह उक्ति है। यहाँ सत्यवादी, अहिंसक, देशभक्त, ववित्र पर्वसमान, गौरवशाली, गर्वस्वरूप धर्मियों के लिये सत्य, अहिंसा, आदि मर्म ही का प्रयोग किया गया है।

जो चाहो सो दण्ड दो, मैं तो हूँ अपराध।

यहाँ अपने को अपराधी न कहकर अपराधस्वरूप ही मान लिया है। इस अपराध के प्रयोग से अनन्त अपराध का अपराधी मानकर सब प्रकार के दण्ड भोगने के लिये अपराधी अपने को उपयुक्त समझता है।

लक्षणा की दुरूहता वा लक्षणा पर लक्षणा

लक्षणा के तथ्य वहीं तक समझ में आ सकते हैं जहाँ तक उसकी गति हो, धर्म-बोध हो। उससे अधिक की विवृति से उसमें दुरूहता आ जाती है और लक्षणा पर लक्षणा करनी पड़ती है। इससे लक्षणा का स्वास्थ्य ही मिट जाता है। वह अगम सी हो जाती है। जैसे—

गूढ़ कल्पना सी कवियों की अज्ञाता के विस्मय सी।
ऋषियों के गंभीर हृदय सी बच्चों के तुतले भय सी॥ **पंतय**

इसके अंतिम चरण का दुहरी लक्षणा से प्रकृत अर्थ 'तुतली बोली में व्यक्त किये हुए बच्चे के भय के तुल्य है' तभी होगा जब कि 'भय' का लक्ष्य अर्थ 'भय का कारण' और 'तुतले भय' का लक्ष्यार्थ 'तुतली बोली में व्यंजित भय' न किया जायगा। यहाँ विशेषण-व्यत्यय से 'तुतला' उस भाषा का विशेषण है जिसमें भय प्रगट किया गया है।

ऐसा ही एक पद्यार्ध है—

अभिलाषाओं की करवट फिर सुप्त व्यथा का जगना—**प्रसाद**

सुप्त व्यथाओं के जगने के समान अभिलाषाओं के जगने तक तो हम लक्ष्यार्थ को बोधगम्य बना सकते हैं और गुप्तजी की पंक्ति "कैसी हिलती-डुलती अभिलाषा है, कली तुम्हें खिलने की" में लक्ष्यार्थ से अभिलाषा के उठने तक का अभिप्राय समझ ले सकते हैं। किन्तु 'अभिलाषा का करवट बदलना' तो अत्यन्त दुरूह है। यह तो एक प्रकार की लक्षणा पर लक्षणा है। क्योंकि जगना तो एक लक्षणा है ही और दूसरी लक्षणा है करवट बदलना जो जगने का पूर्वलक्षण है। चाहिये यह कि प्रत्येक भाव की अभिव्यक्ति के लिये मनोवैज्ञानिक तत्त्व की उपेक्षा न की जाय। ऐसी जटिल लक्षणा से कविता का दुर्बोध होना स्वाभाविक है। छायावादी कविता की कठिनता के कुछ ऐसे ही कारण हैं।

लक्षणाकी अस्वाभाविकता

लक्षणा के प्रयोग करने में जनसमाज की अनुभूति और विचार परंपरा का जितना ध्यान रक्खा जायगा उतना ही मार्मिक, बोधगम्य और उपयुक्त लक्षणा का प्रयोग होगा। ऐसा न होने से भाषा और भाव की दुरूहता बढ़ जाती है और काव्य-ध्वनि में कुछ भी सहायता प्राप्त नहीं होती। ऐसे बेढगे लाक्षणिक प्रयोग उपहासास्पद ही होते हैं। जैसे—

कवि की भविष्य कविता लेकर धू धू जलती मैं बार बार।
रो रो मरती छविमयी प्रकृति, है केवल हाहाकार प्यार।
संसार देखता है इकटक
हँसती हैं लाल लाल लपटें हँसता शरीर हँसता नाटक ॥ गुलाब

इसके लाक्षणिक प्रयोग असम्बद्ध प्रलाप से लगते हैं। अर्थ का तो कोई ठिकाना ही नहीं। लक्षणा के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की उक्ति है—

"खड़ी बोली की कविताओं में उपमा, रूपक आदि के ढाँचे तो रहते थे पर लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और भाषा की विमुक्त स्वच्छन्द गति नहीं दिखायी पड़ती थी। अभिव्यंजनावाद के कारण योरप के काव्यक्षेत्र की उत्पन्न वक्रोक्ति या वैचित्र्य की प्रवृत्ति, जो हिन्दी के वर्तमान काव्यक्षेत्र में आयी उससे खड़ी बोली को कविता की व्यंजनाप्रणाली में बहुत कुछ सजीवता तथा स्वच्छन्दता आयी। लक्षणाओं के अधिक प्रचार से काव्य-भाषा की व्यंजकता अवश्य बढ़ रही है।"

सुंदर सुंदर भावमूलक लक्षणा के प्रयोगों से भाषा की रंगीनी और अमीरी बढ़ती है तथा साहित्य वैभवशाली होता है।

तृतीय प्रसार

व्यञ्जना



पहली किरण

व्यञ्जक शब्द और व्यञ्जना शक्ति

व्यञ्जक शब्द

व्यञ्जक शब्द 'वि' उपसर्गक 'अञ्जू' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है—स्पष्ट करना, प्रगट करना, व्यक्त करना, खोल कर कहना, दिखाना आदि। इसीसे [1]व्यञ्जक शब्द अभिनय का भी वाचक है। यहाँ सूचित करने का अर्थ है।

जो शब्द वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न अन्य अर्थ का बोध कराता है उसे व्यञ्जक शब्द कहते हैं। जैसे,

मैं हूँ पतित पतिततारन तुम।

इसका वाच्यार्थ है—मैं पतित—पापी—अधम हूँ और तुम पतितों पापियों—अधमों को तारने—उद्धार करने वाले हो। इस अर्थ के अतिरिक्त एक यह और अर्थ भी निकलता है कि 'जब तुम पतितों के उद्धारक हो तब मुझ पतित का भी उद्धार करोगे ही'। यहाँ इस अर्थ का बोध कराने वाला 'पतिततारन' शब्द है। इससे यह शब्द व्यञ्जक हुआ और इससे निकला हुआ अर्थ व्यङ्ग्य वा व्यङ्ग्यार्थ।

व्यञ्जना

जिस धातु से व्यञ्जक शब्द बना है उसी धातु से प्रत्यय-भेद करके 'व्यञ्जना' शब्द भी बना है। इसमें 'वि' और 'अञ्जन' दो शब्द हैं। सामान्य 'अञ्जन' आँख की ज्योति को विकसित करता है और यह

---

१ व्यञ्जकाभिनयौ समौ। अमर

विशेष प्रकार का अञ्जन होने के कारण अप्रकट अर्थ को भी प्रकट करता है। शब्द-शक्ति का वाचक होने से इसका स्त्रीलिङ्ग रूप 'व्यञ्जना' है।

अभिधा और लक्षणा के अपना अपना अर्थ बोध कराके विरत—शान्त हो जाने के बाद जिस शक्ति द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है उसे व्यञ्जना कहते हैं।

[1]शब्द का एक ही बार व्यापार हो सकता है। अर्थात् एक बार का उच्चारित शब्द एक बार ही अपना अर्थबोध करा सकता है, बार बार नहीं।

ऐसे ही बुद्धि का भी एक ही बार व्यापार हो सकता है। बुद्धि या ज्ञान एक बार उत्पन्न होकर जब समाप्त हो जाता है तब बिना किसी उपाय के अपने ही से दुबारा नहीं होता।

इसी प्रकार कर्म या क्रिया भी उत्पादक के द्वारा उत्पन्न होकर जब समाप्त हो जाती है तो फिर अपने ही से उसकी आवृत्ति नहीं हुआ करती। ये शब्द, बुद्धि और कर्म तीनों ही नियत क्षणस्थायी हैं—उत्पन्न होकर नियत काल ही तक रह सकते हैं।

अतः जब अभिधा शक्ति अपना अभिधेय वा वाच्यार्थ प्रकट करके हट जाती है, लक्षणा शक्ति अपना लक्ष्यार्थ प्रकट करके विरत हो जाती है तब 'शब्द, बुद्धि (ज्ञान) और कर्म (क्रिया) में विराम के बाद फिर व्यापार नहीं होता। इस न्याय से अन्यार्थ बोध कराने की शक्ति अभिधा या लक्षणा में नहीं रहती।

पुनः इन अर्थों के अतिरिक्त जो अन्य अर्थ बोधित होता है उसके बोध के लिये दूसरी शक्ति अपेक्षित होती है। वह शक्ति व्यञ्जना नाम की है। एक उदाहरण से स्पष्ट कर लें—

'गङ्गा में गाँव है' इस वाक्य में अभिधा शक्ति द्वारा उत्पन्न वाच्यार्थ से जब अन्वय-बोध नहीं होता तब इस स्थल पर लक्षणा शक्ति आकर तटरूप लक्ष्यार्थ लक्षित करती है जिससे वाक्यार्थ संगत होता है।

१ शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः।

लक्षणा द्वारा लक्ष्यार्थ के बोध होने के अनन्तर भी इसका एक और अर्थ सूचित होता है—'गाँव के शीतल और पावन होने की अधिकता।' अन्यथा 'गंगा के किनारे गाँव है' यही कहना पर्याप्त होता। इस अर्थ को सूचित करना लक्षणा शक्ति का काम नहीं। क्योंकि यह अपना तटरूप अर्थ बोधित करके विरत हो चुकी है। यह व्यंजना शक्ति का काम है जिससे यह व्यंग्य अर्थ प्रतीत होता है। एक और उदाहरण लें—

किसीने किसीको देखकर कहा कि—

मीत तिहारे बदन पै, सठता अति दरसात।

जिसको यह कहा गया उसने छूटते ही उत्तर दिया—

मेरो मुख दरपन भयो, अब जानी यह बात॥

अभिधा शक्ति से इसका जो स्पष्ट वाच्यार्थ होता है, उससे कोई अर्थ साफ नहीं होता और इसमें अर्थबाधा भी आ खड़ी होती है। क्योंकि, शठता दीख पड़ने की चीज नहीं, मुँह दर्पण नहीं इत्यादि। इससे यहाँ लक्षणा द्वारा शठता के अवगुणों का मुँह पर लक्षित होना अर्थ लिया जाता है। 'मुँह हृदय का दर्पण है' अर्थात् हृदय की बातें मुँह पर झलकती हैं, इस विचार से यह लक्ष्यार्थ किया गया है। फिर, मुख दर्पण नहीं होता, किन्तु उस पर भावों के उत्थान-पतन, सुख-दुःख के चिह्न अवश्य दिखाई पड़ते हैं और आकृति से अनायास मालूम हो जाते हैं। मुख-दर्पण का यह लक्ष्यार्थ भी लक्षणा ही द्वारा होता है। इतने पर भी न तो वाच्यार्थ से और न लक्ष्यार्थ से अभिप्रेत अर्थ प्रकट हुआ। अब उस अर्थ के लिये ये दो शक्तियाँ अनुपयुक्त हो गयीं। अब तीसरी शक्ति को काम में लाना पड़ा, जिसे व्यंजना कहते हैं। इस शक्ति से उत्तरदाता का यह अभिप्राय व्यक्त हुआ कि 'मैं शठ नहीं, तुम शठ हो।' क्योंकि, जैसा बिम्ब रहता है वैसा ही प्रतिबिम्ब आईने में दिखाई देता है। इस व्यंग्यार्थ से दोहे की संगति भी हो गयी और अर्थ भी स्पष्ट हो गया।

इसी प्रकार जोड़-तोड़ कर पद्य-रचना करनेवाले को कवि होने का ढिंढोरा पीटते देखकर कहा जाय कि 'आप तो बड़े कवि हैं' तो इसका व्यंजना शक्ति से यही विपरीत अभिप्राय होगा कि आप कवि नहीं हैं। क्योंकि सच्चा कवि होने का यह गुण नहीं है।

जिस प्रकार अभिधा शक्ति से काम न चला तो लक्षणा शक्ति को मानना पड़ा, उसी प्रकार लक्षणा शक्ति से काम न चला तो तीसरी शक्ति व्यंजना का मानना अनिवार्य हुआ।

व्यंजन को ध्वनन, अवगमन, प्रत्यायन आदि भी कहते हैं। व्यंग्यार्थ के सूच्यार्थ, ध्वन्यार्थ, प्रतीयमानार्थ आदि भी नाम हैं। यह अर्थ न तो कथित या अभिहित होता है और न लक्षित ही। किन्तु यह व्यंजित, ध्वनित, सूचित, अवगत या प्रतीत होता है।

अभिधा और लक्षणा शब्द के व्यापार हैं। इससे शब्द केवल वाचक और लक्षक या लाक्षणिक होता है पर व्यंजना शब्द तथा अर्थ दोनों का व्यापार है। इससे शब्द तथा वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ सभी व्यंजक होते हैं। व्यंजना शब्द या अर्थ तक ही सीमित नहीं, किन्तु वह प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग, चेष्टा आदि में भी पायी जाती है।

[1]आचार्य मम्मट का कहना है कि व्यंग्य अर्थ को समझने के लिये प्रतिभा की विमलता, चतुर व्यक्तियों का साहचर्य और प्रकरण-ज्ञान आदि अत्यन्त आवश्यक हैं। इनके बिना व्यंग्यार्थ की यथार्थता समझ में नहीं आती। आचार्य [2]नागेश का कहना है कि वक्ता, श्रोता और वाच्यार्थ की विशेषता तथा प्रतिभा व्यंग्यार्थ-बोध के सहायक हैं।

दूसरी किरण

व्यञ्जना के भेद

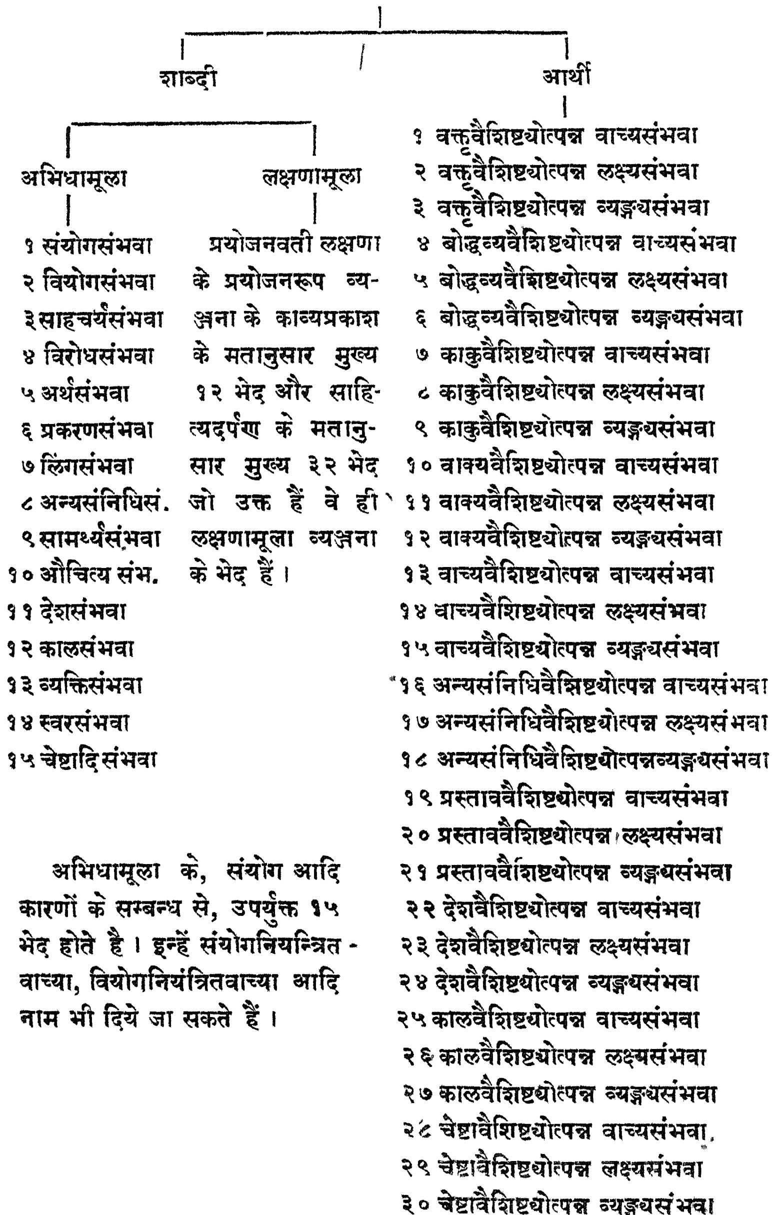
व्यञ्जना दो प्रकार की होती है—१ शाब्दी और २ आर्थी। फिर शाब्दी के दो भेद होते हैं—१ अभिधामूला और २ लक्षणामूला। अभिधामूला के भी १५ और लक्षणामूला के ३२ बत्तीस भेद होते हैं। आर्थी के मुख्य ३० तीस भेद होते हैं।

---

१ प्रज्ञा-नैर्मल्य-वैदग्ध्य-प्रस्तावादि-विधायुजः।
अभिधा-लक्षणा-योगी व्यङ्ग्योऽर्थः प्रथितो ध्वनेः॥ —शब्दव्यापारविचार

२ वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धः संस्कारविशेषो व्यञ्जना। मंजूषा

व्यञ्जना के भेदों का रेखाचित्र



अभिधामूला के, संयोग आदि कारणों के सम्बन्ध से, उपर्युक्त १५ भेद होते है। इन्हें संयोगनियन्त्रित-वाच्या, वियोगनियंत्रितवाच्या आदि नाम भी दिये जा सकते हैं।

तीसरी किरण

शाब्दी व्यञ्जना

कह आये हैं कि शाब्दी व्यञ्जना के दो भेद होते हैं—एक अभिधा-मूला और दूसरी लक्षणामूला।

अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना

संयोग आदि के द्वारा अनेकार्थ शब्द के प्रकृतोपयोगी एकार्थ के नियन्त्रित हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा अन्यार्थ का ज्ञान होता है वह अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना है।

सङ्केतग्रह के विवरण में कह आये हैं कि अनेकार्थक पदों के अर्थ का निश्चय वाक्यार्थ की संगति देखकर किया जाता है। जब संयोग आदि से अनेकार्थवाची शब्द का प्रसंगानुसार एक अर्थ नियन्त्रित—निर्णीत हो जाता है तब ऐसे शब्दों का वाच्यार्थ-बोध कराने वाली अभिधाशक्ति अन्यार्थ बोध कराने में कुण्ठित हो जाती है। अर्थात् अनेकार्थ शब्द के एक अर्थ को छोड़कर और अर्थ अवाच्य हो जाते हैं। इस दशा में अर्थात् अनेकार्थवाची शब्द के वाच्यार्थ का निर्णय हो जाने पर जिसके द्वारा निर्णीत वाच्यार्थ से भिन्न जिस किसी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है वह अभिधामूला व्यञ्जना द्वारा ही होती है। क्योंकि न तो यहाँ अभिधा ही काम कर सकती है और न लक्षणा ही। अभिधा की शक्ति रुकी हुई है और तीनों बातें न होने से लक्षणा हो ही नहीं सकती। अभिप्राय यह है कि अनेकार्थ शब्दों के नियन्त्रित अर्थ के अतिरिक्त अन्य अवाच्य अर्थ जिस शक्ति से प्रतीत होते हैं और चमत्कार उत्पन्न करते हैं वह व्यञ्जना शक्ति ही है। अभिधा का नियन्त्रण होने से ही इस व्यञ्जना को उपस्थित होने का अवसर मिलता है। यह व्यञ्जना अभिधा पर आश्रित होने के कारण अभिधामूला कही जाती है। यह व्यञ्जना शब्द-विशेष के स्थान पर उसका पर्याय रख देने से नहीं रह जाती। एक उदाहरण लें—

करि अबलन कौ श्रीहरण वारिवाह कै संग।
घर करती जहँ चञ्चला आयौ समै कुढंग॥ अनुवाद

यहाँ एक यह अर्थ होता है कि जिस समय बिजली अबलाओं की कान्ति चुरा कर मेघों के साथ रहा करती है वह समय अर्थात् बरसात, आ गया।

यहाँ एक और दूसरा यह अर्थ प्रतीत होता है कि जिस समय कुलटा निर्बलों की सम्पत्ति चूस कर जलवाहकों अर्थात् कहारों के साथ रहने लगी वह समय आ गया।

यहाँ 'अबलन', 'वारिवाह' और 'चञ्चला' इन तीन शब्दों के कारण अभिधाशक्ति द्वारा यह दूसरा अर्थ होता है। शब्दान्तर रख देने से यह व्यञ्जना नहीं रह जायगी।

मुखर मनोहर श्याम रँग बरसत मुद अनुरूप।
झूमत मतवारो झमकि बनमाली रसरूप॥ **प्राचीन**

यहाँ वनमाली शब्द मेघ और श्रीकृष्ण दोनों का बोधक है। इसमें एक अर्थ के साथ दूसरे अर्थ का भी बोध हो जाता है।

यहाँ श्लेष नहीं। क्योंकि रूढ़ वाच्यार्थ ही इसमें प्रधान है। अन्य अर्थ का आभास मात्र है। श्लेष में शब्द के दोनों अर्थ अभीष्ट होते हैं—समान रूप से उस पर कवि का ध्यान रहता है। विशेष विवेचन आगे देखिये।

अप्रासंगिक अर्थ की व्यञ्जना के स्थलों में अनेकार्थों की शक्ति रोकने के लिये अर्थात् शक्ति को प्रासंगिक अर्थ के प्रतिपादन में केन्द्रित करने के लिये प्राचीन विद्वानों ने जो संयोगादि कई प्रतिबंध नियत कर रखे हैं उनके लक्षण-उदाहरण दिये जाते हैं—

१ संयोग—

अनेकार्थ शब्द के किसी एक ही अर्थ के साथ प्रसिद्ध संबंध को संयोग कहते हैं। जैसे—

'परसुराम मन विस्मय भयऊ।'

यहाँ परशुराम का अर्थ परशुसहित राम है।

जिस वस्तु से जिसका संयोग स्थिर—निश्चित रहता है वह वस्तु-संयोग यदि उसका संयोगी अनेकार्थक रहे तो उसे अपने अनुकूल अर्थ में नियंत्रित कर देता है। यहाँ 'राम' शब्द का अर्थ 'रामचन्द्र' न हो कर 'परशुराम' ही होगा। क्योंकि, 'परशु' का संयोग उनके साथ स्थिर—निश्चित है। यहाँ परशु-संयोग ने सीतापति राम के

अर्थबोध में अभिधाशक्ति को कुंठित कर राम को परशुराम के अर्थ में नियंत्रित कर दिया है। ऐसा ही

शंख-चक्र-युत हरि कहे, होत विष्णु को ज्ञान ॥

भी उदाहरण है। 'हरि' के सूर्य, सिंह, बानर आदि अनेक अर्थ हैं किन्तु, शंख-चक्र-युत कहने से यहाँ विष्णु का ही ज्ञान होता है।

२ वियोग

जहाँ अनेकार्थवाचक शब्द के एक अर्थ का निश्चय किसी प्रसिद्ध वस्तु-संबंध के अभाव से होता है वहीं वियोग होता है। जैसे,

परशु रहित नहिं राम सुहाये।

जैसे, संयोग अर्थ-नियंत्रण का कारण होता है वैसे ही वियोग भी। जो व्यक्ति जिस वस्तु को नियमतः धारण करता है उसके त्याग का उल्लेख भी उसी व्यक्ति का परिचय कराता है। फलतः यहाँ भी राम का अर्थ परशुराम ही होगा। परशु-वियोग ने अन्यार्थ में बाधा डाल दी है। और—

नग सूनो बिन मूँदरी।

नग का अर्थ नगीना और पर्वत है। किन्तु, यहाँ मुँदरी होने से नगीना का ही अर्थ होगा। क्योंकि मुँदरी का वियोग इसी अर्थ को नियत करता है।

३ साहचर्य

जहाँ पर किसी सहचर—साथ रहनेवाले—की प्रसिद्ध सत्ता से अर्थ-निर्णय हो वहाँ साहचर्य होता है।

१ सीताराम सदा सुखदाई।

२ रामलखन सिय कानन बसहीं।

संबंधियों के साधारण कथन को साहचर्य कहते हैं। जिनका सहचर-भाव—साथ रहना लोक प्रसिद्ध है, उनके शब्दों में अगर अने-

---

* संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥—वाक्यपदीय

कार्थता भी हो तो वह सहचर के अर्थ में नियत हो जायगी। यहाँ राम के बलराम, परशुराम रामचन्द्र आदि अर्थ होते हुए भी सीता के साहचर्य से राम का अर्थ दशरथनंदन रामचन्द्र ही होगा।

बलि-बलि जाउँ कृष्ण बल भैया।

यहाँ 'बल' के अनेक अर्थ होते हुए भी कृष्ण के साहचर्य से बलराम का ही अर्थबोध होगा।

४ विरोध

जहाँ किसी प्रसिद्ध असंगति के कारण अर्थ-निर्णय होता है वहाँ विरोध होता है। जैसे,

राम रावण का युद्ध राम रावण समान है।

जिस प्रकार साहचर्य भाव से अर्थ का नियंत्रण होता है, उसी प्रकार विरोध-भाव से भी। यहाँ रावण-विरोधी रामचन्द्र का ही अर्थ होगा। ऐसे ही

कुंजर हरि सम लड़त निरंतर बंधु युगल रख भारी अंतर। राम

हाथी और सिंह का स्वाभाविक विरोध है। इससे हरि के अनेकार्थ होते हुए भी यहाँ पर हरि का सिंह ही अर्थ होगा। ऐसे ही

लुको नाग लखि मोरहिं आवत।

में नाग का अर्थ सर्प ही समझना चाहिये।

५ अर्थ

जहाँ प्रयोजन अनेकार्थ में एकार्थ का निश्चय कराता हो वहाँ अर्थ है। जैसे,

शिवा स्वास्थ्य रक्षा करे। शिवा हरे सब शूल।

यहाँ स्वास्थ्य-रक्षा करने और शूल हरने का प्रयोजन हरीतकी से ही सिद्ध होता है। अतः शिवा का अर्थ हर्रै होगा, भवानी नहीं।

ऐसे ही अनेकार्थक शब्द बहुधा अर्थ अर्थात् प्रयोजनानुसार तदनुरूप अर्थ में नियत हो जाते हैं।

ध्वनि के हित रस समझिये।

यहाँ ध्वनिबोध-रूप अर्थ से अर्थात् प्रयोजन से रस का राग, द्रव, जल आदि अर्थ होते हुए भी शृंगारादि रस ही अर्थ होगा।

६ प्रकरण

जहाँ किसी प्रसंगवश वक्ता और श्रोता की समझदारी से किसी अर्थ का निर्णय हो वहाँ प्रकरण समझा जाता है। जैसे,

अब तुम मधु लावो तुरत।

शब्दों के उच्चारण का अवसर अर्थ-निश्चय का कारण होता है। यहाँ 'मधु' शब्द यदि दवा देने के समय कहा जाय तो इसका अर्थ शहद ही होगा, मदिरा नहीं।

'वृक्ष जानिये दल झरै, दल साजै नृप जान'।

यहाँ दल के पत्ता, फौज, चक्र, झुंड आदि अनेक अर्थ होते हुए भी 'दल झरै' और 'दल साजै' वाक्यों में प्रकरणानुसार क्रमशः 'पेड़' और राजा का ही अर्थ होता है।

७ लिंग

नानार्थक शब्दों के किसी एक अर्थ में वर्तमान और इसके अर्थ में अवर्तमान किसी विशेष धर्म, चिह्न, या लक्षण का नाम लिङ्ग है।

कुशिकनन्दन के तप-तेज से, सुमन लज्जित दुर्मन हो उठे।

यहाँ लज्जा और दौर्मनस्य धर्म फूल में नहीं, देवता में ही संभव है। अतः लिङ्ग निर्णायक हुआ।

देखहु नील पयोधर बरसत।

यहाँ विशेषता-सूचक चिह्न वा लक्षण से अनेकार्थक शब्द की शक्ति एक अर्थ में निश्चित की गयी है। इसीसे पयोधर का अर्थ 'स्तन' नहीं, मेघ है। क्योंकि 'बरसता हुआ' यह विशिष्ट धर्म या लक्षण उसीमें संगत होगा। ऐसे ही—

सरसइ क्यों कहिये कहे बानो बैठो हाट। **दास**

यहाँ बानी के सरस्वती, बनियाँ, वचन, प्रतिज्ञा आदि कई अर्थ होते हुए भी हाट में बैठने के विशेष धर्म—चिह्न वा लक्षण से बनिया 'सरसइ' (सरस्वती) नहीं कहा जा सकता बल्कि 'बानी' से बनिया ही कहा जायगा।

८ अन्यसंनिधि

अनेकार्थक शब्द के किसी एक ही अर्थ के साथ सम्बन्ध रखनेवाले भिन्नार्थक शब्द की समीपता अन्यसंनिधि है। जैसे,

परशुराम कर परशु सुधारा। सहसबाहु अर्जुन को मारा।

यहाँ अर्जुन का अर्थ तृतीय पांडव न होकर कार्तवीर्य होगा, क्योंकि निकट का सहसबाहु शब्द उसीका अर्थ घोषित करता है। ऐसे ही

काम कुसुमधनु सायक लीन्हें

में कुसुमधनु शब्द के बल से 'काम' के कार्य आदि अनेक अर्थ होते हुए भी कामदेव ही अर्थ समझा जाता है।

द्रष्टव्य—जहाँ संबंध की प्रधानता प्रतीत हो वहाँ संयोग, जहाँ संबंधियों की प्रधानता प्रतीत हो वहाँ साहचर्य और जहाँ किसी के निकट रहने से एक अर्थ की सिद्धि होती है वहाँ अन्यसन्निधि है।

९ सामर्थ्य

जहाँ किसी कार्य के संपादन में किसी पदार्थ की शक्ति से अनेकार्थों में से एकार्थ का निश्चय हो वहाँ सामर्थ्य है। जैसे,

तन महँ प्रबिसि निकर सर जाहीं।

जैसे प्रयोजन अर्थ-नियंत्रक होता है वैसे ही सामर्थ्य—कारण भी। यहाँ सर शब्द का अर्थ बाण ही है न कि तालाब वा सिर। क्योंकि 'सर' में ही आर-पार होने की शक्ति है।

वज्राघात गोत्र सहते हैं। मधु से मतवाले फिरते है।

यहाँ 'गोत्र' के पर्वत, परिवार आदि कई अर्थ होते हैं। किन्तु वज्राघात सहने का सामर्थ्य पर्वत के सिवा और किसी में नहीं होता। इससे यहाँ 'गोत्र' का अर्थ पर्वत है। 'मधु' के अर्थ अनेक हैं किन्तु मतवाला बनाने का सामर्थ्य मदिरा ही में है। इससे यहाँ 'मधु' का अर्थ मदिरा ही है, न कि शहद।

१० औचित्य

जहाँ किसी पदार्थ की योग्यता के कारण अनेकार्थों में से एकार्थ का निर्णय हो वहाँ औचित्य है। जैसे,

'श्री आँखों में देखिये, चंचलता वो नेह।' — राम

औचित्य से भी अनेकार्थक शब्दों का एक अर्थ निश्चित होता है। जैसे, 'श्री' का अर्थ शोभा, संपत्ति और विष्णुपत्नी है। किन्तु आँखों में शोभा ही के रहने की योग्यता हो सकती है 'संपत्ति' या 'विष्णुपत्नी' की नहीं। ऐसे ही—

हरि के चढ़ते ही उड़े सब द्विज एकै साथ। राम

यहाँ पेड़ पर चढ़ने की योग्यता से 'हरि' का अर्थ बंदर और उड़ने की योग्यता से 'द्विज' का अर्थ पक्षी ही होगा न कि सिंह आदि और न ब्राह्मण आदि।

११ देश

जहाँ किसी स्थान की विशेषता के कारण अनेकार्थ शब्द के एक अर्थ का निश्चय हो वहाँ देश है। जैसे,

वैकुण्ठ में लक्ष्मी लसैं ब्रज में बसैं घनश्याम। राम

यहाँ देश (स्थान) की विशेषता के कारण बैकुंठ कहने से 'लक्ष्मी' का अर्थ विष्णुपत्नी ही होता है, संपत्ति आदि नहीं। 'घनश्याम' का अर्थ कृष्ण मेघ और श्रीकृष्णचंद्र है। किन्तु यहाँ ब्रज के रहने से श्रीकृष्ण का ही बोध होता है। ऐसे ही—

अण्डज जल से निकलते तज देते हैं प्राण।

यहाँ आधार जल से आधेय अण्डज का अर्थ मछली होगा, पक्षी नहीं। जल से अलग होकर प्राण तज देने की योग्यता मछली ही में पायी जाती है। अतः औचित्य का भी यह उदाहरण हो सकता है। इस प्रकार का प्रायः उदाहरणों में संकर मिलेगा।

मरु में जीवन दूर है।

यहाँ 'जीवन' के जिन्दगी, परम प्यारा, पानी, जीविका, पवन आदि अनेक अर्थ हैं, किन्तु मरु के निर्देश से 'जीवन' का अर्थ जल ही होगा।

१२ काल (प्रातः, संध्या, मास, पक्ष, ऋतु आदि)

जहाँ समय के कारण एक अर्थ का निश्चय हो वहाँ 'काल' समझा जाता है। जैसे,

'बीथिन मैं, ब्रज मैं, नवेलिन मैं, बेलिन मैं,
बनन मैं, बागन मैं, बगरो बसंत है।' पद्माकर

यहाँ 'बनन' शब्द का अर्थ वन, जंगल, जल आदि है किन्तु वसंत का विकास वन में ही यथेष्ट देख पड़ता है। इससे यहाँ 'बनन' का अर्थ जल नहीं हुआ।

कुवलय कुसुमित रात में।

कुवलय का अर्थ कमल और कुमुद दोनों है। किन्तु रात में कहने से 'कुई' 'कुमुद', 'भेंट' का ही कुसुमित होना समझा जाता है न कि कमल का कुसुमित होना। क्योंकि वह दिन में कुसुमित होता है।

१३ व्यक्ति

जहाँ व्यक्ति से अर्थात् स्त्रीलिंग आदि से एक अर्थ का निर्णय होता है, वहाँ व्यक्ति है। जैसे,

'एरी मेरी बीर जैसे तैसे इन आँखिन तैं,
कढ़िगौ अबीर पै अहीर को कढ़ै नहीं।' **पद्माकर**

इसमें 'बीर' शब्द के अर्थ भाई, सखी, पति आदि अनेक हैं पर 'मेरी' स्त्रीलिंग से यहाँ बड़ी सखी का ही बोध होता है।

'पति तेरी नव बाल' में 'पति' का 'पत' अर्थ करना अभिधा के साथ बलात्कार है और इसका यह यथार्थ उदाहरण नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति शब्द भी इस 'व्यक्ति' का उदाहरण हो सकता है। क्योंकि, यह भी उभय लिङ्गात्मक है।

१४ स्वर

उदात्त, अनुदात्त आदि स्वर वेद ही में विशेष अर्थ के निर्णायक होते हैं। किन्तु काव्य में इससे अर्थ का निर्णय नहीं होता।

स्वर के सम्बन्ध में दास कवि का विचार है—

कहूँ स्वरादिक फेरतें एकै अर्थ प्रसंग।
बाजी भली न बाँसुरी बाजी भलो तुरंग॥

यहाँ बाजी शब्द के अनेक अर्थ हैं। 'बाजी' क्रिया और 'भली' विशेषण से स्त्रीलिंग बाँसुरी का बोध होता है और 'भलो' विशेषण से पुंलिंग का बोध होता है। इससे 'बाजी' का अर्थ घोड़ा हुआ। इन दोनों

में 'ई' और 'ओ' स्वर का फेर है। पर आलोचना से स्वर नियन्त्रित अर्थ का यह उदाहरण नहीं हो सकता।

एक का मत है कि 'बाजी' का 'बाजि' कर देने से—इस प्रकार ह्रस्व-दीर्घ-परिवर्तन से, स्वर का उदाहरण हो जायगा। यह भी असंगत है।

वार्तालाप में स्वर की विलक्षणता से—स्वरपात, स्वराघात आदि से अर्थविशेष का निर्णय किया जा सकता है। जैसे, 'मैंने लिया है'। इसको साधारणतः कहने पर स्वीकारोक्ति हो जाता है और इसीको जोर देकर कहें तो संदेहास्पद हो जाता है।

१५ अभिनय

इतनी सी वा नारि के, इतने से उरजात।
इतने हैं, लोचन बड़े, दूबर इतनो गात॥ **अनुवाद**

आचार्यों ने अर्थ-नियंत्रण करनेवाले कारणों में 'आदि' शब्द से नाटकादि में नटों के नानाविध अभिनयों का भी ग्रहण किया है। यहाँ हाथ से संकेत करके भाव प्रकट करने के लिये हाथ की चेष्टायें करनी पड़ती हैं और इनसे यहाँ अर्थ का नियंत्रण हो जाता है। अर्थात् बुद्धिस्थ सकल आकारों के वाचक होने से 'इतना' शब्द अनेकार्थक हो जाता है। हाथ के अभिनय वा संकेत से स्तन, लोचन आदि का परिमाण विशेष रूप अर्थ में नियत हो जाता है।

नये बिहारी कवि ने इनको एक छप्पय में गूँथा है जो इस प्रकार है—

बिन अंकुस कौ [१]नाग, [२]नाग अंकुस जुत भावै।
भव[३] भवानि भल संग, [४]आसुतोषक सुर ध्यावै॥
[५]कपिध्वज यशध्वज धौल [६]हरी सँग धेनु न सोहिब।
[७]कनकरत्न छविपुंज [८]चक्र छवि सरस सुजोइव॥
बर विटप [९]वाज [१०]बन मुदित झख सैंधव[११] प्रिय भोजन लगै।
लख[१२]नयन नेह उरकौ उग्यौ भले बनें जग जश जगै॥

१ वियोग २ संयोग ३ साहचर्य ४ प्रकरण ५ चिह्न-विशेष ६ विरोध ७ संनिधि ८ व्यक्ति ९ देश १० सामर्थ्य ११ समय और १२ औचित्य।

इन उपर्युक्त कारणों द्वारा एकार्थ के नियंत्रित हो जाने पर जब किसी अनेकार्थवाची शब्द से किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ अभिधामूलक व्यंजना होती है। जैसे,—

लाज गहौ बेकाज कत, घेरि रहे, घर जाँहि।
गोरसु चाहत फिरत हौ, गोरसु चाहत नाहिं ॥ **बिहारी**

दान-लीला में कृष्ण से गोपी की उक्ति।

इसका अर्थ है—शर्म करो; बेकार मुझे क्यों घेर रहे हो—रोक-टोक कर रहे हो। मैं घर जाती हूँ। तुम तो गोरसु—नेत्र-रस और वाणी-रस, अटका कर बतराना चाहते हो; गोरसु—दूध-दही नहीं चाहते हो। अभिप्राय यह कि दूध-दही का माँगना तो एक व्याज है, जिसे दे देने पर तुम्हारी छेड़-छाड़ से पिंड छूट जाता। यहाँ तो तुम किसी बहाने देखने और बातचीत करने का मजा लूटना चाहते हो।

स्वयंदूती नायिका का वचन

दूसरा अर्थ है—तुम गोरसु—दूध दही नहीं चाहते, गोरसु—इन्द्रिय-रस संभोगजन्य सुख चाहते हो। यदि ऐसी बात है तो व्यर्थ क्यों घेरते हो, शरमाओ, अर्थात् इस बात को प्रकट न होने दो। हम घर चलें। वहीं हम लोगों का उद्देश्य सिद्ध होगा।

तीसरा अर्थ यह है कि तुम स्त्री की बात न जानने के कारण अपनी अनभिज्ञता पर लज्जित हो। व्यर्थ क्यों घेरते हो। तुम्हारा जो कुछ कर्त्तव्य है करो अर्थात् यहाँ से अन्यत्र—वन में—चलो। यहाँ कोई देख लेगा तो घर छूट जायगा, घर से निकाल दी जाऊँगी। तुम दूध-दही चाहते हो, इन्द्रियरस नहीं चाहते, नहीं तो ऐसा नहीं करते।

इसमें नायिका अपनी वचन-चातुरी से अपना अभिप्राय दूसरों को जानने देना भी नहीं चाहती और यह भी नायक को फटकारती हुई जता देना चाहती है कि मैं तुम पर अनुरक्त हूँ। यहाँ गोरसु शब्द में इन्द्रिय-सुख का अर्थ-बोध करानेवाली जो शक्ति है वह व्यंजना है और गोरसु, शब्द पर हो यह व्यंजना है। इससे यह अभिधामूलक है। यहाँ नायिका का अभीष्ट व्यंग्य है। फिर जो तुम इन्द्रिय-रस चाहते हो तो प्रत्यक्ष रूप में छेड़-छाड़ न करके एकान्त में मिलो, यह ध्वनि निकलती है जो व्यंग्य का प्राण है।

यहाँ अभिधा से पहला ही वाच्यार्थ होता है और दूसरे जो अर्थ होते हैं वे अभिधामूलक व्यंजना से ही होते हैं। द्व्यर्थक वा

अनेकार्थक शब्दों में श्लेषालंकार होता है। वहाँ सभी वाच्यार्थ ही होते हैं। श्लेष में अभिधा शक्ति के बाधित होने पर अन्यार्थ नहीं होता और व्यंग्यार्थ अभिधा के रुक जाने पर अभिधामूला व्यंजना द्वारा होता है। श्लेष विशेषण ही में होता है और अभिधामूला व्यंजना अनेकार्थवाची विशेष्य-विशेषण, दोनों में होती है।

इस प्रकार अभिधामूलक व्यंजना के हम संयोगसंभवा आदि नामों से १५ भेद कर सकते हैं, जो चित्र में दिये गये हैं।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना

जिस प्रयोजन के लिये लक्षणा का आश्रय लिया जाता है वह प्रयोजन जिस शक्ति द्वारा प्रतीत होता है उसे लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना कहते हैं। जैसे,

कूकती क्वैलिया कानन लौं नहिं जाति सह्यो तिन की सुरबाजें।
भूमि ते लैके आकाश लौं फूले पलास दवानल की छवि छाजें।
आये बसंत नहीं घर कंत लगी सब अंत की होने इलाजें।
बैठि रही हम हू हिय हारि कहा लगि टारिये हाथन गाजें। **मतिराम**[1]

इस कविता में कवि ने वसंतागम पर किसी वियोगिनी नायिका के विरह का चित्र खींचा है। वह दुःख-निरोध के सभी उपायों से ऊब गयी है और बचने के यत्न करने को 'हाथों से गाजें रोकना' समझ बैठी है। यहाँ हाथों से वज्र रोकना कहने से विरह-ज्वाला के उपशामक नलिनी-दल, नव पल्लव, उशीरलेप आदि तुच्छ साधनों से तीव्र काम-पीड़ा का 'अपहरण रूप अर्थ की असंभवता सूचित है। यहाँ 'गाजें' पद 'दुर्दम मदन-वेदना' रूप अर्थ को लक्षित करता है। यहाँ शुद्धा, साध्यवसाना, प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा है। इससे वेदना की अतिशयता व्यंग्य है।

लक्षणा-प्रकरण में प्रकाशानुसार प्रयोजनवती लक्षणा के जिन १२ भेदों और दर्पण के अनुसार जिन मुख्य ३२ भेदों का उल्लेख हो चुका है, लक्षणामूला व्यंजना के भी उतने ही भेद होते हैं। यह भी वहाँ कहा गया है कि प्रयोजनवती के प्रयोजन ही व्यंग्य होते हैं। प्रयोजनवती लक्षणा के उदाहरण ही लक्षणामूला व्यंजना के इन भेदों के उदाहरण होते हैं।

चौथी किरण

आर्थी व्यंजना

जो शब्दशक्ति १ वक्ता (कहने वाला), २ बोद्धव्य (जिससे बात कही जाय), ३ वाक्य, ४ अन्य संनिधि, ५ वाच्य (वक्तव्य), ६ प्रस्ताव (प्रकरण), ७ देश, ८ काल, ९ काकु (कण्ठ-ध्वनि), १० चेष्टा आदि की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है वह आर्थी व्यंजना कही जाती है।+

इस व्यंजना से सूचित व्यंग्य अर्थजनित होने से आर्थ होता है। अर्थात् किसी शब्द-विशेष पर अवलम्बित नहीं रहता। यहाँ आदि शब्द से इङ्गित-कटाक्षपात आदि का ग्रहण होता है। इन दश भेदों में भी प्रत्येक व्यंजना के १ वाच्यसंभवा २ लक्ष्यसंभवा और ३ व्यंग्यसंभवा नाम के तीन भेद होते हैं। इस प्रकार आर्थी व्यंजना के तीस भेद हुए।

(१) वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

वक्ता—कवि या कवि-कल्पित व्यक्ति के कथन की विशेषता के कारण जो व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है वह वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न होता है।

जब वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ उत्पन्न होता है तब वह वाच्यसंभव कहलाता है। जैसे,

तो ही निरमोही लग्यौ मो ही यहै सुभाव।
अन आये आवै नहीं, आये आवै आव। **विहारी**

अर्थ है—तेरा हृदय (तो ही) निर्मोही है। उससे मेरा हृदय लगा (लग्यौ मो ही)। सो बस उसका यही स्वभाव हो गया कि तुम्हारे आने से तो आता है, नहीं आने से नहीं आता, इससे आओ। कोई यह अर्थ

+ वक्तृ[१]बोद्धव्य[२]वाक्याना[३]मन्यसंनिधि[४]वाच्ययोः[५]।
प्रस्ताव[६]देश[७]कालानां[८] काकोश्[९]चेष्टादिकस्य[१०] च ॥
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत्सार्थसंभवा। **साहित्यदर्पण**

करता है—हे निर्मोही, मेरा हृदय तुम्ही से (तोही पाठ से) इस स्वभाव (रीति) से लगा है कि आने से····· । शेष पहले के ऐसा ।

यहाँ नायक के निष्ठुर मन के साथ मिलने के कारण उत्पन्न हुई नायिका के मन की निष्ठुरता का कथन उपालंभ-पूर्ण है जिससे नायिका के मन की अत्यासक्ति व्यंग्य है। साथ ही मन की अस्थिरता और विकलता भी सूचित होती है।

यहाँ कविकल्पित नायिका वक्त्री है। इसीकी उक्तिसे मन की अत्यासक्ति व्यञ्जित होती है। आर्थी व्यंजना होने का कारण यह है कि निर्मोही स्वभाव आदि का कथन शब्दान्तर से होने पर भी यह व्यंग्य बना ही रहेगा। यह व्यंजना शब्दाश्रित नहीं, अर्थाश्रित है। इसीसे यह आर्थी व्यंजना कहलाती है। यहाँ वाच्य अर्थ से ही व्यङ्ग्य उत्पन्न हुआ है। अतः वाच्यसंभवा है।

पति देवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न कहि सकहि, सहस सारदा सेख ॥ **रामायण**

सीता की पार्वती के प्रति उक्ति। 'तुम्हारी पतिव्रता स्त्रियों में प्रथम गणना है। इससे यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि तुम जब ऐसी पतिव्रता हो तो मेरे पातिव्रत धर्म की रक्षा करोगी। क्योंकि, मैं रामचन्द्र को अपना मानस पति बना चुकी हूँ। ऐसा न हो कि कोई दूसरा नृपकुमार धनुर्भंग करके मेरा वरण कर ले।

जिहि निदाघ दुपहर रहै, भई माघ की राति।
तिहि उसीर की रावटी, खरी आवटी जाति ॥ **विहारी**

यहाँ कवि-कल्पित दूती-वक्त्री है जो उस विरहिणी नायिका की दशा उसके प्रेमी से निवेदन करती है। जिस उशीर की रावटी में जेठ की दुपहरी भी माघ-सी ठंढी लगती है उस रावटी में भी वह नायिका गर्मी से उबलती सी रहती है। इस वाक्यार्थ से 'तुम कितने निष्ठुर हो, तुम्हारे प्रेम में उसकी दशा कितनी शोचनीय है, तुम इतने निष्ठुर नहीं बनो, उसकी व्याकुलता पर तरस खावो' आदि व्यंग्यार्थ वाच्यसंभव ही है।

सेवत तोहि सुलभ फलचारी। वरदायिनि त्रिपुरारि पियारी।
देवि पूजि पद कमल तुम्हारे। सुरनर मुनि सब होहि सुखारे। **रामायण**

सीता कहती है कि 'तुम्हारी सेवा से चारों फल अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष सुलभ हैं तो मेरी मनकामना अवश्य पूरी होगी और क्यों

नहीं होगी जब कि तुम वरदायिनी हो। इसमें यही व्यंग्य है। दूसरी चौपाई में भी यही बात है। सुर-नर-मुनि तेरी पूजा से सुखी होते हैं तो मैं भी सुखी होऊँगी। प्रार्थना में कृपा की प्रेरणा और अभीष्ट-लाभ, ये दोनों व्यंग्य हैं। फल चारी, वरदायिनि, सुखारे शब्दों के स्थानों में भिन्न शब्द रखने पर भी ये व्यंग्य रहेंगे ही।

अरे हृदय ! जो लता उखाडी जा चुकी।
और उपेक्षाताप कभी जो पा चुकी।
आशा क्यो कर रहा उसीके फूल की।
फल से पहले बात सोच तू मूल की। **गुप्तजी**

यहाँ दुष्यन्त का शकुन्तला-त्यागरूपी पश्चात्ताप व्यङ्ग्य है जो वक्ता के वैशिष्ट्य से वाच्यार्थ द्वारा प्रकट होता है।

वक्ता के भेद से व्यंग्यार्थ भी भिन्न होता है। जैसे,

उदयागिरि सिर इन्दु की चढ़ी अरुनिमा आन।
अस्ताचल की ओट मे भये जु लखिये भान॥ **प्राचीन**

इसमें रात्रि-आगमन का वर्णन है। यदि दूती की उक्ति इसे समझें तो किसी नायिका का अभिसार करना—प्रच्छन्न रूप से प्रिय के पास जाना व्यंजित होता है और यदि गुरु की उक्ति समझें तो छात्रों के लिये संध्या-वंदन का समय व्यंजित होता है। दोनों के वैशिष्ट्य से दो प्रकार के व्यंग्य हुए।

कौन सी चाल चली ब्रज मे गुरु लोगन सो कहि बैर बढावे।
और की बात न कान सुनै अपनी कहि कै उलटो समुझावे॥
कौन बुलावन जात इन्है निशिवासर चौचध आनि मचावे।
चोरि चबाइन चातुरि ये हियरै को हरा अनत धरि आवें॥ **प्रतापशाही**

जिसके यहाँ मिलने गयी थी वहाँ हार भूल आयी है। उसीको चोरी के बहाने छिपाती है। यही व्यंग्य है। नायिका सुरतगोपना वा गुप्ता है। गुप्ता नायिका के प्रत्येक उदाहरण में वक्तृवैशिष्ट्य से उत्पन्न व्यंग्य पाया जायगा।

वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्नलक्ष्यसंभवा

जहाँ लक्ष्यार्थ से व्यञ्जना हो वहाँ यह भेद होता है।

पावक झरतें मेह झर, दाहक दुसह विसेखि।
दहै देह वाके परस, याहि दृगन ही देखि॥ **विहारी**

यहाँ नायिका अपनी सखी से कहती है—'अग्नि की लपट से वर्षा की झड़ी ज्यादा दुखदायक है। क्योंकि, अग्नि की लपट से तो स्पर्श करने पर देह जलती है; मगर वर्षा की झड़ी के तो देखने ही से। यहाँ वारिद-बूँदों के दर्शन से शरीर-ज्वलन की क्रिया में शब्दार्थ का बाध है। यहाँ बाध होने पर लक्षणा द्वारा अर्थ होता है कि विरहिणी नायिका बूंदों को देख नहीं सकती। इससे यह व्यङ्ग्य निकलता है कि नायिका दुःखदायक उद्दीपक वस्तुओं से अत्यन्त दुःखित है। यहाँ वक्तृवैशिष्ट्य इसलिये है कि वक्ता की विशेषता से ही वाच्यार्थ द्वारा यह व्यंग्यार्थ निकलता है।

ताकि रहत छिन और तिय, लेत और को नाउँ।
ए अलि ऐसे बलम की, बिबिध भांति बलि जाउँ॥ **पद्माकर**

नायक किसी उपपत्नी के प्रेम में फँसा है। वह उसके बारे में हमेशा सोचता रहता है। अपनी पत्नी से बातचीत करते समय भी अपनी उपपत्नी का नाम ले बैठता है। इसी बात को लेकर उसकी दुखित नायिका अपनी सखी से कहती है—'हे सखि, अपने ऐसे प्रियतम की मैं बार-बार बलैयाँ लेती हूँ जो देखते तो रहते हैं किसी और स्त्री की ओर पर बार-बार नाम लेते रहते हैं किसी और का।' इस वाच्यार्थ में अपने कपटी पति के प्रति बलैया लेना बिल्कुल असंभाव्य है। अतः इस अर्थ की बाधा से 'ऐसा पति उपेक्षा का पात्र है जो मुझसे बातचीत करते समय भी दूसरे का नाम लेता है' जो यह लक्ष्यार्थ होता है उससे यह व्यङ्ग्य प्रकट है कि 'पति मुझे प्यार नहीं करता।'

वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्नव्यङ्ग्यसंभवा

जहाँ व्यंग्य से व्यंग्य होता है वहाँ यह भेद होता है।

अंब कहैगी मोहि फिरि, कियो न तू गृहकाज।
कहै सो करि आऊँ अबै, मुँदो जात दिनराज॥ **दास**

इसमें केवल माता की आज्ञा पाना वाच्यार्थ है। अन्यत्र जाने की इच्छा इसका पहला व्यंग्य है और दिन में ही परपुरुष-विहार की इच्छा दूसरा व्यंग्य है।

निरखि सेज रँग रँग भरी, लगी उसासैं लैन।
कछु न चैन चित में रह्यो, चढ़त चाँदनी रैन॥ **पद्माकर**

कोई सखी किसी नायक के प्रति नायिका की मनोदशा का निवेदन करती है। कहती है कि वह अपनी सेज को रंग से रँगी देखकर उसाँस

पर उसाँस लेने लगी। चाँदनी रात आने पर उसके चित्त में जरा भी चैन नहीं। यहाँ सेज को रंग से रँगी देखकर नायिका का उसाँसें लेना और चाँदनी रात को चैन न पड़ना आदि वाच्यार्थ से प्रियतम के अभाव में उद्दीपक चीजों का अत्यंत दुखदायी प्रतीत होना व्यंग्य है और इस व्यंग्यार्थ से एक दूसरे इस व्यंग्यार्थ का भी बोध होता है कि 'तुम (नायक) बड़े निष्ठुर हो। तुम्हारे विना वह (नायिका) तड़पती रहती है; पर तुम्हें इसकी कुछ भी गम नहीं। तुम्हें इस चाँदनी रात वाली होली में उससे (नायिका) विलग नहीं रहना चाहिये।' यहाँ दूसरा व्यंग्य पहले व्यंग्य से संभव होता है पर वक्तृवैशिष्ट्य द्वारा ही। अतः यहाँ वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्नव्यंग्यसंभवा आर्थी व्यंजना है।

(२) बोद्धव्यवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ श्रोता की विशेषता के द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध हो वहाँ बोद्धव्य-वैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है।

बोद्धव्य का अर्थ है श्रोता। इसके भी पूर्ववत् तीन भेद होते हैं।

वक्तृवैशिष्ट्य के उपर्युक्त उदारण कुछ बोद्धव्य-वैशिष्ट्य के भी उदाहरण हो सकते हैं। जैसे, वाच्य का—'जिहि निदाघ...... ।' इस पद्य में यदि नायक के प्रति न होकर किसी दूसरे के प्रति यह उक्ति होती तो वाच्यार्थ द्वारा 'तुम अत्यंत निठुर हो, तुम्हारे वियोग में वह (नायिका) तड़प रही है, आदि व्यंग्यार्थ का भी जो बोध होता है, वह हो ही नहीं सकता था। नायक अपनी निठुराई से अवगत है। इसीसे व्यंगार्थ की पुष्टि में सखी का वाच्यार्थ सहायक होता है।

इसी तरह वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न लक्ष्यसंभवा का 'ताकि रहत छिन और तिय.........आदि है। इसमें नायिका की सखी उस नायक के छल से अवगत है। अतः वह वाच्यार्थ में जो नायक की प्रशंसा करती है उस शब्दार्थ का सखी की समझ में बाध हो जाता है और वह बलैया लेने का उल्टा अर्थ उपेक्षा करना समझती है। अतः यहाँ भी बोद्धव्य-वैशिष्ट्योत्पन्नलक्ष्यसंभवा व्यञ्जना है।

इसी तरह वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्नव्यङ्ग्यसंभवा का उदाहरण 'निरखि सेज...' है। वह नायक भी अपनी नायिका के विरह-दुःख से अवगत है। अतः उसके विना चाँदनी रात और रंग व्यर्थ और नायिका के लिये कष्टकारक हैं। इस व्यंग्यार्थ के द्वारा अपनी निष्ठुरता आदि व्यंग्यार्थ

भी वह समझता है। इस प्रकार अन्यान्य उदाहरणों में अन्यान्य भेदों की भी लक्षण-संगति संभव है, जिसे अपने बुद्धि-वैभव से समझने की चेष्टा करनी चाहिये।

इनके अलावा इनके नये उदाहरण भी दिये जा रहे हैं—

घर न कंत हेमन्त रितु, राति जागती जात।
दबकि द्यौस सोवन लगी, भली नहीं यह बात॥ **विहारी**

वाच्यार्थ है—'री सखी, आज कल तुम्हारा कंत घर पर नहीं है—परदेश गया है। रात में जगती रहती हो और दिन में लुक-छिप कर सोती रहती हो। क्योंकि, हेमन्त में दिन का सोना बहुत ही अस्वाभाविक है। यह तो अच्छी बात नहीं।'

उपदेश देनेवाली नायिका का व्यंग्यार्थ है कि तुम अवश्य किसी पर-पुरुष के साथ रात में रमण करती हो। यह व्यंग्यार्थ बोद्धव्य की विशेषता के ही कारण होता है। क्योंकि उपदेश देनेवाली सखी का व्यंग्यार्थ वही समझती है, और कोई नहीं।

अन्य-सुरत-दुःखिता और लक्षिता के उदाहरणों में ऐसा व्यंग्य विशेषतः पाया जाता है।

यह अवसर निज कामना, किन पूरन करि लेहु।
ये दिन फिर ऐहैं नहीं, यह छनभंगुर देहु॥ **प्राचीन**

यदि इसका बोद्धव्य कामुक नायक है तो सुरतोपदेश व्यंग्य है और यदि कोई साधु वा विरागी बोद्धव्य है तो मोक्ष व्यंग्य है।

खोके आत्मगौरव स्वतन्त्रता भी जीते हैं,
मृत्यु सुखदायक है वीरो इस जीने से॥ **वियोगी**

यहाँ यह व्यङ्ग्यार्थ सूचित होता है कि जैसे हो तैसे स्वतन्त्रता प्राप्त करो और विलासी जीवन को जलाञ्जलि दे दो। यहाँ बोद्धव्य की ही विशेषता से यह व्यङ्ग्य निकलता है। क्योंकि, यहाँ विलासमय जीवन बितानेवाले वीरों से ही यह कहा गया है।

धोइ गई केसरि कपोल कुच गोलन की, पीक-लीक अधर अमोलनि लगाई है।
कहै पदमाकर त्यों नैन हूँ निरंजन भे तजत न कंप देह पुलकनि छाई है॥
बाद मति ठाने झूठबादिन भईरी अब, दूतिपनो छोड़ धूतपन में समाई है।
आई तोहि पीर न पराई महापापिन तू पापी लौं गई न कहूँ बापी न्हाइ आई है॥

किसी उपेक्षिता विरहिणी नायिका ने अपने प्रिय के पास विरह-निवेदनार्थ अपनी दूती को भेजा था। दूती स्वयं जाकर उस नायका

से रमण कर आयी। रमण करने से उसका साज-शृङ्गार मिट गया था। इसी पर वह अन्यसुरतदुःखिता नायिका फटकारती हुई बोद्धव्य दूती से ये बातें व्यंग्य में कहती है। तुझे तो मैंने उस पापी के पास भेजा था। और तू चली गयी तालाब नहाने। बहानेबाजी की जरूरत नहीं। तूने नायक से रमण किया है, यह बात मैं समझ गयी हूँ। यहाँ रमण करने का जो यह व्यङ्ग्यार्थ सूचित होता है उस व्यङ्ग्यार्थ का बोध भी बोद्धव्य-वैशिष्ट्य से ही होता है।

बोद्धव्यवैशिष्ट्योत्पन्नलक्ष्यसंभवा

मोहि उपदेश दीन्ह गुरु नीका। प्रजा सचिव संमत सब ही का॥
मातु उचित पुनि आयसु दीन्हा। अवसि सीस धरि चाहिय कीन्हा॥

भरत की उक्ति गुरु आदि के प्रति। यहाँ गुरु आदि की उक्ति की प्रशंसा झलकती है। किन्तु पिता के मरण, माता के दुर्व्यवहार, राम के वनगमन आदि से दुःखित भरत का राज-शासन किसी प्रकार ठीक नहीं। इससे अर्थ-बाधा होती है। यहाँ विपरीत लक्षणा द्वारा यह लक्ष्यार्थ निकलता है कि आप जो उपदेश देते हैं वह मेरे लिये इस समय उचित नहीं है। यहाँ जो लक्ष्यार्थ द्वारा बोद्धव्य (गुरु, माता आदि) की विशेषता से 'आप लोगों का उपदेश असामयिक है,' यह जो व्यंग्य प्रकट होता है वह प्रयोजनवती लक्षणा का प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ है। इसके अतिरिक्त इस व्यङ्ग्यार्थ से यह व्यंग्यार्थ भी प्रकट होता है कि मुझे जो उचित उपदेश आवश्यक है वह दीजिये, ऐसा उपदेश नहीं। इससे यहाँ लक्ष्यार्थ से व्यंग्य है और व्यंग्य से भी व्यंग्य है।

बोद्धव्यवैशिष्ट्योत्पन्नव्यंग्य-संभवा

बाल कहाँ लाली भई लोयन कोयन माँह।
लाल तिहारे दृगन की परी दृगन में छाँह॥ **विहारी**

नायक रात भर अपनी उपपत्नी के यहाँ विहार कर भोर में अपनी पत्नी के पास आया है। पत्नी की सक्रोध आकृति देखकर समझ जाता है कि मेरी चोरी पकड़ी गयी। बस, चट नायक बड़ी चाटुभरी उक्तियों से नायिका को प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगता है—बाले, (भोली-भाली, मुग्धे) तुम्हारी इन बड़ी बड़ी सुंदर आँखों में यों लालिमा कहाँ से आ गयी?' मगर नायिका ने नायक की सारी चतुराई पर पानी

फेर दिया। उसने झट से बड़े ही मधुर शब्दों मे उत्तर दिया—'लाल, (प्रियतम, छैल-छबीले) तुम्हारी इन लाल-लाल आँखों की ललाई ही तो मेरी आँखों में उतर आयी है।' अर्थात् तुम्हारे असह्य अपराध के कारण आँखें क्रोध से लाल हो रही हैं।

नायक का प्रयत्न विफल हो गया। वह तुरत समझ गया कि यह कह रही है कि तुमने रात भर किसी अपनी प्रेमिका के साथ रमण किया है। इसीलिये तुम्हारी आँखें लाल हो गयी हैं। बातों का भुलावा देकर अपना दोष क्यों छिपा रहे हो। इस व्यंग्य से एक दूसरा व्यंग्य यह निकलता है कि तुम व्यभिचारी के अलावे झूठे तथा धोखेबाज भी हो। मैं तुमसे घृणा करती हूँ। यहाँ बोद्धव्य नायक सारी घटनाओं से अवगत है। अतः नायिका की उक्ति का व्यंग्यार्थ समझ जाता है। बोद्धव्य के कारण ही यहाँ एक व्यंग्य से दूसरा व्यंग्य परिलक्षित होता है।

इसमें नायक शठ और नायिका खंडिता है। बाल शब्द से निपट नासमझ और लाल शब्द से भोलाभाला प्रकट होना भी व्यंग्य है। पर, यह शाब्दी व्यंजना है। क्योंकि, इन शब्दों के बदल जाने से यह व्यंग्य प्रकट नहीं हो सकता।

घाम घरीक निवारिये कलित ललित अलि पुञ्ज।
जमुना तीर तमाल तरु मिलत मालती कुञ्ज॥ विहारी

यह वाग्विदग्धा स्वयंदूती की नायक के प्रति उक्ति है। जहाँ यमुना किनारे तमालतरु से मिला-मालती कुञ्ज है, और जहाँ भौंरे गूँज रहे हैं वहाँ चलकर घड़ी भर घाम बिताइये, धूप का वक्त काटिये। विश्राम के लिये एकान्त मालती-कुञ्ज बतलाने के व्याज से बुलाकर मिलना अभीष्ट है। यहाँ सङ्केत-स्थान की सूचना एक व्यङ्ग्य है। तमालतरु से मालती-कुञ्ज का जैसा मधुर मिलन है वैसा ही हम लोगों का मधुर मिलन होगा, यह उससे दूसरा व्यङ्ग्य है।

(३) वाक्यवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ सम्पूर्ण वाक्य की विशेषता से व्यङ्ग्यार्थ प्रकट होता है वहाँ यह भेद होता है। जैसे—

आपु दियौ मनु फेरि लै, पलटै दीन्ही पीठि।
कौन चाल यह रावरी, लाल लुकावत दीठि॥ विहारी

अपना दिया हुआ मन लौटाकर उसके बदले में पीठ दी अर्थात्

मुझसे मुँह मोड़ लिया। अब आपकी यह कौन सी भलमनसाहत है कि आप आँखें भी चुराने लगे। यहाँ इस वाक्य-विशेष से यह व्यंग्य प्रकट होता है कि किसी दूसरे से आँखें लग गयी हैं और आपका पहला प्रेम मुझ पर नहीं रहा।

जेहि बिधि होइहि परम हित, नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु, वचन न वृथा हमार॥ **तुलसी**

एक बार नारदजी ने विष्णु भगवान से उनका रूप माँगा जिससे उनकी अभिलषित राजकन्या मोहित होकर उन्हें वर ले। इस रूपभिक्षा पर भगवान ने कहा कि मैं सत्य कहता हूँ कि वही उपाय करूँगा जिस से तुम्हारा हित हो। नारद ने इस वाक्यार्थ से अपनी अभीष्ट-सिद्धि समझ ली। मगर, वाच्यार्थ से यहाँ इस व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है, और वास्तव में भगवान के कहने का प्रयोजन भी यही है कि तुम्हें मैं अपना रूप नहीं दूँगा। क्योंकि, इससे तुम्हारा हित नहीं, अहित होगा। यहाँ सारे वाक्य की विशेषता से वाक्य-संभवा आर्थी व्यंजना है।

गर्व करउ रघुनंदन जिन मन माँह।
देखउ आपनि मूरति सिय के छाँह॥ **तुलसी**

हे रघुनन्दन, आपको अपने सौन्दर्य का अभिमान है। हमारी सीता की छाँह में अपना रूप देखिये। यहाँ वाक्यवैशिष्ट्य से सीता का अतिशय सौंदर्य रूप व्यंग्य प्रकट होता है। छाँह के दो अर्थ हैं। एक सौंदर्य और दूसरा छाया। छाँह में—सौन्दर्य में रूप देखने का अर्थ है कि सीता में ऐसी आभा है जिसमें आप अपना रूप—प्रतिबिम्ब देख सकते हैं। छाया के अर्थ में देखने का भाव यह है कि आपका काला रूप सीता की छाया है क्योंकि वह काली ही होती है।

रह चिर दिन तू हरी-भरी; बढ़ सुख से बढ़ सृष्टि-सुन्दरी।
सुध प्रियतम की मिले मुझे; फल जन-जीवन-दान का तुझे॥ **गुप्तजी**

वियोगिनी ऊर्मिला की अपनी बाटिका के प्रति उक्ति है। इस वाक्यवैशिष्ट्य से ऊर्मिला का यह अभिप्राय व्यंजित होता है कि तेरी बाढ़ और हरियाली देखकर ही मैं जी रही हूँ, नहीं तो अधीर होकर मर जाती।

महमद चिनगी प्रेम कै, सुनि महि गगन डेराइ।
धनि बिरही वो धनि हिया, जहँ अस अगिन समाइ॥ **जायसी**

इस पद्य में विरहाधिक्य व्यंग्य है-जो वाक्य वैशिष्ट्य से—अभिव्यञ्जना की विशेषता से प्रकट है।

वाक्यवैशिष्ट्योत्पन्नलक्ष्यसंभवा

रात दिन जग कर परिश्रम से उदधि-मंथन किया है।
हाय! देवों के लिये ही वैर दनुजों से लिया है॥
मिल सका क्या जल मुझे पीयूष की तो बात ही क्या?
और बदले में गरल यह देवताओं ने दिया है॥ **सहृदय**

यहाँ न तो कवि ने या कविकल्पित पात्र ही ने 'रात दिन परिश्रम करके समुद्र मथा है और न वह देवताओं के लिये राक्षसों से लड़ा है। इससे न तो उसे अमृत-प्राप्ति की चिन्ता करनी चाहिये और न उसे देवताओं से विष मिलना ही किसी तरह संभव है।

इस प्रकार सम्पूर्ण पद्य के वाच्यार्थ का बाध होता है और तब लक्षणा द्वारा इस लक्ष्यार्थ का बोध होता है कि दलित और पराधीन दुखी मानव रात-दिन परिश्रम कर—अपने कर्म में निरत होकर अन्न उपजाता है, उत्तमोत्तम पदार्थ प्रस्तुत करता है। उसे अपने स्वामी के लिये प्राण संकट में डालकर उसके विरोधियों से लड़ना पड़ता है। उसे विश्वास दिया जाता है कि जीत होने पर तुझे अमृत पिलाकर (अधिकार देकर) अमर बनाया जायगा अर्थात् स्वाधीन और संपन्न बनाया जायगा। मगर, जीत होने पर अमृत के बदले में उसे विष दिया जाता है—उसे अपनी पूर्व से भी बुरी अवस्था में रहने दिया जाता है। इसी बात को लेकर कवि-कल्पित पात्र उपर्युक्त बातें सोचता है।

इस लक्ष्यार्थ से यह व्यंग्यबोध होता है कि एक पराधीन देश के विजयी सैनिक की यही भावना रहती है कि दलितों और निर्बलों के ऊपर सतत अत्याचार होता रहता है। धनियों के लिये किसी तरह का परिश्रम करना पाप है। अतः यहाँ लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना है।

वाक्यवैशिष्ट्योत्पन्नव्यंग्यसंभवा

ननद, चाह सुनि चलन की बरजत क्यों न सुकंत।
आवत बन विरहीन को, बैरी अधिक वसंत। **पद्माकर**

यहाँ परकीया नायिका अपनी ननद से कहती है कि तुम्हारे सुकंत (अत्यंत सुन्दर पति) परदेश जा रहे हैं उन्हें क्यों नहीं रोकती। अरी! विरहिनियों को मारनेवाला बसंत आ रहा है। यहाँ अपने पति के परदेश

जाने पर वसंत में तुम कैसे जीवित रहोगी। यह व्यंग्यार्थ समूचे वाक्य के वाच्यार्थ द्वारा होता है। मगर इस व्यंग्य से भी एक दूसरा व्यंग्य, जो उसमें छिपा है, वह यह है कि तुम (प्रिय) यदि परदेश जाओगे तो मैं वसंत में जीवित नहीं रह सकूँगी। क्योंकि, वह नायिका अपनी ननद के पति की उपपत्नी है और अपना अभिप्राय ननद के व्याज से नायक को सुनाकर प्रकट करती है। यहाँ अन्यसंनिधिवैशिष्टयोत्पन्न-व्यंग्यसंभवा व्यञ्जना भी है।

कुपथ मांग रुज व्याकुल रोगी।
बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥ **तुलसी**

रामायण में नारदजी के सुन्दर स्वरूप पाने की प्रार्थना पर विष्णु की उक्ति है। इसमें व्यंग्यार्थ है कि यदि आपको सुन्दर बनाया जायगा तो आपकी हानि होगी। अब 'सुंदर बनाने से आपकी हानि होगी' इस व्यंग्य से दूसरा व्यंग्य यह निकलता है कि मैं आपके लिये वही करूँगा जिससे आपका हित हो।

(४) अन्यसंनिधिवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

अन्य की समीपता या उपस्थिति में वक्ता बोद्धव्य से कुछ कहे उससे जो व्यंग्य निकले अर्थात् एक कहे, दूसरा सुने और तीसरा समझे वहाँ यह भेद होता है। जैसे—

१ रोज करौं गृहकाज दिन, बीतत याही माझ।
ईठि लहौं फल एक पल, नीठि निहारे साँझ॥ **दास**

दिन तो काम-काज करने में ही बीत जाता है। अभिप्राय यह कि दिन में अवकाश नहीं है। नीठि (बड़ी कठिनता से) देखते-देखते शाम को थोड़ा सा ईठि फल अर्थात् अवकाश पा जाती हूँ। सास से कहने-वाली ने उपपति को संध्या समय आने का संकेत किया। यह व्यंग्य अन्यसंनिधि की विशेषता से व्यक्त होता है।

घरक सबै न्यौते गये, अभी अँधेरी रात।
घर किवार नहिं द्वार में, ताते जिय घबरात॥ **प्राचीन**

यहाँ सखी के अलावा उस स्त्री का उपपति भी उपस्थित है। नायिका के कथन का सारा तात्पर्य उसी उपपति के प्रति है। किन्तु, अपनी सखी के सामने उससे प्रत्यक्ष वह कुछ कह नहीं सकती। दोहे के साधारण

अर्थ के अलावा अन्य की संनिधि से यहाँ तुम रात में बेखटके आओ, किसी तरह का न डर है न रोक-टोक। यह व्यंग्यार्थ सूचित होता है। इसलिये यहाँ अन्य सनिधिवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा व्यंजना है।

अन्यसंनिधिवैशिष्ट्योत्पन्नलक्ष्यसंभवा

हे हमारे सर्व-सन्ताप-निवारक लतामंडप! फिर भी सुखोपभोग के लिये तुम्हें निमंत्रण देती हूँ। **शकुंतलानाटक**

सखियों के साथ जाती हुई शकुन्तला की लता-मंडप के प्रति यह उक्ति है। अचेतन लतामण्डप को सर्व-संतापहारक कहना तथा सुखोपभोगार्थ निमंत्रण देना अर्थ बाधित है। अतः लक्षणा द्वारा यहाँ लता-मण्डप में प्रच्छन्न दुष्यंत का बोध होता है। इस प्रकार छिपे हुए दुष्यंत के प्रति शकुंतला का अनुराग व्यंग्य है, जो उसकी संनिधि की विशेषता से प्रकट होता है।

अन्यसंनिधिवैशिष्ट्योत्पन्नव्यंग्यसंभवा

निम्नलिखित पंक्तियाँ उस नायिका की उक्ति है जिसका उपनायक उपस्थित है। उसी समय वह उस पुजारी से कहती है जो फूल लेने को सरिता तट के कुंजों में आया करता और उन लोगों की केलि-क्रीड़ा में विघ्न डाला करता था।

गोदावरी कूल के कुंजों में जो रहता है मृगराज,
अरे पुजारी! उस केहरि ने मार दिया कुत्ते को आज।
जो सर्वदा तुम्हें करता था परेशान, पर अब निर्भय—
होकर उन कुंजों में विचरो, करो फूल-फल का संचय। **सहृदय**

यहाँ वाच्यार्थ में तो यही कहा गया है कि तुम निधड़क सरिता तट के कुंजों में जाकर घूमो और फूल चुनो। क्योंकि, जो कुत्ता तुम्हें तंग करता था उसको वहाँ निवास करने वाले भयानक सिंह ने मार डाला। इस विधि-रूप वाच्यार्थ से इस निषेध रूप व्यंग्य का बोध हुआ कि कुत्ते से तो जान जाने का डर नहीं था पर अब तो जान ही न बचेगी। इसलिये अब उधर तुम भूल कर भी न जाना।

यहाँ उस नायिका का उपपति उपस्थित है। अतः नायिका के इस व्यंगार्थ में एक दूसरा यह व्यंग्यार्थ है कि अब क्या! जो आदमी पहले एक मालूली कुत्ते से डर जाता था, वह भला सिंह का नाम सुनकर कैसे वहाँ जा सकता है। चलो, उस सरिता के एकान्त कुंज में (सिंह के कथन से

कुंज के निर्जन होने का व्यंग्यार्थ है) निधड़क विहरें। अर्थात् सरिता तट और कुंज बड़े मनभावन और उद्दीपक हैं। यहाँ एक व्यंग्य से दूसरे व्यंग्य का बोध अन्यसंनिधिवैशिष्ट्य से है। अतः यह अन्य-संनिधि-वैशिष्ट्योत्पन्न व्यंग्यसंभवा व्यंजना का उदाहरण है।

(५) वाच्यवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ वाच्य अर्थात् वक्तव्य की विशेषता से व्यंग्य प्रकट हो वहाँ वाच्यवैशिष्ट्योत्पन्न वाच्य-संभवा आर्थी व्यंजना होती है।

यहाँ वाच्य पद केवल वाच्यार्थ ही का नहीं लक्ष्य और व्यंग्य का भी उपलक्षण है। किसी किसी का मत है कि जहाँ उत्कृष्ट विशेषणवाले वाक्य की विशेषता से व्यङ्ग्य प्रकट हो वहाँ यह भेद होता है। पर यह लक्षण चिन्त्य है। वाच्य-वैशिष्ट्य का अर्थ वाच्यार्थ की विशेषता ही होनी चाहिये। वाच्य-वैशिष्ट्य के लिये सदा उत्कृष्ट विशेषण आवश्यक नहीं। जैसे—

आज रे कर मोहन-शृंगार।
मुकुल-घूँघट-पट खोल, उड़ा दिशि-दिशि में मधुर प्राबार
रसालों का हिन्दोल!, नाचता पत्र पत्र पर लोल
व्यस्त, व्याकुल-पद चपल वसंत। **आरसी**

उपर्युक्त पंक्तियों के वसंत-कालीन विलास की अभिव्यंजना होती है। जब वसत स्वयं विहार में मस्त है तब किसी को ऐसे समय में विहार से विमुख न होना चाहिये, यही व्यंग्य है।

अखिल यौवन के रंग उभार,
हड्डियों के हिलते कंकाल; कचों के चिकने काले व्याल,
केंचुली काँस सेवार: गूँजते हैं सबके दिन चार।
सभी फिर हाहाकार। **पंत**

इसमें वाच्य-वैशिष्ट्य से संसार की असारता व्यंग्य है।

बेलिन सों लपटाय रही है तमालन की अवली अतिकारी।
कोकिल केकी कपोतन के कुल केलि करैं जहाँ आनँद भारी॥
सोच करो जिन होहु सुखी मतिराम प्रबीन सबै नरनारी।
मंजुल बंजुल पुंजन में घन कुंज सखी ससुरारि तिहारी॥ **मतिराम**

यहाँ प्रणयी-युगल के मिलने का निर्जन एकान्त स्थल सूचित करना वाच्य-विशेष से व्यंग्य है।

एहि निसि धाय सताइ लै स्वेद खेद में मोहि।
काल लाल हू के कहे, संग न स्वावौं तोहि ॥ दास

धाई के बहाने उपपति को सुनाकर दूसरे दिन सुअवसर सूचित करना वाच्य-विशेष से व्यंग्य है। यह अन्य संनिधिवैशिष्ट्य का भी उदाहरण है।

सूखी सुता पटेल की, सूखी ऊखन पेखि।
अब फूली फूली फिरै, फूली अरहर देखि ॥ मतिराम

अरहर को फूली कहने से उसकी विशेष अवस्था सूचित होती है। साथ ही पत्तों और डालों से उसका घना होना भी प्रकट होता है। दूसरे संकेत-स्थान की प्राप्ति अर्थात् दूसरा विहार-योग्य स्थान हो जाना व्यंग्य 'वाच्य-वैशिष्ट्य 'से प्रतीत होता है।

एक ऐसा ही विहारी का भी दोहा है—

सन सूक्यो, बीत्यो बन्यौ, ऊखो लई उखारि।
हरी हरी अरहर अजौं धरि धरहरि जिय नारि ॥

एक और उदाहरण लें—

मैं हूँ वही जिसको किया था विधि-विहित अर्द्धांगिनी।
भूलें न मुझको नाथ, हूँ मैं अनुचरी चिरसंगिनी ॥ गुप्तजी

शोक-प्रकरण में चिरसंगिती, अर्द्धांगिनी आदि शब्दों से यह व्यङ्ग्यार्थ प्रकट होता है कि अभिमन्यु को अपने साथ उत्तरा को भी ले जाना आवश्यक था।

वाच्यवैशिष्ट्योत्पन्नलक्ष्यसंभवा

छिपैं छिपाकर छितिं छुवैं, तम ससिहरि न सँभारि।
हँसति-हँसति चलि ससिमुखी, मुख ते आँचरु टारि ॥ बिहारी

यहाँ अभिसारिका नायिका को उसकी दूती चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर कहती है—अंधकार की परवा क्या है शशिमुखी, अपने मुँह से आँचल हटाकर खूब प्रसन्न होकर चल। यहाँ शशिमुखी विशेषण से यह अर्थ निकलता है कि तुम्हारा मुख तो खुद चन्द्रमा है। उसके प्रकाश में तू भली-भाँति चल। मगर मुख में चन्द्रवत् प्रकाश का होना संभव नहीं। अतः अर्थबाध है। इससे लक्षणा द्वारा नायिका के सौंदर्य

की उज्ज्वलता व्यंजित होती है जो उसे चलने में और उत्साहित करती है। अतः यहाँ लक्ष्य-संभवा व्यंजना है।

वाच्यवैशिष्ट्योत्पन्नव्यंग्यसंभवा

नवल मधुऋतु निकुंज में प्रात। प्रथम कलिका सी अस्फुट गात। **पंत**

यहाँ 'गात' का विशेषण 'अस्फुट' है। 'अस्फुट' शब्द सूचित करता है कि भावी प्रिया के अंग में अभी यौवन नहीं आया है। और, इस व्यंग्यार्थ से दूसरा यह व्यंग्यार्थ प्रकट होता है कि प्रिया का अस्फुट यौवन अत्यन्त सौन्दर्यमय और आकर्षक तो है ही अकलुष भी है। क्योंकि अभी उसका किसी ने उपभोग नहीं किया है। अतः यह वाच्यवैशिष्ट्योत्पन्नव्यंग्यसंभवा आर्थी व्यंजना का उदाहरण है।

३. सुचि सीतल मंद सुगंध समीर सदा दसहूँ दिसि डोलत हैं।
कल कोकिल चातक मोद भरे अनुराग हिये हठि खोलत हैं॥
लपटी लतिका तरुजालन सों तिन पै खग पुंज कलोलत हैं।
चहुँ ओर ते बानिक सों बनि कै बन में बरही बहु बोलत हैं॥ **व्यं-कौमुदी**

बरसात के सुहावने समय का सुंदर वर्णन है। ऐसे समय में कामोंद्दीपन होना स्वाभाविक है। सखी का नायिका के मन में उमंग जगाकर अभिसार कराना—नायक से मिलने के लिये नायिका को प्रेरित करना व्यंग्य है। यदि स्वयंदूती नायिका की उक्ति हो तो इससे पहला व्यंग्य है कि स्थान सुन्दर और एकान्त है और इसीसे दूसरा व्यंग्य यह निकलता है कि चलो वहीं हम लोग विहार करें। अतः यह वाच्यवैशिष्ट्योत्पन्न व्यङ्ग्य से व्यङ्ग्य है।

मा इस निष्ठुर चन्द्रहास की शान मिटाकर छोड़ेंगे।
जिन जीभों ने कहे दुर्वचन उनको पकड़ मरोड़ेंगे।
बहुत दिनों से भरा पाप घट ढेलों से अब फोड़ेंगे।
उपबन की इस करुण कथा को तोड़ पुरी से जोड़ेंगे। **हिन्दीप्रेमी**

रावण की उपस्थिति में सीता के प्रति हनुमान की उक्ति है। इस अशोक-वाटिका में रावण के निर्दय व्यवहार से जो करुण दृश्य उपस्थित है वह लंका में शीघ्र ही उपस्थित होगा। इसमें पहला व्यङ्ग्य है पापी रावण का वध अत्यन्त सहज है। इसीसे यह दूसरा व्यङ्ग्य भी निकलता है कि आप मुक्त होकर शीघ्र राम से मिलेंगी। यहाँ वाच्यवैशिष्ट्य के कारण व्यङ्ग्य से व्यङ्ग्य है।

(६) प्रस्तावबैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ प्रस्ताव से अर्थात् प्रकरण वश वक्ता के कथन में व्यंग्यार्थ का बोध हो, वहाँ प्रस्तावबैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है।

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में, प्रियतम को प्राणों के पण में,
हमी भेज देती हैं रण में क्षात्र धर्म के नाते। **गुप्तजी**

इस पद्य से यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि वे कहकर भी जाते तो हम उनके इस पुण्य कार्य में बाधक नहीं होतीं। उनका चुपचाप चला जाना उचित नहीं था। यहाँ प्रस्ताव या प्रकरण बुद्धदेव के गृहत्याग का है। यह प्रस्ताव न होने से यह व्यंग्य नहीं निकलता।

सुन्यौ आइके ते बहू आयो बाभन कंत।
कुसल पूछिबे के मिसनि लीनी बोलि इकंत॥ **प्राचीन**

यहाँ समाचार पूछने के प्रस्ताव से मैके के ब्राह्मण को एकान्त में बुलाना व्यञ्जित करता है कि वह उसका पुराना प्रेमी है। यदि मैके का बाभन (ब्राह्मण) न होता और समाचार पूछने का प्रस्ताव न होता तो यह व्यंग्यार्थ प्रकट न होता।

कृष्णा सुभद्रा आदि को, अवलोक कर रोते हुए,
हरि के हृदय में भी वहाँ कुछ-कुछ करुण रस-कण चुए॥ **गुप्तजी**

यहाँ निर्विकार कृष्ण भी शोकोद्रेक से न बच सके। इस पद्यार्ध से शोक-प्रकरण के कारण अवर्णनीय दुःख-पारावार का व्यंग्यार्थ प्रकट होता है।

प्रस्तावबैशिष्ट्योत्पन्नलक्ष्यसंभवा

ज्यों-ज्यों बहुबरजी मैं प्राणनाथ, मेरे प्राण अंग न लगाइये जू, आगे दुख पाइबो।
त्यों-त्यों हँसि-हँसि अति सिर पर उर पर कीबो कियो आँखिन के ऊपर खिलाइबो॥
एकौ पल इत-उत साथ तें न जान दीन्हे, लीन्हें फिरे हाथ को कहाँ लौ गुण गाइबो।
तुम तो कहत तिन्हें छाड़ि कै चलन अब, छाड़त ये कैसे तुम्हें आगे उठि धाइबो॥
केशव

यहाँ नायिका के पति के परदेश जाने का प्रकरण है। उसके परदेश जाते समय पति-प्रेम-परायणा नायिका कहती है—'हे नाथ, पहले

तो मैंने अनेक बार रोका कि इतना मेरा लाड़-प्यार न करो, नहीं तो आगे दुख होगा। मगर मैंने जितना ही तुम्हें रोका, तुमने उतना ही अधिक मेरे प्राणों को आँखों पर, हृदय पर लेकर खेलाते रहे। एक क्षण भी इधर-उधर नहीं जाने दिया। मगर अब तुम कहते हो कि मैं तुम्हारे प्राणों को छोड़कर चला जाऊँगा पर ये कैसे तुम्हें छोड़ेंगे। ये तो तुम्हारे जाने के पहले ही उठकर भाग जायेंगे।

इस छंद की अंतिम दो पंक्तियों में कहा गया है कि तुम्हारे जाने के पहले ही हमारे प्राण उठकर भाग जायेंगे। यहाँ प्रियतम के परदेश जाने के पहले ही प्राणों का उठकर भाग जाना वाच्यार्थ बाधित है। इस वाच्यार्थ का बाध होने पर प्राणों के भागने का प्रयोजनवती लक्षणा द्वारा यह लक्ष्यार्थ हुआ कि हे प्रियतम, जब तुम मुझे छोड़कर परदेश चलने की तैयारी करोगे तो तुम्हारे चलने के पहले ही ये मेरे प्राण संकट में पड़ जाँयगें। बँचेगे कि नहीं, कहा नहीं जा सकता। इससे यह व्यङ्ग्यार्थ निकला कि तुमने मेरा इतना लाड़प्यार किया है कि तुम्हारे विना मैं जी नहीं सकती। इसलिये यहाँ प्रकरण-वैशिष्ट्योत्पन्न लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना है।

उपर्युक्त पंक्तियाँ प्रस्ताववैशिष्ट्योत्पन्नव्यंग्यसंभवा आर्थी व्यंजना का भी उदाहरण है। वाच्यार्थ का बाध होने पर जब लक्ष्यार्थ द्वारा यह व्यङ्ग्य निकलता है कि तुम्हारे जाने के पहले ही मैं मर जाऊँगी तब इसी व्यंग्य के द्वारा एक इस दूसरे व्यंग्य का भी बोध होता है कि 'हे प्रियतम, तुम्हारे विना जब मैं जी न सकूँगी, तब तुम परदेश मत जाओ।' क्योंकि, तुम्हीं ने पहले प्यार कर-करके मुझे इतना अनुगत, अनुरक्त और एकप्राण बना लिया है कि एक क्षण भी वियुक्त न रह सकूँगी। सच पूछिये तो पति के रोकने का ही अभिप्राय नायिका का है।

प्रस्ताववैशिष्ट्योत्पन्नव्यङ्ग्यसंभवा

लखन तुम्हार सपथ पितु आना।
सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना। **तुलसी**

जब जंगल में भरत जी सदल-बल रामचन्द्र से मिलने आ रहे थे तब लक्ष्मण ने इतने आदमियों को आते देख कर रामजी से कहा कि जान पड़ता है भरत लड़ाई करने आ रहा है। वह चाहता है कि आप

को मारकर मैं अयोध्या का निष्कंटक राज करूँ ! आप आज्ञा दीजिये तो मैं उसको मार डालूँ। ऐसी बातें सुनने पर राम ने उपर्युक्त पंक्ति कही है। अर्थ है—हे लखन, मैं तुम्हारी और पिता की शपथ खाकर कह सकता हूँ कि भरत जैसा निश्छल और अच्छा भाई और कोई नहीं है। इन बातों से यह व्यंग्य निकलता है कि तुम्हारा विचार अनुचित है। फिर इस व्यङ्ग्य से अन्य यह व्यङ्ग्य भी निकलता है कि तुमको अनन्य भ्रातृभक्त होने का घमंड न करना चाहिये। यहाँ भरत-मिलन का प्रकरण होने के कारण ही एक व्यङ्ग्य से दूसरे व्यंग्य का बोध होता है।

(७) देशवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ स्थान की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ प्रकट हो वहाँ यह भेद होता है। जैसे—

ये गिरि सोई जहाँ मधुरी मदमत्त मयूरन की धुनि छाई।
या वन में कमनीय मृगीन की लोल कलोलनि डोलन भाई॥
सोहे सरित्तट धारि घनी जल वृच्छन की नभ नील निकाई।
बंजुल मंजु लतान की चारु चुभीली जहाँ सुखमा सरसाई॥
सत्यनारायण कविरत्न

यहाँ रामचन्द्रजी के अपने वनवास के समय की सुख-स्मृतियाँ व्यंजित होती हैं जो देश-विशेषता से ही प्रकट हैं।

हौं असक्त ज्यों-त्यों इतहिं, सुमन चुनौंगी चाहि।
मानि विनय मेरी अली, और ठौर तू जाहि॥ **दास**

सखी को हटाने के विनय से यह व्यंग्यार्थ प्रकट है कि यह स्थान प्रियतम से मिलने के लिये निश्चित है जो देश-वैशिष्ट्य से सूचित होता है।

चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवध नरेस।
जा पर बिपदा परत है, सो आवत यहि देस॥

इस दोहे से यह व्यङ्ग्य प्रकट है कि चित्रकूट विपन्न व्यक्तियों को शांतिदायक तथा पवित्र है। अतः यहाँ दुख के दिन बिताने योग्य है। यह बात रामनिवास के कारण इस स्थल की विशेषता से सूचित होती है।

केलि करैं मधुमत्त जहँ, घन मधुपन के पुंज।
सोच न कर तुव सासुरे, सखी सघन बन कुंज॥ **मतिराम**

ससुराल में सघन वन-कुंज कहकर संकेत-स्थान को सूचित करना व्यंग्य है जो देश-वैशिष्ट्य से प्रकट है।

सघन कुंज कुसुमित बिटप, किये असमसर ऐन।
जमुना तीर तमाल ढिग, तजत न छिन-पल मैन ॥ **प्रतापशाही**

स्थान की विशेषता से परपुरुष से मिलने का व्यग्य है। परकीया की उक्ति सखी से है।

देशवैशिष्ट्योत्पन्नलक्ष्यसंभवा

माँडव गढ़ गड़ता जाता है, नित्य धूल खाता है।
जन-समूह उसका शव-दर्शन-पुण्य लूट आता है ॥ **भा० आत्मा**

यहाँ 'माँड़व गढ़' का 'धूल खाना' नितांत असंभव है। न तो धूल भक्ष्य है और न माँड़व गढ़ भक्षक। मगर 'माँड़व गढ़' जैसे स्थान-विशेष के 'धूल खाने' का लक्ष्यार्थ होता है माँड़व गढ़ का दिनोंदिन खँडहर होकर नष्ट होते जाना। इससे यह व्यङ्ग्यार्थ निकलता है कि 'माँड़व' जैसा गौरवशील गढ़ भी आज धूल में लोट रहा है तो दूसरे स्थान की ध्वंसोन्मुखता का क्या कहा जाय। यहाँ स्थान की विशेषता के कारण ही यह व्यङ्ग्यार्थ लक्षणा द्वारा सूचित होता है। यदि 'धूल खाना' मुहावरे में निरूढ़लक्षणा कही जाय तो 'गड़ता' के लक्ष्यार्थ से यह व्यंग्य मानिये।

देशवैशिष्ट्योत्पन्नव्यंग्यसंभवा

घाम घरीक निबारियै कलित ललित अलि पुंज।
जमुना तीर तमाल-तरु मिलत मालती कुंज ॥ **बिहारी**

यहाँ स्वयं निवेदिका नायिका धूप और रास्ते के श्रम से श्लथ एक पथिक से कहती है कि यमुना के तीर पर तमाल-तरु से लिपटे और सुंदर, अलि-पुंजों से गुंजित मालती-कुंज में घड़ी भर यह दुपहरी बिताइये।

यहाँ यमुना के तट (स्थान-विशेष) के कारण ही उस मालती-कुंज की शीतलता का व्यंङ्ग्य है। देश-विशेष के कारण इस व्यंग्यार्थ से एक दूसरा व्यंग्यार्थ यह भी निकलता है कि वह स्थान शीतल होने के अतिरिक्त संगम-स्थल भी है। मैं दोपहर को वहाँ जल लेने जाती हूँ। तुम वहीं चलकर ठहरो। मैं शीघ्र ही आ रही

हूँ। वह जगह ऐसी है कि आदमियों की क्या बात! वृक्ष और लता भी परस्पर मिलन का सुख अनुभव करते हैं। स्थान बड़ा ही उत्तम है। यह दूसरा व्यंग्यार्थ पहले व्यंग्यार्थ के बोध हो जाने पर अवगत होता है। अतः यह व्यंग्यसंभवा देशवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यञ्जना का उदाहरण है। यह उदाहरण 'बोद्धव्य-वैशिष्ट्य' में भी आया है।

(८) कालवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ समय की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ का बोध हो वहाँ कालवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है।

छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधुरी गंध।
ठौर-ठौर झौरत झपत भौंर भौंर मधु अंध ॥ **बिहारी**

मानिनी नायिका की सखी मतवाले वसंत का वर्णन करके उसके मान-मोचन के लिये आग्रह कर रही है। 'इस वसंत काल में तुम्हारा मान किसी प्रकार टिक नहीं सकता। आनंद और रसकेलि के समय कहीं मान किया जाता है!' आदि व्यंग्यार्थ का बसंतकाल के कारण ही बोध होता है। अतः यहाँ वाच्य संभवा कालवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

कहाँ जायँगे प्राण ये लेकर इतना ताप?
प्रिय के फिरने पर इन्हें फिरना होगा आप ॥ **गुप्तजी**

इस पद्य से जो अभिलाषा, जो वेदनाधिक्य व्यंग्य है वह काल-वैशिष्ट्य के कारण वाच्योत्पन्न है।

नही रहत तो जान दे कहा रही गहि फेंट।
घर फिरि अइहैं होत ही बन बागन सों भेंट ॥ **दास**

वसंत ऋतु के कामोद्दीपक होने के कारण, जाने पर भी वन-बागों को देखते ही अर्थात् उनमें वसंत का विकास होते ही लौट आवेंगे। इसमें वसंत में लौटने की आशा का व्यंजित होना कालवैशिष्ट्योत्पन्न वाच्य से है।

ऐ व्रजचंद चलौ किन वाँ व्रज लूकैं वसंत की ऊकन लागीं।
त्यों 'पदमाकर' पेखौ पलासन पावक सी मनौ फूकन लागीं ॥
वै व्रजबारी बेचारी बधू बनबारी हिये लों सु हूकन लागीं।
कारी कुरूप कसाइनै ये सु कुहूकुहू क्वैलिया कूकन लागीं ॥ **पद्माकर**

वसंत काल के वर्णन से कामोद्दीपन व्यंग्य प्रकट है।

कालवैशिष्ट्योत्पन्नलक्ष्यसंभवा

ऊधो यह सूधो सो संदेसो कहि दीजो भले, हरि सों हमार ह्याँ न फूले बन कुञ्ज है।
किसुक गुलाब कचनार औ अनारन की डारन पै डोलत अँगारन के पुञ्ज है॥
पद्माकर

यहाँ विरहिणी गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि 'हे ऊधो भलीभाँति हमारा संदेश कृष्ण से कहना कि उनके यहाँ की तरह यहाँ वसंत में वन-कुंज नहीं फूलते-फलते। यहाँ के किंसुक, गुलाब, कचनार और अनारों की डालियों पर अंगारे झूलते रहते हैं।'

यहाँ डालों पर अंगारों का डोलना कहने से वाच्यार्थ-बाध होता है। मगर वसंत ऋतु के वर्णन से इसका लक्ष्यार्थ निकलता है कि हे ऊधो, इस वसंत में डालों पर जो लाल-लाल फूल दिखाई देते हैं वे (कृष्ण के बिरह में) हम लोगों के लिये फूल नहीं हैं, आग के अंगार के-से दुखदायी हैं। इस लक्ष्यार्थ से यह व्यंग्य निकलता है कि व्रज-वनिताओं का कृष्णविरह असह्य है। अतः यहाँ लक्ष्यसंभवा कालवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यञ्जना है।

इसी पद्य में 'हे ऊधो, कृष्ण से जाकर हम लोगों का यह समाचार कहना कि वसंत में तुम्हारे विरह से गोपियों का हाल बेहाल है और लाल-लाल फूल अंगार की तरह जलाते हैं। इस उक्त के पहले व्यंग्य से दूसरा व्यंग्यार्थ यह निकलता है कि 'शीघ्र गोकुल चले आवो। क्योंकि, इस वसन्त में हम लोग तुम्हारे बिना जी नहीं सकतीं'। इस द्वितीय व्यंग्यार्थ के बोध का कारण यहाँ कालवैशिष्ट्योत्पन्ना आर्थी व्यञ्जना है।

कालवैशिष्ट्योत्पन्न व्यंग्य से व्यंग्य

राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत जानिये प्रान।
दीनवंधु सुन्दर सुखद सील - सनेह - निधान॥ **तुलसी**

यहाँ 'अवधि' से रामवनवास के चौदह वर्ष के नियत समय का अभिप्राय है। साथ मुझे न ले जाने से अवधि तक मेरा जीना असंभव है। यह व्यंग्यार्थ कालवैशिष्ट्य से स्पष्ट है। इस व्यंग्य से यह भी व्यंग्य निकलता है कि मुझे भी साथ ले चलिये। मैं घर न रहूँगी।

ऐसे ही अन्य ऋतुओं, चाँदनी रात आदि से जहाँ व्यंग्यार्थ प्रकट हो वहाँ कालवैशिष्ट्य से उत्पन्न व्यंग्य समझा जाता है।

(९) काकुवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसम्भवा

कंठ-ध्वनि की भिन्नता से अर्थात् गले के द्वारा विशेष प्रकार से निकाली हुई ध्वनि को 'काकु' कहते हैं। जैसे,

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुमहिं उचित तप मोकहँ भोगू॥ **तुलसी**

यहाँ सीता के कथन को जरा बदली हुई कण्ठ-ध्वनि से कहिये—मैं सुकुमारि! नाथ बन जोगू! तुमहि उचित तप! मो कहँ भोगू! तो यह व्यंग्यार्थ प्रकट होगा कि मैं ही केवल सुकुमार नहीं हूँ, आप भी सुकुमार हैं। आप वन के योग्य हैं तो मैं भी वन के योग्य हूँ। जैसे राजा की लड़की मैं वैसे राजा के लड़के आप। तब यह कैसे संभव है कि जिस योग्य आप हैं उस योग्य मैं नहीं और जिस योग्य मैं हूँ उस योग्य आप नहीं। इससे मेरा वन जाना उचित है। दूसरी पंक्ति का भी इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ होगा। फलतः हम दोनों ही के लिये तप और भोग समान हैं। एक जाति, धर्म, गुणवाले को जो उचित है वही दूसरे के लिये भी। इसमें भिन्नता का लवलेश भी न होना चाहिये।

चलत पीय परदेश कौ, वरज सकौं नहि तोहि।
लै ऐहौ आभरन तौ, जियत पायहौ मोहि॥ **मतिराम**

अर्थ स्पष्ट है। इसकी काकु से यह व्यङ्ग्य निकलता है कि मैं तुम्हें रोक सकती हूँ पर नहीं रोकती। और उत्तरार्ध में भी व्यङ्ग्य है—तुम्हारे चले जाने से मैं जीवित नहीं रहूँगी।

छोड़ेगा यदि तू न इसे हठ दोष से।
झपटेंगी तो अभी सिंहिनी रोष से॥
सर्वदमन ने कहा मुँह बना क्यों नहीं।
डरता जो हूँ सिंह देख मैं सब कहीं॥ **मै० श० गुप्त**

व्यंग्य निकलता है कि तुम कितना ही मुझे डराओ, मैं सिंह से नहीं डरता।

काकुवैशिष्ट्योत्पन्नलक्ष्यसंभवा

पीडित की आँखों का पानी नहीं करेगा कुछ मनमानी।
आग लगायेगा न राज में दुष्टों के इस साज-बाज में॥ **हि० प्रेमी**

साधारणतः इसका अर्थ है कि पीड़ितों की आँखों का पानी कुछ मनमानी न करेगा और न राज को तथा दुष्टों के साज-बाज को नष्ट ही

करेगा। पर, काकु से अर्थ होगा कि आँखों का पानी राज में आग लगावेगा ही, आदि। 'पानी का आग लगाना' कहने में अर्थबाध है। इससे लक्षणा द्वारा यह अर्थ होगा कि आँसू राज में कोई न कोई बखेड़ा खड़ा करेगा, विपद् लायेगा। इस लक्ष्यार्थ से काकु के कारण यह व्यङ्ग्य निकलता है कि पीड़ितों का, दुखियों का, सताये हुओं का आँसू कुछ न कुछ अनर्थ पैदा करता ही है, व्यर्थ नहीं जाता।

काकुवैशिष्ट्योत्पन्नव्यंग्यसम्भवा

गने जात हौ साँवरे, सब साधुन में साधु।
सौहें सौहें खात कस, तुम न कियो अपराधु॥ **प्राचीन**

यहाँ काकु से यह व्यंग्यार्थ होता है कि तुमने ही अपराध किया है और इस व्यंग्यार्थ से एक दूसरा यह व्यंग्यार्थ भी ध्वनित होता है कि तुम साधुओं में साधु—अर्थात् कपटियों में भी कपटी हो। तुम्हारा शपथ खाना व्यर्थ है। लाख शपथ खाओ पर मैं तुम्हारा विश्वास नहीं करती।

दृग लखि हैं मधु चन्द्रिका, सुनि हैं कल धुनि कान।
रहिहैं मेरे प्रान धन, प्रीतम करो पयान। **प्राचीन**

यहाँ काकु द्वारा सारे विध्यर्थक वाक्यों का उल्टा अर्थ हो जाता है। अर्थात् तुम्हारे जाने पर मेरी आँखों को चाँदनी अच्छी नहीं लगेगी; मेरे कान मधुर गीत आदि सुन न सकेंगे; मैं जी भी नहीं सकूँगी; इसलिये तुम प्रस्थान मत करो। काकु द्वारा जो इस व्यंग्यार्थ का बोध होता है उससे एक दूसरा व्यंग्य यह निकलता है कि तुम्हारे रहने पर हम लोग वसन्त की चाँदनी रातों में संगीतोत्सव मनायेंगे। अतः यह काकुवैशिष्ट्योत्पन्नव्यंग्यसंभवा का उदाहरण है।

मानस सलिल सुधा प्रतिपाली। जिअइ कि लवण पयोधि मराली।
नव रसाल वन विहरण शीला। सोह कि कोकिल विपिन करीला॥ **तुलसी**

मानसरोवर में पली हंसिनी क्या लवण-समुद्र में जी सकती है? आम्रकुंज में विहार करने वाली कोयल क्या करील के वन में शोभा पा सकती है?

इसी चौपाई को भिन्न ढंग से कुछ जोर देकर पढ़ा जाय तो, यह व्यंङ्ग्यार्थ निकलेगा कि हंसिनी लवण-समुद्र में नहीं जी सकती और कोयल करील-कानन में कभी शोभा नहीं पा सकती। यह काकु उक्ति

से आक्षिप्त व्यङ्ग्य है जो गुणीभूत व्यङ्ग्य का एक भेद है। उक्तिमात्र से ही यह व्यङ्ग्य परिलक्षित हो जाता है। इससे यह साधारण कोटि का है, किन्तु यहाँ काकुवैशिष्ट्य द्वारा जो व्यङ्ग्य से यह व्यङ्ग्य निकलता है कि 'सीता जैसी सुकुमार, जो आजन्म लाड़प्यार से पली है, कभी वन जाने के योग्य नहीं। उसको वन ले जाना उसके साथ अन्याय करना है, उसके ऊपर दुःख का पहाड़ लाद देना है। इससे तुम घर ही रहो। वन भेज देने से दुनिया मुझे अविवेकी और हृदयहीन कहेगी। यह व्यङ्ग्य-संभवा है।

चेष्टावैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ चेष्टा—अर्थात् इंगित—हाव-भावादि द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है, वहाँ उपर्युक्त आर्थी व्यंजना होती है।

कंटक काढ़त लाल के चंचल चाह निबाहि।
चरन खैंचि लीनो तिया हँसि झूठे करि आहि॥ **प्राचीन**

यहाँ झूठ-मूठ की आह भर के और हँस करके चरन खींच लेने से नायिका का किलकिञ्चित व्यङ्ग्य है। इससे यहाँ चेष्टा द्वारा वाच्य-संभवा आर्थी व्यंजना है।

लखि गुरुजन बिच कमल सों सीस छुआयो बाम।
हरि संमुख करि आरसी हिये लगाई स्याम॥ **प्राचीन**

यहाँ चेष्टा-वैशिष्ट्य से स्वागताभिवादन और आलिङ्गन दोनों व्यंग्य हैं। दोनों का अनुराग भी सूचित होता है।

सटपटाति सी ससिमुखी, मुख घूँघट पट ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै, गयी झरोखा झाँकि॥ **बिहारी**

शशिमुखी नायिका सटपटाती हुई झरोखे में झमक कर ऐसी झाँक गयी मानों आग की लपट चमक गयी हो। नायक के इस वर्णन से नायिका का पूर्वानुराग व्यंग्य है। परकीया होने से शंका संचारी भाव भी व्यंग्य है जो चेष्टा-विशेष से प्रकट है।

पुनि आउब इहि बिरियाँ काली। अस कहि बिहँसि उठी इक आली॥

यहाँ सखी के हँसने की चेष्टा से राम के प्रति सीता के हृदय में वर्तमान दर्शनोत्सुकता व्यंग्य है।

आहा! अब हो उठी अचानक वह हुंकारित।
ताव-पेंच खा बनी कालफणिनी फुंकारित॥

द्रौपदी की इस चेष्टा से उसके आत्म-सम्मान पर किये गये प्रहार के कारण क्षुब्ध हृदय का क्रोधावेग व्यंग्य है।

चेष्टावैशिष्ट्योत्पन्नलक्ष्यसंभवा

डिगत पानि डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल।
कंपि किशोरी दरसि कै, खरे लजाने लाल॥ **बिहारी**

एक बार प्रलय की सी वृष्टि से ब्रजवासियों को बचाने के लिये श्रीकृष्ण ने अपने हाथों पर गोवर्द्धन धारण किया था। मगर उसी समय राधिका के दर्शन से उनका हाथ काँप गया और इस घटना से सारे ब्रजवासी बेहाल हो गये।

यहाँ राधिका के दर्शन से श्रीकृष्ण के हस्तकंपन का मुख्यार्थ बाधित है। क्योंकि, किसीके देखने ही से किसीका हाथ नहीं काँप जाता। मगर 'खरे लजाने लाल' इस अंतिम पंक्ति की चेष्टा से कंप का अर्थ हो जाता है प्रेम-जनित सात्विक भाव का उद्रेक। यहाँ यदि लज्जित होने की चेष्टा का प्रकाश नहीं रहता तो कभी दर्शन से कंपन के तात्पर्यार्थ का बोध न होता। इसलिये दर्शन से कंपन के वाच्यार्थ का जो बाध हो रहा था, वह कृष्ण के लज्जित होने की चेष्टा से लक्षणा द्वारा लक्षित उक्तार्थ से मिट जाता है और तब उसका व्यङ्ग्य अर्थ होता है कि कृष्ण राधिका के अनुराग में इतने मग्न थे कि गोबर्द्धनधारी हाथ भी काँप गया और गुरुजनों के सामने अपना भेद खुलते देख कर लज्जित हो गये। इसलिये यहाँ लक्ष्य-संभवा चेष्टा-वैशिष्ट्योत्पन्ना आर्थी व्यंजना है।

चेष्टावैशिष्ट्योत्पन्नाव्यंग्यसंभवा

हार मान पिय सुइ गयो, करि-करि के मनुहार।
प्रात होत लखि तिय उठी, करि पायल झंकार॥ **प्राचीन**

कोई मानिनी नायिका जब अपने प्रियतम के लाख समझाने और मनाने पर नहीं मान सकी तब हार मान कर अंत में नायक सो गया। इसी तरह रात्रि व्यतीत हो चली, पर नायक की नींद नहीं खुली। नायिका की इस प्रतीक्षा का बाँध, कि नायक फिर उठकर मुझे मनाये, जब टूट चला तब बेचारी पलंग से अपने नूपुरों को बजाती हुई उठी अर्थात् मान सहित चलने का उपक्रम करने लगी।

यहाँ मान पूर्वक नूपुरों को बजाते हुए चलने का उपक्रम चेष्टा है।

इस चेष्टा से यह व्यंग्यार्थ प्रकट होता है कि अब प्रभात निकट होने के कारण मैं जा रही हूँ, तुम उठो। नायिका मानिनी थी। अतः प्रियतम को यों नहीं उठा सकती थी। वह अपनी चेष्टा से अपने अभिप्राय को प्रकट कर रही है। मगर, नायिका की चेष्टा सिर्फ—तुम उठो, मैं जा रही हूँ, प्रभात हो चला—इतने ही व्यंग्यार्थ का बोध कराकर पर्यवसित नहीं हो जाती, बल्कि इस व्यंग्यार्थ के बाद—इसके द्वारा इस दूसरे व्यंग्यार्थ का भी बोध कराती है कि ओ प्रियतम, अब मैं मान नहीं करूँगी। तुम उठो। इस थोड़ी सी बची रात्रि को भी यों ही मान और शयन में न गँवाओ। अन्यथा अत्यन्त पश्चात्ताप होगा। नूपुरों की झंकार द्वारा प्रियतम को जगाकर मन को और उद्दीप्त करने की चेष्टा के वैशिष्ट्य से यहाँ व्यंग्यसंभवा आर्थी व्यंजना है।

लै चम्पक को फूल कर पिय दीन्हो मुसकाय।
समुझि सुघरि हिय में दियो किंसुक फूल चलाय॥ **प्राचीन**

इसमें नायक-नायिका के फूल देने की चेष्टा से यह व्यंग्यार्थ प्रकट है कि भौंरा जैसे चंपक फूल के पास नहीं जाता वैसे ही मैं पर-स्त्री के पास नहीं जाता और किंसुक फूल देने से यह व्यंग्य है कि तुम्हारे शरीर में लाल और काला चिह्न सिंदूर और काजल का है, जिससे प्रकट है कि तुम अन्यत्र रमण करके आये हो।

इससे दूसरे व्यंग्य का बोध हुआ कि इस गन्धहीन किंसुक की तरह तुम भी चरित्रहीन और हृदयहीन हो।

पाँचवीं किरण

अनेकवैशिष्ट्योत्पन्न व्यंग्य

कहीं-कहीं एक ही उदाहरण में अनेक-वैशिष्ट्यों से भी एक व्यंग्य प्रतीत होता है। जैसे,

काम कुपित मधुमास अरु, श्रमहारी बह बाय।
कुञ्ज मंजु बन पति अनत करौ सखी कह काय॥ **अनुवाद**

इसमें मधुमास कथन से कालवैशिष्ट्य, कुञ्ज मंजु वन से देश-वैशिष्ट्य, वियोग के प्रकरण से प्रस्ताव-वैशिष्ट्य, इनसे 'यहाँ तू प्रच्छन्न

कामुक को भेज' यह व्यंग्य प्रकट है। इन पृथक् पृथक् विशेषताओं से पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार भी व्यंग्यार्थ सूचित होता है।

बेसुध सोवति सास उत, हौ इत, लखु दिन माँझ।
पथिक रतौंधा सेज तें उढ़क पड़ै जनि साँझ॥ अनुवाद

यहाँ 'वेसुध' सोने की बात से यह व्यंग्य है कि किसी प्रकार की कोई शंका नहीं, कोई डर-भय नहीं। 'हौं इत' से यह व्यंग्य है कि मैं अन्यत्र अकेली ही रहती हूँ और रात भर झपकी भी नहीं लेती। क्योंकि यहाँ 'सोवति' अनन्वित है। दिन में देख लेने से यह व्यंग्य है कि दिन में मिलना असम्भव है और यह भी व्यङ्ग्य है कि मैं कैसी सुन्दरी और युवती हूँ, यह भी समझ लो। 'रतौंधा' कहने से व्यङ्ग्य है कि शय्यानिर्देश का रहस्य कोई समझ न सके। 'पथिक' कहने से यह व्यङ्ग्य है कि थके-माँदे होने के कारण बेसुध हो सो न जाना। 'सेज से टकरा न जाना' कहने से यह व्यङ्ग्य है कि पृथक् रूप से अपनी शय्या का निर्देश करने से किसी को शङ्का करने का अवसर प्राप्त न हो।

यहाँ स्वयंदूती नायिका और कामुक श्रोता के कारण यह व्यंग्य है कि मुर्दे से बाजी लगाकर सोने वाली सास को छोड़कर घर में कोई दूसरा नहीं। इससे बेखटके मेरी शय्या पर आकर सो जाना।

इसमें वक्त्री नायिका और बोद्धव्य पथिक है। यहाँ दोनों की विशेषता से उपर्युक्त व्यंग्य है।

यहाँ का वाच्यार्थ निषेधात्मक है पर व्यंग्यार्थ विधानार्थक।

इसी प्रकार उत्तम काव्य में पद-पद पर व्यंग्य का अमन्द आनन्द प्राप्त होता है।

छठी किरण

शाब्दी और आर्थी व्यञ्जना का क्षेत्र-विभाग

शब्द और अर्थ परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। फिर शाब्दी और आर्थी व्यञ्जना का भेद कैसा ? यह एक प्रश्न है। यह निश्चित है कि शब्द से बोधित होकर ही अर्थ अभिव्यञ्जन करता है और शब्द भी वाच्यातिरिक्त अर्थ का आश्रय लेकर ही व्यञ्जक होता है। अतः शब्द और अर्थ, इनमें जहाँ एक व्यञ्जक होता है वहाँ दूसरा अवश्य उसका सहकारी रहता है। एक की व्यञ्जकता में दूसरे का सहयोग अवश्य मानना ही पड़ेगा। अभिप्राय यह कि केवल शब्द द्वारा या अर्थ द्वारा व्यञ्जना का व्यापार नहीं हो सकता।[१]

शाब्दी में शब्द की प्रधानता रहती है और आर्थी में अर्थ की। इसीसे यह पृथक् पृथक् शाब्दी या आर्थी व्यञ्जना कहलाती है। [२]प्रधानता ही इनके भिन्न भिन्न नाम का कारण है। जहाँ जिसकी प्रधानता हुई वहाँ उक्त नाम से वह अभिहित हुई।

अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के अतिरिक्त एक अन्य वृत्ति वा शक्ति भी मानी जाती है जो सर्वमान्य नहीं है। काव्य के भिन्न-भिन्न पदों के अर्थ का परस्पर अन्वय बोध कराना इस वृत्ति का काम है। अर्थात् जब अभिधा एक एक पद के अर्थ की पृथक् पृथक् उपस्थिति कराकर विरत हो जाती है तब बिखरे हुए उन पदों के अर्थों को परस्पर संबन्ध द्वारा वाक्यार्थ का स्वरूप देने वाली यही शक्ति है। इस वृत्ति का प्रतिपाद्य अर्थ तात्पर्यार्थ है। वाक्य उसका बोधक होता है। जैसे,

तंत्री नाद कवित्त रस सुरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तरै, जे बूड़े सब अंग॥ **विहारी**

(अर्थ) तंत्रीनाद कवित्तरस सरस राग रति रंग में (जो) अधबूड़े (हैं वे तो) बूड़े (नष्ट हो गये) (पर) जो पूर्ण रीति से डूबे (प्रविष्ट हुए) (वे) तरे (प्राप्ताभिष्ट हुए, सुधर गये।)

---

१ शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः।
एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता। **साहित्यदर्पण**

२ प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति।

कवि का तात्पर्य्य यह है कि तंत्री नाद इत्यादि पदार्थ ऐसे हैं जिनमें विना पूर्ण रीति से प्रविष्ट हुए कोई आनन्द नहीं मिलता। यदि इनमें पड़ना हो तो पूर्णतया पड़ो, नहीं तो इनसे दूर ही रहो। (विहारी रत्नाकर)।

सातवीं किरण

व्यङ्ग्यार्थ में काव्यत्व है या वाच्यार्थ में ?

आचार्य शुक्ल लक्षणा और व्यञ्जना द्वारा योग्यता और उपयुक्तता को प्राप्त वाच्यार्थ को ही सर्वोपरि रमणीय मानते हैं। वे कहते हैं—

"वाच्यार्थ के अयोग्य और अनुपपन्न होने पर योग्य और उपपन्न अर्थ प्राप्त करने के लिये लक्षणा और व्यञ्जना का सहारा लिया जाता है। अब प्रश्न यह है कि काव्य की रमणीयता किसमें रहती है ? वाच्यार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ में या व्यङ्ग्यार्थ में ? इसका बेधड़क उत्तर यही है वाच्यार्थ में, चाहे वह योग्य हो वा उपपन्न हो अथवा अयोग्य और अनुपपन्न। मेरा यह कथन विरोधाभास का चमत्कार दिखाने के लिये नहीं है, सोलह आने ठीक हैं। **इन्दौर का भाषण**

यद्यपि शुक्लजी ने समालोचनात्रयी में व्यञ्जना का महत्त्वपूर्ण निर्देश किया है तथापि उनकी यह दृढोक्ति वाच्यार्थ को ही प्रधानता देती है। यदि वाच्यार्थ में ही काव्य की रमणीयता मानी जाय तब 'घुरहू अपने घर गया, क्योंकि वहाँ से उसका बुलावा आया था' यह वाक्य भी काव्य हो जायगा। क्योंकि यहाँ भी वाच्यार्थ है। शुक्लजी आगे लिखते हैं—

कोई रहस्यात्मक या चमत्कारविधायक उक्ति लीजिये। उस उक्ति ही में, अर्थात् उसके वाच्यार्थ ही में, काव्यत्व या रमणीयता होगी, उसके लक्ष्यार्थ या व्यङ्ग्यार्थ में नहीं। जैसे यह लक्षणायुक्त वाक्य लीजिये—

जी कर हाय पतङ्ग मरे क्या ?

इसमें भी यही बात है। जो कुछ वैचित्र्य या चमत्कार है वह इस अयोग्य और अनुपपन्न वाक्य या उसके वाच्यार्थ में ही है। इसके स्थान पर यदि इसका यह लक्ष्यार्थ कहा जाय कि 'जीकर पतङ्ग क्यों कष्ट भोगे' तो कोई वैचित्र्य या चमत्कार नहीं रह जायगा। **इन्दौर का भाषण**

इसमें पहली बात यह है कि शुक्लजी ने उक्ति का अर्थ जो वाच्यार्थ किया है वह ठीक नहीं है। उक्ति का तात्पर्य शब्दावली से है। शब्द

ही उक्त होते हैं और उनका अर्थ वाच्यार्थ होता है। प्रयुक्त शब्द ही रमणीयता का वहन करते हैं। अतः रमणीयता का सङ्केत उन्हींसे होता है।

दूसरी बात यह कि उदाहृत समूचा वाक्य लक्षणायुक्त नहीं है। लक्षणा केवल 'मरे' पद में है। उन्होंने जो यह लक्ष्यार्थ 'जीकर पतङ्ग क्यों कष्ट भोगे' किया है उसमें वाच्यार्थ ही के कुल पद ले लिये हैं। केवल 'कष्ट भोगे' यही लक्ष्यार्थ है।

तीसरी बात यह कि जिस विवरण को आप लक्ष्यार्थ कहते हैं वह तो स्वतः वाच्यार्थ है। क्योंकि उसमें समस्त वाचकों का ही प्रयोग है। जब लक्षकों का प्रयोग होगा तब लक्ष्यार्थ की प्रतीति होगी और तभी चमत्कार होगा।

चौथी बात यह कि शुक्लजी के मतानुसार वाच्यार्थ ही को काव्य माना जाय तो उक्त वाक्यांश का जो 'मरे' का मरना अर्थ होगा उससे तो 'जीकर मरने' के वाच्यार्थ की निर्बाध स्पष्टता ही नहीं होगी। संगति बैठना और उसमें रमणीयता और काव्यत्व का आना कल्पना के बाहर की बात है। जब हम 'मरे' के तत्सम्बन्धी लक्ष्यार्थ 'कष्ट भोगने' पर पहुँचते हैं और उससे जो 'कष्ट भोगने की अतिशयता' व्यञ्जित होती है उसीसे मन चमत्कृत होता है। फिर तभी 'मरे' प्रयोग का कविकौशल समझ में आ जाता है। जब तक हम लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का आश्रय नहीं लेते तब तक इसकी विशेषता का अनुभव नहीं होता।

पाँचवीं बात यह है कि शुक्लजी ने योग्य और उपपन्न वाच्यार्थ में कवित्व तो माना पर उदाहरण व्याहत वाच्यार्थ का ही दिया है। अपने उदाहरणों के विवरण में अयोग्य, अनुपपन्न, अत्युक्त, व्याहत, बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में ही काव्यत्व माना है और उसीमें वैचित्र्य और चमत्कार बतलाया है। शुक्लजी यदि योग्य और उपपन्न वाच्यार्थ का भी उदाहरण देते तो उनका भाव स्पष्ट हो जाता।

छठी बात यह है कि अभिव्यञ्जनावाद भी केवल वाग्वैचित्र्य ही को प्रधानता नहीं देता। सौन्दर्य-विधान भी उसका ध्येय है। उसमें अनुभूति और प्रभाव भी सम्मिलित है। यदि कलाकार कवि केवल वैचित्र्य और उक्त चमत्कार ही पर ध्यान देने लगे तो वह बे पर की उड़ानेवाला चमत्कारवादी ही हो जायगा, प्रकृत कवि न कहलायगा। पिछले खेवे के कवियों को इस तथाकथित चमत्कारवाद ने ही तो चौपट किया।

केवल कल्पना की उड़ान से व्याहत वाच्यार्थ या चमत्कार लाया जाय तो वह या तो तमाशा होगा या बुझौअल। सूरदास का यह पद—

अद्भुत एक अनुपम बाग।
युगल कमल पर गजवर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर सिर पर गिरिवर गिरि पर फूले कंज पराग...... ॥

इसी कोटि का है। इसमें व्याहत वाच्यार्थ और वैसा चमत्कार दोनों हैं।

इससे हमें मानना पड़ेगा कि काव्यत्व केवल अभिव्यञ्जना में, उक्ति-वैचित्र्य में, भणिति-भङ्गि में या व्याहत वाच्यार्थ में ही नहीं होता अपितु रसात्मक सीधे-सादे वाच्यार्थ में, वाच्यार्थ पर आधारित लक्ष्यार्थ में तथा उभयमूलक व्यङ्ग्यार्थ में रहता है। चाहे उस व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जना इतनी सी ही क्यों न हो। अभिव्यञ्जना की सुन्दरता के हम समर्थक हैं, पर उसे ही काव्य नहीं कह सकते। अभिव्यञ्जना भावाभिव्यक्ति की कुशलता मात्र है। अभिव्यञ्जना ही तक काव्यत्व की इतिश्री समझ लेना फेन चाटना है। लक्षक तथा व्यञ्जक शब्दों के प्रयोग निरुद्देश्य नहीं होते। उक्त उदाहरण में लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ ही आकर सहृदयों का हृदयाकर्षण करते हैं।

शुक्लजी का दूसरा उदाहरण और विवरण इस प्रकार है—

आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ?
मैं अपने को आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ॥ **साकेत**

इसका वाच्यार्थ बहुत ही अत्युक्त, व्याहत तथा बुद्धि को सर्वथा अग्राह्य है। ऊर्मिला जब आप मिट ही जायगी तब अपने प्रिय लक्ष्मण को वन से लायेगी क्या? पर सारा रस, सारी रमणीयता, इसी व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में है; इस योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि 'ऊर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है'। इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यंग्यार्थ वा लक्ष्यार्थ नहीं।

इन्दोर का भाषण

जी नहीं। यह बात नहीं। यहाँ फल-लक्षणा मानने पर व्यञ्जना द्वारा जो 'ऊर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है' यह फल व्यञ्जित होता है उसीसे इसमें काव्यत्व है। यदि इसमें यह व्यञ्जना नही होती तो यह वाच्यार्थ काव्यत्व को प्राप्त नहीं होता। जब इसके लक्ष्यार्थ को लेकर व्यंग्यार्थ तक पहुँचते हैं तभी काव्यानन्द उपलब्ध होता है।

निर्व्यंग्य ऊटपटांग वाच्यार्थ कोई मर्मोद्घाटन ही नहीं कर सकता।

एक बात और। शुक्लजी ने जो योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थ लिखा है वह व्यंग्यार्थ है ही नहीं। वह तो शुद्ध वाच्यार्थ है। क्योंकि, उसके अभिधायक वाक्य में सब के सब वाचक शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं। अतः वाक्यार्थ व्यंग्यार्थ नहीं वाच्यार्थ ही है। अब उसमें रस और रमणीयता आवे तो कहाँ से ? साकेत की उदाहृत पंक्ति से ही औत्सुक्य भाव की व्यञ्जना होती है, शुक्लजी के लिखित वाक्य से नहीं। इसलिये कवि-कृत वाक्य औत्सुक्य का व्यञ्जक है और औत्सुक्य व्यंग्य है। वही यहाँ काव्यत्वाधायक है। यही बात शुक्लजी के प्रथम उदाहरण में भी है। एक पद्य देखें—

छाया के चरणों में वन की परिधि बन गयी ध्वंस कहानी।
साँसों की लहरों से कम्पित ज्वाल सिन्धु मधुरस पाषाणी॥ **नया कवि**

शुक्लजी के कथनानुसार इसके व्याहृत वाच्यार्थ में कविता है पर सहृदय साहित्यिक कहेंगे कि इसमें भाव की जगह भूसा भरा हुआ है। शुक्लजी भी कहते हैं—

ऐसी वस्तु-व्यञ्जना, जिसकी तह में कोई भाव न हो, चाहे कितने ही अनूठे ढंग से की गयी हो, चाहे उसमें कितना ही लाक्षणिक चमत्कार हो, प्रकृत कविता न होगी, सूक्ति-मात्र होगी। **काव्य में रहस्यवाद**

फिर आगे चलकर शुक्लजी कहते हैं—

अब पूछिये कि जो योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थ खोदकर निकाला जाता है उसका काव्य में प्रयोजन क्या है, वह किस काम आता है। काव्य तो वह है नहीं, काव्य तो है अयोग्य, अनुपपन्न, बुद्धि को अग्राह्य उक्ति। सुनिये, वह काव्य नहीं काव्य को धारण करनेवाला सत्य है, जिसकी देखरेख में काव्य मनमानी क्रीड़ा करता है। **इन्दौर का भाषण**

शुक्लजी के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे लक्षणा या व्यञ्जना का उपयोग केवल काव्य में संभावित असंबद्धता या असत्यता के निराकरण ही तक सीमित मानते हैं, काव्यत्व-विधान में उसकी कोई उपयोगिता नहीं मानते। पर उनका यह अभिप्राय केवल अव्याप्त ही नहीं असंगत भी है। केवल अयोग्य, अनुपपन्न अथवा बुद्धि को अग्राह्य उक्ति तो प्रलापमात्र ठहरेगी। उससे किसी प्रकार का यथार्थ ज्ञान संपन्न ही नहीं होगा। फिर सहृदय को उस प्रलाप से क्या सन्तोष होगा ? इसलिये लक्षणा या व्यञ्जना अपने व्यापार से जब उस अयोग्य अर्थ को

योग्य बना देगी तभी सुसंगत अर्थ प्रतीत होगा और तभी कोई उसके परिशीलन से तृप्ति प्राप्त करेगा। अभिप्राय यह कि विकल वाच्यार्थ में तब तक अभिधा के अतिरिक्त अन्य शक्तियों की सहायता से सकलता न आयेगी तब तक सम्पूर्ण काव्यार्थ ही स्थिर न होगा, आनन्ददायकता और मनोरञ्जकता तो दूर की बात है। अन्यत्र आनन्द ज्ञान का फल होता है और इसलिये उनमें पौर्वापर्य रहता है। अर्थात् पहले ज्ञान हो जाता है, पश्चात् आनन्द की उपलब्धि होती है। पर काव्य में यह क्रम नहीं रहता। वहाँ ज्ञान और आनन्द साथ ही साथ चलते हैं। अतः काव्यानन्द ज्ञानात्मक सत्य की उपेक्षा करके स्वतन्त्रता से निष्पन्न नहीं हो सकता; सत्य से संवलित होकर ही निष्पन्न होता है। इसलिये यह कहना कि व्याहत, अनुपपन्न, बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ काव्यत्व की सिद्धि पहले कर देता है, बाद को सत्य उसे सम्हालता है, नितान्त असंगत है। यह कथन अव्याप्त भी है जैसा पहले कहा गया है। जहाँ उपपन्न और अव्याहत वाच्यार्थ से व्यञ्जना द्वारा भाव या रस की अनुभूति होती है वहाँ शुक्ल जी की प्रिय व्याहति या अनुपपन्नता न रहने पर भी केवल काव्यत्व ही नहीं होता, प्रत्युत उसे उत्तम काव्य की उपाधि प्राप्त होती है। अतः वाच्यार्थकी इतनी वकालत न करनी चाहिये थी जो व्यर्थ ही शास्त्रीय प्रक्रिया को भ्रान्त ठहरा दे। एक उदारहण लें—

सुत बित नारि भवन परिवारा। होंहि जाँहिं जग बारहिं बारा।
अस बिचारि जिय जागहु ताता। मिलहि न जगत सहोदर भ्राता॥ **रामायण**

इस प्रसङ्ग पर किसी भी सहृदय की आँखों से करुणा उमड़ पड़ेगी। क्यों? यहाँ तो व्याहत वाच्यार्थ नहीं, अव्याहत ही है। कोई अलंकार नहीं और न उक्ति-वैचित्र्य ही है। फिर इसमें क्या बात है जो ये पंक्तियाँ तीर की तरह हृदय पर असर करती हैं? वही व्यञ्जना। इस प्रसङ्ग से जो करुण रस की व्यञ्जना होती है वही इसमें काव्यत्व ला देती है। केवल यही नहीं, उत्तम काव्य की कोटि तक पहुँचा देती है। इससे वाच्यार्थ में काव्यत्व नहीं, प्रत्युत व्यञ्जनायुक्त वाच्यार्थ में ही काव्यत्व है।

यदि शुक्लजी का वाच्यार्थ से यह अभिप्राय हो कि वाच्यार्थ ही लक्षणा और व्यञ्जना का मूल है। इससे उसीकी प्रधानता है। इसको तो सभी आचार्य मानते हैं। वाच्यार्थ तो किसी अवस्था में भी बाद नहीं दिया जा सकता। बिना वाच्यार्थ के व्यङ्ग्यार्थ का उत्थान

हो संभव नहीं है। हमारा पक्ष केवल यही है कि व्यञ्जक वाक्य में भी काव्यत्व है। चाहे यह व्यञ्जना रस-भाव की हो चाहे वस्त्वलङ्कार की। अव्यञ्जक वर्णन काव्य कहलाने योग्य नहीं। हाँ, वाच्यार्थ-चमत्कार-युक्त वर्णन भी काव्य हो सकता है पर उसका दर्जा तीसरा है। इसीसे उत्तम काव्य को ध्वनि कहा गया है अर्थात् जिस काव्य से ध्वनि निकले, उत्तम व्यञ्जना हो वही उत्तम है। यदि शुक्लजी का उक्त अभिप्राय न हो तो हमें दुःख के साथ उनका विरोध करना पड़ता है।

शुक्लजी ने कहने को तो कह दिया कि वाच्यार्थ में ही काव्यत्व है पर उनके वक्तव्य से ही उनका एक प्रकार से खण्डन हो जाता है। भ्रमरगीतसार में सूरदास की इन पंक्तियों—

"सूरदास प्रभु वै अति खोटे यह उनहूँ ते अति ही खोटी ॥"
"सूरदास सरबस जो दीजै कारो कृतहि न मानै ॥"

की आलोचना में एक स्थान पर आप लिखते हैं—

पर यह वचन कहाँ तक ठीक है, इसका निर्णय इस प्रश्न के उत्तर द्वारा झटपट हो सकता है। 'सूरदास प्रभु वै अति खोटे' 'कारो कृतहि न मानै।' इन दोनों वाक्यों में वाच्यार्थ के अतिरिक्त संलक्ष्य या असंलक्ष्य किसी प्रकार का व्यंग्यार्थ भी है या नहीं ? यदि किसी प्रकार का व्यंग्य नहीं है तो उक्त कथन ठीक हो सकता है। पर किसी प्रकार का व्यंग्य न होने पर ये दोनों वाक्य रसात्मक न होंगे, इनमें कुछ काव्यत्व न होगा। पर हमारे देखने में दोनों वाक्य असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के कारण रसात्मक हैं। × × सखी का यह विनोद हर्ष का ही एक स्वरूप है और संचारी के रूप में प्रिय सखी राधा के प्रति रतिभाव की व्यंजना करती है। × × इसी प्रकार दूसरा पद विरहाकुल गोपी का वचन है जिससे कुछ विनोदमिश्रित अमर्ष व्यञ्जित होता है। यह अमर्ष भी यहाँ रतिभाव का व्यञ्जक है······ ।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शुक्लजी का वाच्यार्थ में काव्य की रमणीयता मानना 'वदतो व्याघात' है। दोनों पंक्तियों में वाच्यार्थ है, कुछ अटपटी उक्ति भी है, फिर भी वे इन्हें बिना व्यंग्य के काव्य नहीं मानते। यहाँ काव्य की रमणीयता व्यंग्य में ही है जो उनकी ही व्याख्या से झलकती है। यहाँ की व्यञ्जना ने ध्वनिरूपता को प्राप्त कर लिया है।

सादर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यौं हमरो मन मोहैं।
पूछति ग्रामबधू सिय सों 'कहौ साँवरे से, सखि, रावरे को हैं ? तुलसी

'गोस्वामी तुलसीदास' में शुक्लजी उक्त पद्यार्थ की व्याख्या में लिखते हैं—

'चितै तुम त्यौ हमरो मन मोहै' कैसा भावगर्भित वाक्य है। ......राम सीता की ओर ही देखते हैं उन स्त्रियों की ओर नहीं। उन स्त्रियों की ओर ताकते तो वे कहतीं कि 'चितै हम त्यौ हमरो मन मोहै' ......अतः हम के स्थान पर इस तुम शब्द में कोई स्थूल दृष्टि से चाहे 'असंगति' का ही चमत्कार देख संतोष कर ले, पर इसके भीतर जो पवित्र भावव्यञ्जना है, वही सारे वाक्य का सर्वस्व है।

शुक्लजी की यह व्याख्या साफ बताती है कि चमत्कारविधायक उक्ति ही सब कुछ नहीं है। वाक्य का जो मर्म है वही सर्वस्व है और वह मर्म है व्यंजना चाहे वह रस की हो या भाव की। वाग्वैदग्ध्य-प्रधान वाक्य में रस ही जीवन है, इस सिद्धान्त को उन्होंने सर्वत्र माना है। एक स्थान पर वे स्पष्ट लिखते हैं—

'जो लोग कथन की चतुराई या अनूठेपन को ही काव्य समझा करते हैं उन्हें अग्निपुराण के इस वचन पर ध्यान देना चाहिये—

वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।

भावव्यंजना, वस्तुवर्णन और तथ्यप्रकाश सबके अन्तर्गत चमत्कारपूर्ण कथन हो सकता है। जायसीग्रन्थावली

इस कथन से वाच्यार्थ में ही काव्यत्व है, इस सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है और व्यंग्य में काव्यत्व रहता है, इस सिद्धान्त का स्थापन। क्योंकि काव्यत्व का जीवन जो रस है वह व्यंग्य ही होता है, वाच्य नहीं। वे काव्य की उक्ति का प्रधान लक्ष्य वस्तु या विषय के सम्बन्ध में किसी भाव या रागात्मक स्थिति का उत्पन्न करना ही मानते हैं। यह तभी संभव है जब कि उक्ति के अनूठेपन के साथ रस या भाव की झलक हो जो व्यंजना से ही सम्भव है।

जायसी-ग्रन्थावली में एक स्थान पर शुक्लजी लिखते हैं—

आठ वर्ष के दीर्घत्व के अनुमान के लिये फिर उसने यह दृश्य आधार सामने रखा—

आइ साह अमराव जो लाये। फरे झरे पै गढ़ नहि पाये।

सच पूछिये तो वस्तुव्यञ्जनात्मक या ऊहात्मक पद्धति का इसी रूप में अवलंबन सब से अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

शुक्लजी के पूर्व-कथनानुसार इसमें काव्यत्व नहीं होना चाहिये। क्योंकि, इस उक्ति में न रस है और न चमत्कार। वाच्यार्थ स्पष्ट है।

पर सिद्धान्त के अनुसार इसमें काव्यत्व है। इसमें इस वस्तु की व्यञ्जना है कि आठ वर्ष बीत जाने पर भी साह गढ़ नहीं ले सके। शुक्लजी भी वस्तुव्यंजना का समर्थन करते हैं और इस पद्धति को अधिक उपयुक्त बताते हैं।

शुक्लजी के उक्त वाच्यार्थ-सिद्धान्त के अनुसार इसे भी काव्य न कहना चाहिये—

रोवहिं रानी तजहिं पराना। नोचहिं बार करहिं खरिहाना।
चूरहिं गिउ अभरन उरहारा। अब कापर हम करब सिंगारा।
जाकहँ कहहिं रहसि कै पीऊ। सोइ चला यह कायर जीऊ।
मरै चहहिं पर मरै न पावहिं। उठै आगि सब लोग बुझावहिं। **जायसी**

इसमें सीधी-सादी बातें हैं पर हैं वे कुछ लक्षणा को लेकर अतिशयोक्तिपूर्ण। शुक्लजी यहाँ केवल विषाद की व्यंजना ही नहीं बल्कि करुण रस की पूरी व्यंजना मानते हैं। क्योंकि विभाव के अतिरिक्त रोना और बाल नोचना अनुभाव और विषाद संचारी भी है। इसमें काव्यत्व लानेवाली रसव्यंजना ही है न कि उसका वाच्यार्थ।

बाल नोचकर खरिहान करना और आभरण को चूर-चूर करना में जो प्रयोजनवती लक्षणा है उससे विषाद की तीव्रता व्यंजित होती है जो काव्य का उत्कर्ष बढ़ा देती है और मन को रागात्मक बनाकर भाव में लीन कर देती है। यह शक्ति वाच्यार्थ में कभी संभव नहीं है।

कोई कितना हू वाच्यार्थ-चमत्कार की चर्चा करे पर वह व्यंग्यार्थ-वैभव को पा नहीं सकता। व्यंग्यार्थ के काव्यत्व को कोई मिटा नहीं सकता।

आठवीं किरण

पाश्चात्य काव्यव्यञ्जना

आधुनिक हिन्दी काव्य में लाक्षणिक प्रयोगों की अधिकता के साथ ध्वनि और व्यञ्जना पर भी कवियों का लक्ष्य है। व्यञ्जना को अंग्रेजी में सजेस्टिवनेस (Suggestiveness) कहते हैं।

यह प्राच्य शास्त्रानुमोदित व्यञ्जना से कोई पृथक् वस्तु नहीं है। आधुनिक काव्य की ध्वनि-व्यञ्जना न तो भारतीय ध्वनि-व्यञ्जना से

भिन्न ही है और न तो उससे सम्बन्ध विच्छिन्न करके पाश्चात्य व्यञ्जना से निकट सम्पर्क ही रखती है। उसका तत्व सर्वत्र एक सा है। भले ही आधुनिक व्यक्तिप्रधान बुद्धिवाद उसके स्वरूप पर थोड़ा सा पर्दा डाल दे। [1]अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध साहित्य-समालोचक एबरक्रांबी का कथन सर्वदा इसके अनुकूल है।

रिचार्ड्स आदि आधुनिक विदेशी समालोचकों ने भी व्यञ्जना के सम्बन्ध में विचार किया है। पर, वस्तुतत्त्व में परमार्थतः कोई भेद नहीं है। उनकी केवल विचार-प्रणाली-मात्र भिन्न है। इसीसे हिन्दी के आधुनिक विवेचक बहक कर यह समझने लगे हैं कि यह सर्वथा नयी वस्तु है। प्राच्य साहित्याचार्यों ने आर्थी व्यञ्जना का जितना सूक्ष्म विचार किया है वहाँ तक पाश्चात्य विवेचक अभी कदाचित् ही पहुँच पाये हैं। शाब्दी व्यञ्जना की विवेचना भी नयी उपज नहीं है। प्राच्य विवेचना भी उसे अपनाती है। रिचार्ड्स के एक उदाहरण की यह एक पंक्ति है—

Be angry and despatch. (क्रुद्ध हो और मार भगावो।

इसमें डिस्पेच (Despatch) शब्द जहाँ यह व्यञ्जित करता है कि 'मारो', 'हटाओ' 'दूर करो' वहाँ साथ ही साथ मारने के काम में 'त्वरा' और 'आवेग' भी। इससे यह ध्वनि स्पष्ट है कि 'इसे परलोक में जल्द से जल्द भेज दो'। Despatch शब्द में जो यह शक्ति है वह किल (kill) मारो या डिस्ट्राय (Destroy) नष्ट करो, में नहीं है। इस उदाहरण में भारतीय शाब्दी व्यञ्जना का स्पष्ट स्वरूप है।

इसी प्रकार निरालाजी की इन पंक्तियों को लेकर आलोचना की गयी है—

फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित-गहन-गिरि-कानन
कुञ्ज-लता-पुञ्जों को पार कर पहुँचा—

---

१ Literary art therefore, will always be in some degree suggestion; and the height of literary art is to make the power of suggestion in language as commanding, as far-reaching, as vivid, as subtle as possible. This power of suggestion suppliments whatever language gives marely by being plainly understood, what it gives in this way is by no means confined to its syntax.

Principles of literary criticism Page 39.

दूसरी पंक्ति में प्रयुक्त ह्रस्व वर्ण पवन की गति की तीव्रता प्रकट करते हैं। पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि पवन सरपट भागा जाता है। पर, तीसरी पंक्ति के नाद से ज्ञात होता है कि वह लता-पुञ्जों में उलझ कर लुञ्ज सा हो गया है।

यह नाद-व्यञ्जना है। कोई नयी वस्तु नहीं। इसका भी विवेचन हमारे यहाँ यथेष्ट है। सुप्रयुक्त भावानुगुण अनुप्रास, वृत्ति और गुण, नाद-व्यञ्जना के ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपान्तर हैं जिनकी विवेचना अन्यत्र होगी। [1]उद्योतकार का कहना है कि रसादि ध्वनि का द्योतन न होने पर भी अलङ्कृत शब्द द्वारा व्यञ्जित आस्वाद की उपयोगिता भी काव्य में है।

पर आधुनिक विचारक आधुनिक हिन्दी-कविता की ध्वनि-व्यञ्जना को पाश्चात्य suggestiveness का रूपान्तर मात्र मानते हैं और उसीसे इसका निकट सम्बन्ध बताते हैं और ध्वन्यालोक में वर्णित ध्वनि से उसे दूर समझते हैं। जैसे—

[2]"निकट निरीक्षण से ज्ञात होगा कि आधुनिक काव्य में ध्वनि-व्यञ्जना ध्वन्यालोक में अनुमोदित ध्वनि की अपेक्षा पाश्चात्य काव्य-साहित्य की व्यञ्जना (suggestiveness) से कहीं अधिक निकट है। वास्तव में आधुनिक काव्य का आदर्श पाश्चात्य ध्वनि और नाद-व्यञ्जना में है। पृष्ठ ४४

"हमारे कवि पश्चिमी कला के भक्त बन गये और उन्होंने पश्चिमी काव्यालङ्कार और पश्चिमी काव्य-परिभाषा को ग्रहण किया। काव्य की परिभाषा उन्होंने ध्वनि और व्यञ्जना के रूप में स्वीकार की जो पश्चिमी suggestiveness की रूपान्तर मात्र है। पृष्ठ १४३

इस उद्धरण की विवेचना करने के पूर्व व्यञ्जना और suggestiveness के [3]अर्थ पर ध्यान देना आवश्यक है।

---

१ अलङ्कृतशब्दव्यञ्जकस्यास्वादस्य विभावाद्यप्राप्तौ शृंगारादिविशेषानाश्रयत्वेनाकिञ्चित्करत्वादलङ्कृतार्थोपजीव्यत्वाच्छब्दानामप्यावश्यकत्वेन द्वयोरप्यास्वादोपकारकत्वात् कविसंरम्भगोचरत्वाच्चोपादेयता। प्रदीपोद्योत

२ डाक्टर श्रीकृष्णलाल लिखित 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास'।

३ व्यञ्जना—The last of three powers of a word by vertue of which it suggests or insenuates a sence. (सारार्थ—शब्द की तीसरी शक्ति)

Suggested sence—ध्वनित, व्यङ्ग्य अर्थ।

suggestive—व्यञ्जक, सूचक, प्रबोधक।

दोनों में अर्थ का किसी प्रकार अन्तर नहीं है। फिर हम इसको कैसे मान लें कि प्राचीन व्यंजना आधुनिक व्यंजना से निकट या दूर है। यदि पहली दूसरी का रूपान्तर है तो दूसरी भी पहली का रूपान्तर कही जायगी। क्योंकि दोनों का विषय एक है।

अब कुछ उदाहरणों पर विचार कीजिये जो उसी पुस्तक में आये हैं और लेखक ने ही उनकी व्यंजना का निर्देश किया है।

चला जा रहा हूँ पर तेरा अन्त नहीं मिलता प्यारे।
मेरे प्रियतम तू ही आकर अपना भेद बता जा रे। **सुमन**

लेखक यहाँ बौद्ध दुःखवाद के आधार पर भावना की व्यंजना बतलाता है। पर यह यथार्थ नहीं। क्योंकि एक तो यहाँ बौद्ध दुःखवाद का कोई प्रसंग नहीं है, सूफी विरहवाद का भले ही हो। दूसरे जिस भावना की व्यंजना का वह निर्देश करता है उसे स्पष्ट नहीं करता। भावना चित्त की सामान्य अन्तर्मुख वृत्ति है। वह अनेक प्रकार की होती है। यहाँ भावना का कौन-सा विशेष रूप व्यंजित होता है, यह प्रश्न निरुत्तर ही रह जाता है। इसलिये यों कहा जाय कि इससे श्रम संचारी की व्यंजना होती है तो स्पष्टता आ जायगी।

स्वर्ण सुमन देकर न मुझे जब तुमने उसको फेंक दिया।
होकर क्रुद्ध हृदय अपना तब मैंने तुमसे हटा लिया।

सि० रा० श० गुप्त

इस पद्य से लेखक गम्भीर आध्यात्मिक अनुभवों की व्यंजना बतलाता है। किन्तु सम्पूर्ण कविता के मनन से, इस वस्तु की व्यंजना होती है कि अभिलपित वस्तु के अनायास प्राप्त न होने में भगवान का यह गूढ़ आशय रहता है कि तुम्हें सुअवसर प्राप्त है, यथेष्ट चेष्टा करो और अभीष्ट लाभ करो। यहाँ का अनुभव जितना आध्यात्मिक नहीं उतना आधिभौतिक है। क्योंकि लोक में देखा जाता है कि किसी से कोई वस्तु माँगी जाय और वह न मिले तो स्वभावतः याचक के मन में यह क्रोध-मिश्रित स्पर्धा उत्पन्न होती है कि कठिन कष्ट उठाकर भी वह वस्तु लायी जाय और न देनेवाले को दिखाकर उसे लज्जित किया जाय। ऐसा करने से वह श्रम का मर्म समझ जाता है। यहाँ चपलता, जिसमें मात्सर्य, द्वेष आदि रहते हैं और अमर्ष, जिसमें अपमान आदि

कारण होते हैं, संचारी भाव भी व्यंग्य हैं जो कविता पढ़ने से अनायास उद्बुद्ध हो जाते हैं।

इन दोनों तथा ऐसे ही उदाहरणों में Suggestiveness का कोई नया रूप नहीं दिखायी पड़ता। हाँ, भाव, वस्तु आदि की जगह भावना, अनुभव आदि जैसे भ्रामक शब्दों का रखना स्यात् उसका नया रूप हो। एक उदाहरण देखें—

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं, नर पशु निरा है और मृतक समान है। **म० प्र० द्विवेदी**

इसमें जिसे 'मातृभूमि के प्रति प्रेम-भावना की व्यंजना' बताया गया है, उसे हम देश के प्रति रतिभाव की व्यंजना कहते हैं। यद्यपि दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है, पर मेरा कथन नवीन ढंग का नहीं, शास्त्रीय परिभाषा के अनुकूल है। प्रेम की व्यंजना में एक उदाहरण दिया गया है—

वे बज्र के हृदय जो उसके लिये न तरसें,
वे नैन ही न हैं जो उसके लिये न बरसें,
पाई हुई प्रतिष्ठा पुरुषत्व की गँवाई,
ले जन्म जन्म-भू से जिसने न लौ लगाई। **भगवानदीन पाठक**

इसमें प्रेम व्यञ्जित नहीं, वर्णित है। यहाँ व्यञ्जना को घसीटना व्यर्थ का प्रयास है।

इसी प्रकार के उदाहरणों में यह कवित्त है जिसमें व्यञ्जना की छीछालेदर की गयी है।

कज्जल के कूट पर दीपशिखा सोती है कि श्यामघनमंडल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अङ्क में कलाधर की कोर है कि राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है।
'शंकर' कसौटी पर कंचन की लीक है कि तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि ढाल पर खाँडा कामदेव की दुधारा है।

इसके सम्बन्ध में लेखक लिखता है कि विविध अलङ्कारों की व्यञ्जना रीति कवियों का अतिप्रिय विषय था। आधुनिक कवियों ने इसी शैली में उसका अनुसरण किया। उक्त उदाहरण में सन्देह अलङ्कार की व्यञ्जना नहीं, वर्णन है। सन्देह का वाचक 'कि' बार-बार प्रयुक्त हुआ है।

पाश्चात्य विचार में स्यात् कल्पना और चित्र भी व्यञ्जित होते हैं। क्योंकि, लेखक ने लिखा है—कवि किसी वस्तु के देखने से जो विचार और भाव, जो कल्पना और चित्र हृदय अथवा मस्तिष्क में उठते हैं, उनकी व्यञ्जना करता है।

अब तक हम लोग कल्पना या कल्पना-तत्व को काव्य-रचना के लिये अनिवार्य आधार मानते थे। कवि की वह ईश्वरदत्त शक्ति व्यङ्ग्य कभी नहीं होती। कल्पना द्वारा जो चित्र खड़ा होता है उसीसे वस्तु, भाव आदि की व्यञ्जना होती है। लेखक स्वयं इस तत्व को जानता है। क्योंकि एक स्थान पर वही लिखता है—लहरों का मधुर संगीत और पद्मों पर भ्रमरों की गुंजार सहस्रों वर्ष पूर्व खींच ले जाती है और कवि अपने कल्पनायान पर चढ़कर यमुना और वृन्दावन के अतीत गौरव का दृश्य देखता है। उसका इस सम्बन्ध का एक उदाहरण है—

बता कहाँ अब वह वंशीवट कहाँ गये नट नागर श्याम ?
चल चरणों का व्याकुल पनघट कहाँ आज वह वृन्दाधाम ?
कभी यहाँ देखे थे जिनके श्याम विरह से तप्त शरीर,
किस विनोद की तृषित गोद में आज पोंछती वे दृगनीर। **निराला**

इसमें 'स्मृति' संचारी भाव की व्यञ्जना स्पष्ट है। यहाँ वर्णनीय वस्तु से यह भाव ही व्यञ्जित होता है, कल्पना और चित्र नहीं। बल्कि कल्पना द्वारा जो चित्र उपस्थित होता है वही व्यञ्जना की भित्ति है। लेखक इष्टदेव के मिलन पर आराधिका के अनुभव और भावों की व्यञ्जना का उदाहरण देता है—

कड़ी आराधना करके बुलाया था उन्हें मैंने,
पदों के पूजने के ही लिये थी साधना मेरी ;
तपस्या, नेम, व्रत करके रिझाया था उन्हें मैंने,
पधारे देव पूरी हो गयी आराधना मेरी।
मुँदी आँखें सहज ही लाज से नीचे झुकी थी मैं,
कहें क्या प्राणधन से यह हृदय में सोच हो आया ;
वही कुछ बोल दें पहले परीक्षा में रुकी थी मैं।
अचानक ध्यान पूजा का हुआ झट आँख जो खोली,
हृदयधन चल दिये मैं लाज से उनसे नहीं बोली,
नहीं देखा उन्हें बस सामने सूनी कुटी देखी,
गया सर्वस्व अपने आपको दूनी लुटी देखी (?) **सु० कौ० चौहान**

यहाँ इष्टदेव का मिलन वर्णित नहीं है, बल्कि मिलन की सम्भावना का आकस्मिक अभाव वर्णित है। यहाँ अवितर्कित इष्टापहरण से 'चिंता' संचारी की स्पष्ट व्यञ्जना होती है। जो अनुभव की व्यञ्जन बतायी गयी है, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि, अनुभव व्यञ्जित नहीं, स्पष्ट प्रतिपादित है।

लेखक की उक्ति है कि सचेतन कला के दो अङ्ग हैं—पदों में सङ्गीत और चित्रव्यञ्जना। जैसे—

झूम झूम मृदु गरज गरज घन घोर!
राग अमर अम्बर में भर निज रोर!
झर झरझर निर्झर गिरि सर में,
घर, मरु तरु-मर्मर सागर में·········निराला

यहाँ प्रस्तुत अर्थ को प्रत्यक्षगोचर कर देने में समर्थ प्रयुक्त शब्दों की झंकार या नादसौष्ठव रूप सङ्गीत तो माना भी जा सकता है, पर यह चित्र की व्यञ्जना क्या है? शब्दों के द्वारा उपस्थापित चित्र तो प्रत्यक्ष ही है। उसकी व्यञ्जना कैसी?

उपर्युक्त उदाहरणों और उनके विवरण से स्पष्ट है कि लेखक व्यञ्जना शब्द की बारीकी का खयाल नहीं करता। वह साधारण वर्णन और सामान्य अर्थ-प्रकाशन में भी व्यञ्जना शब्द का प्रयोग कर देता है।

कहा नहीं जा सकता कि यही अंग्रेजी Suggestiveness का रंग रूप है! यदि सचमुच यही है, मैं ऐसा नहीं समझता, तो विचारकों पर मुझे तरस आता है। और, यदि ऐसी बात नहीं तो आधुनिक हिन्दी भाषा के विचारकों की दशा बड़ी दयनीय है।

पाँचवीं किरण

(क) *व्यञ्जना-वैचित्र्य*

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की भिन्नता के कारणों का यहाँ उल्लेख किया जाता है, जिनसे व्यञ्जना का वैचित्र्य प्रकट होता है।

[1] **बोद्धा के भेद से भेद**—केवल पद और पदार्थ जाननेवाले को भी वाच्यार्थ का ज्ञान हो जाता है। किन्तु, व्यंग्यार्थ का ज्ञान सहृदयों को ही होता है। वाच्य अर्थ के बोद्धा—ज्ञाता केवल शब्दशास्त्री हो सकते

---

* बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यंग्यः॥ सा० द०

हैं परन्तु व्यंग्यार्थ के बोद्धा वे कभी नहीं हो सकते। यह व्यंग्यार्थ केवल काव्य-मर्मज्ञों को ही ज्ञात हो सकता है। जैसे,

मेरी भवबाधा हरो, राधा नागरि सोय। **विहारी**

का अर्थ 'वे नागरी राधा मेरी भवबाधा को—सांसारिक दुःख-तापों को हरें—दूर करें, इतना ही जानकर शब्दशास्त्री सन्तुष्ट हो जायँगे। किन्तु, सहृदय तो यह समझेंगे कि भक्त या उपासक इस पद्यार्द्ध से अपनी अधमता—हीनता का द्योतन करता हुआ अपने उपास्य देवता की महिमा का उत्कर्ष प्रकट करता है। उसकी नागरी राधा ही भवबाधा दूर करने में समर्थ हैं। 'मेरी' पद में लक्षणामूलक, अविवक्षितवाच्य, अर्थान्तर-संक्रमित जो ध्वनि है उसे शब्दार्थ जाननेवाले—वाच्यार्थ से ही सन्तुष्ट होनेवाले क्या समझेंगे?

यहाँ ध्वनि इस प्रकार है—

यह भक्त कवि की उक्ति है। इसमें 'मेरी' पद की कुछ सार्थकता नहीं। क्योंकि जब वक्ता स्वयं कहता है तब 'मेरी' पद अनावश्यक है। अतः 'मेरी' का वाच्यार्थ बाधित है। इसलिये 'मेरी' पद विवश, असमर्थ, निरुपाय, कातर, दुखी मुझ जैसे की, इस अर्थान्तर में संक्रमण करता है और दीनता की अतिशयता व्यञ्जित है। यही अधिक चमत्कारक व्यंग्य—ध्वनि है। इसमें लक्षणा है और वाच्य अविवक्षित है। ऐसे ही

'पद्माकर' हौ निज कथा कासौं कहौं बखान।
जाहि लखौ ताही परी अपनी-अपनी आन।

दोहे का अर्थ लगानेवाले अर्थ समझ लेंगे। किन्तु, इसमें कवि की जो विवशता, कातरता, दीनता, स्थिति की दारुणता आदि व्यंजित होती वहाँ तक वे न पहुँचेंगे।

२ **स्वरूप के भेद से भेद**—कहीं वाच्यार्थ विधि-रूप में रहता है तो व्यंग्यार्थ निषेध-रूप में और कहीं वाच्यार्थ निषेध-रूप में रहता है तो व्यंग्यार्थ विधि-रूप में। जैसे,

१ सत्य कहसि दसकंठ सब।
२ मोहि न सुनि कछु कोह।

पहले का वाच्यार्थ विधि-रूप और व्यंग्यार्थ 'तू झूठ कहता है' निषेधरूप है और दूसरे में वाच्यार्थ निषेध-रूप है किन्तु 'मुझे तुझ पर बड़ा क्रोध है' व्यंग्यार्थ विधि-रूप है।

कहीं वाच्यार्थ संशयात्मक रहता है तो व्यंग्यार्थ निश्चयात्मक। जैसे,

यहि अवसर निज कामना किन पूरन करि लेहु।
ये दिन फिरि ऐहैं नहीं, यह क्षनभंगुर देहु॥ **प्राचीन**

इस पद्य में वाच्यार्थ संशयात्मक है, अर्थात् इससे प्रकट नहीं होता कि यह उक्ति साधु की है या कामुक की। किन्तु वक्ता के साधु होने पर मोक्ष व्यंग्य है और कामुक होने पर विषयवासना व्यंग्य है। ये व्यंग्यार्थ निश्चयात्मक रूप में होते हैं।

मोर मुकुट की चंद्रिकनि यों राजत नद नंद।
मनु ससिसेखर की अकस किय सेखर सत चंद॥ **विहारी**

यदि इसे भक्त की उक्ति मानें तो देव-विषयक रति-भाव ध्वनि है। जो दूती की उक्ति नायिका के प्रति हो तो शृंगार रस व्यङ्ग्य है। और, सखी का कथन सखी के प्रति समझें तो राजविषयक रतिभाव ध्वनि है। **विहारी की सतसई।**

यहाँ भी उक्ति की संदेहात्मकता से वाच्यार्थ संशयास्पद है किन्तु अपने अपने स्थान पर ध्वनि-व्यङ्ग्य निश्चित है। इसी प्रकार—

मित्र बड़े श्रम से सदा करते हो तुम काम।
झपकी ले ले बीच में कर दी नींद हराम॥ **राम**

इसमें वाच्यार्थ स्तुति-रूप है पर व्यंग्यार्थ निन्दा-रूप। इस प्रकार उपर्युक्त स्थलों में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का स्वरूप-भेद होने के कारण व्यंजना को मानना आवश्यक है।

३ संख्या के भेद से भेद—'सूर्यास्त हुआ' या 'प्रातःकाल हुआ' आदि वाक्यों का पृथक् पृथक् वाच्यार्थ एक ही होगा किन्तु वक्ता, श्रोता और प्रकरण के भेद से व्यंग्यार्थ एक ही नहीं, अनेक होंगे। इससे इनका संख्या-भेद स्पष्ट है।

जब कहते हैं कि 'प्रातःकाल हो गया' तब इसका वाच्यार्थ सब दशा में, सब प्रसंग में, सब जगह एक-सा रहता है। किन्तु, इसके व्यंग्यार्थ प्रकरण आदि के भेद से अनेक हो जाते हैं। जैसे—

प्रकरण	वाक्य	व्यङ्ग्यार्थ होगा
१ नौकर मालिक से	कहे 'सबेरा हो गया' तो	शय्या छोड़नी चाहिये।
२ स्त्री पति से	,, ,,	,, बाहर जाइये।
३ गृहस्थ सेवक से	,, ,,	,, पशु-सेवा में लगो।
४ यात्री यात्री से	,, ,,	,, अब चलना चाहिये।

प्रकरण	वाक्य	व्यङ्ग्यार्थ होगा
५ दूकानदार नौकर से कहे	'सबेरा हो गया' तो	दूकान खोलो।
६ गुरु शिष्य से	,, ,,	,, प्रातःकृत्य करो।
७ कर्मकर कर्मकर से	,, ,,	,, काम पर चलने को तैयार हो

इत्यादि। ऐसे ही यदि कहा जाय कि 'सूर्यास्त हो गया' इस वाक्य। का वाच्यार्थ सदा एक-रूप रहेगा परन्तु व्यञ्जना द्वारा प्रतीत इसी वाक्य का अर्थ अपने अपने प्रकरण, वक्ता तथा श्रोता आदि के भेद से अनेक प्रकार का हो जायगा। जैसे,

प्रकरण	वाक्य	व्यङ्ग्यार्थ होगा
१ राजा सेना पति से कहे	'सूरज डूब गया' तो	शत्रु पर चढ़ाई करो।
२ दूकानदार नौकर से	,, ,,	,, दूकान बढ़ावो।
३ कर्मकर कर्मकर से	,, ,	,, काम बंद करो।
४ गुरु शिष्य से	,, ,,	,, सन्ध्या-कृत्य करो।
५ भृत्य धार्मिक स्वामी से	,, ,,	,, सन्ध्यावंदन कीजिये।
६ आतपतप्त बंधु बंधु से	,, ,,	,, अब संताप नहीं है।
७ आप्त पुरुष बाहर जाने वाले से	,, ,,	,, दूर मत जाना।
८ दूती अभिसारिका नायिका से	,, ,,	अभिसार की तैयारी करो।
९ गृहस्थ गोपाल से	,,	पशुओं को घर में बाँध

इत्यादि अनेको व्यङ्ग्य अर्थ अपनी अपनी अवस्था के अनुकूल भासित होंगे।

४ निमित्त के भेद से भेद—वाच्यार्थ केवल शब्द के उच्चारणमात्र से व्याकरण, कोश आदि के द्वारा ज्ञात हो सकता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान विना निर्मल प्रतिभा के कभी संभव नहीं। वाच्यार्थ के बोध में साधारण बुद्धि ही सहायक होती है और व्यङ्ग्यार्थ के लिये विशिष्ट बुद्धि, तथा विशुद्ध प्रतिभा की आवश्यकता होती है। अतः निमित्त-भेद के कारण भी वाच्य से व्यङ्ग्य भिन्न है। जैसे—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद यन्त्रिका प्राण जाँहि केहि बाट॥ तुलसी

शब्दार्थ जाननेवाले को सहज ही इस दोहे का अर्थ ज्ञात हो जायगा। किन्तु इसके भीतर से जो यह व्यंजना होती है कि मैं आपके विरह में अवश्य मर जाती, किन्तु न मरने के कारण आपके ध्यान और नाम हैं। जिस दिन ये आधार नहीं रहेंगे उस दिन मेरा मरना

निश्चित है। मैं तुम में इतनी रम रही हूँ कि आँखें तनिक भी इधर-उधर नहीं जातीं। वे अपने ही पदतल पर जकड़-सी गयी हैं। इस प्रकार सीता की पति-भक्ति, एकान्तानुराग आदि की झाँकी विशिष्टबुद्धि-सम्पन्न सहृदयों को ही हो सकती है।

५. **कार्य के भेद से भेद**—वाच्यार्थ से व्युत्पन्नमात्र को अर्थात् शब्दार्थ जाननेवाले सहृदय तथा असहृदय सभी को साधारणतः वस्तु का ज्ञान हो जाता है पर व्यंग्य अर्थ से केवल सहृदय को ही चमत्कार का अर्थात् आस्वाद-विशेष का आनन्द प्राप्त होता है। अभिप्राय यह कि वाच्यार्थ का कार्य प्रतीति-मात्र होता है और व्यंग्यार्थ का चमत्कार भी। इससे इनका कार्य-भेद भी प्रत्यक्ष है। जैसे—

रे कपि कौन तू अक्षको घातक? दूतबली रघुनंदन जू को।
को रघुनंदन रे? त्रिशिरा-खर-दूषण-दूषण भूषण भू को॥
सागर कैसे तर्यो? जस गोपद, काज कहा सिय चोरहि देखौं।
कैसे बँधायो? जु सुंदरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखौं॥ तुलसी

जिन राम का दूत समुद्र को गोपद के जल के समान सहज ही पार कर सकता है और अक्षयकुमार को मार सकता है वे राम कितने प्रचंड बलवान होंगे, इसको तुम समझ लो और यह भी समझ लो कि तुम्हारे महल में सोई हुई स्त्रियों पर दूर ही से दृष्टि पड़ जाने के कारण मैं बंधन में पड़ गया पर तुम तो पर-स्त्री-हरण कर लाये हो, तुम्हारी क्या दशा होगी। इस व्यंग्यार्थ का चमत्कार साधारण अर्थ-प्रतीति से सर्वथा भिन्न है।

६ **काल के भेद से भेद**—वाच्यार्थ ही सबसे पहले प्रतीत होता है और व्यंग्यार्थ उसके पीछे। अतः काल भेद से भी व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न है। जैसे—

बलि बोई कीरति लता कर्ण करी द्वै पात।
सींची मान महीप जू जब देखी कुम्हलात॥ प्राचीन

इसमें पहले वाच्यार्थ प्रतीत होता है। उसके पीछे यह व्यंग्यार्थ प्रकट होता है कि मानसिंह बड़े दानी थे और उनकी दानशीलता बलि और कर्ण से कम नहीं थी। वे उन दोनों के समकक्ष ही दानी थे। ऐसे ही संलक्ष्य क्रम में वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ आगे पीछे प्रतीत होते हैं।

७ **आश्रय के भेद से भेद**—वाच्य अर्थ केवल शब्द के आश्रित रहता है और व्यंग्य अर्थ शब्द में, शब्द के एक देश में, अर्थ में, वर्ण में

वा वर्ण-विशेष की रचना में, रहता है। इससे इनके आश्रय भी भिन्न होते हैं। वर्णगत, पदगत, तथा रचनागत ध्वनि के भेद में इनके उदाहरण दिये गये हैं।

८ विषय के भेद से भेद—कहीं कहीं वाच्य अर्थ का विषय दूसरा होता है तो उससे प्रतीत होनेवाले व्यंग्य का विषय दूसरा। यही वाच्य और व्यंग्य का विषय-भेद है। जैसे—

लखि प्यारी के अधर पै उकस्यो खत के दोस।
अस प्रियतम है कौन जेहि होत नहीं अति रोस॥
सूँघि मधुपजुत कमल तैं नयो बिसाह्यौ रोग।
बरजत हू मानी नहीं अब पावो फल भोग॥ **अनुवाद**

इसमें जो वाच्यार्थ है उसका विषय है दन्तक्षताङ्किता नायिका। उसीको लक्ष्य करके सखी की यह उक्ति है। इसमें व्यङ्ग्यार्थ यह है कि नायिका के अधर पर का दाग उपपतिकृत दन्तक्षत का दाग नहीं, किन्तु कमल सूँघने के समय भ्रमर ने अधर काट लिया है। इस व्यङ्ग्य का विषय है, नायिका का पति, जिसको लक्ष्य करके यह व्यङ्ग्योक्ति की गयी है। यह मेरी ही बुद्धिमानी है कि इसके अपराध पर यों पर्दा डाल कर इसे पति के कोप से बचा लिया। इस व्यङ्ग्य का विषय पास की पड़ोसिन है, जो इस मर्म को जानती है। इस समय तो मैंने समाधान कर दिया। फिर कभी पति के आने के दिन ऐसी हरकत न करना। इस व्यङ्ग्य का विषय उपपति है। यह तीसरा व्यङ्ग्य है। पति की जो प्यारी है उसीका ऐसा दोष देख कर पति क्रुद्ध हो सकता है, उपेक्षिता का दोष देखकर नहीं। इससे तुझे प्रसन्न नहीं होना चाहिये। निर्दोष होकर भी तू इसकी सी सौभाग्यवती नहीं हो सकती। इस व्यङ्ग्य का विषय उसकी सौत है। मैंने इस समय तुम्हे अपनी चतुराई से बचा लिया। अब डरने का काम नहीं। निडर रहो, जिससे तेरा पति शङ्का न करे। इस व्यङ्ग्य का विषय है दन्त-क्षत वाली नायिका। ये सभी व्यङ्ग्य अनियत-सम्बन्ध के हैं। एक उदाहरण और—

भलो नहीं यह केवरो सजनी गेह अराम।
वसन फटै कंटक लगै निसिदिन आठो याम॥ **मतिराम**

नायिका की सखी के प्रति उक्ति है। इसके वाच्यार्थ का विषय सखी है। किन्तु, इससे जो यह व्यङ्ग्य निकलता है कि केवड़े के काँटों

से कपड़े फटे हैं और देह में खरोंच लगी है। ये उपपति-सम्भोग के कारण नहीं हुए हैं। इस व्यङ्ग्य का विषय उसका पति है। क्योंकि उसीको लक्ष्य करके यह व्यङ्ग्योक्ति है।

छठी किरण

(ख) *व्यञ्जना-वैचित्र्य*

व्यञ्जना के निरूपण में कुछ उपयोगी अन्यान्य कारण दिये जाते हैं जिनसे व्यञ्जना का वैचित्र्य प्रकट होता है।

(१) सम्बन्ध-मूलक व्यङ्ग्यार्थ की विलक्षणता

वाच्यार्थ के समान लक्ष्यार्थ भी नियत रहता है, उसकी एक सीमा होती है। जिस अर्थ का वाच्य अर्थ के साथ नियत सम्बन्ध नहीं रहता उसकी लक्षणा नहीं होती। अर्थात् किसी वाक्य में वाच्य अर्थ के नियत सम्बन्धी अर्थ को ही लाक्षणिक शब्द लक्षित कराते हैं, अन्य अर्थ को नहीं। जैसे, 'गंगा में घर' वाक्य के गङ्गा का जो प्रवाह रूप अर्थ है वह तट को ही लक्षित कर सकता है, सड़क को नहीं। क्योंकि, प्रवाह का तट के साथ ही नियत सम्बन्ध है। इससे स्पष्ट है कि नियत-सम्बन्धी अर्थ में ही लक्ष्यार्थ होता है। किन्तु, व्यङ्ग्य अर्थ १प्रकरण—विशेष आदि से नियत-सम्बन्धी २ अनियत-सम्बन्धी और ३ सम्बद्ध-सम्बन्धी होता है।

'बेसुध सोअत सास उत......। इस उक्त पद्य में सम्बन्ध नियत है। क्योंकि 'बेखटके रात में मेरी शय्या पर आ जाना' रूप व्यङ्ग्य एक ही है और वह सम्पूर्ण वाक्य से प्रकट होता है। 'लखि प्यारी के अधर पै...। इस उक्त पद्य में अनेक व्यङ्ग्य हैं। क्योंकि, उसमें विषय का भेद है। इससे सम्बन्ध अनियत है।

निश्चल बिसिनी पत्र पै उत बलाक यहि भाँति।
मरकतभाजन पै मनौ अमल संख सुभकाँति॥ **दास**

निर्जन कुंज में सरोवर के निकट उपस्थित उपनायक—अपने प्रियतम के प्रति किसी नायिका की उक्ति है। हे प्रिय! वह देखो, कमलिनी के पत्र पर बैठा बगला ऐसी शोभा दे रहा है जैसे मरकत—पन्ने की थाली में रक्खा हुआ सुंदर शंख हो। यहाँ बगले के निश्चल होने से उसकी

निर्भयता व्यंग्य है। इस निर्भयतासूचक व्यंग्यार्थ के द्वारा स्थान का निर्जन होना दूसरा व्यंग्य है। इस निर्जनतारूपी व्यंग्य से स्थान का रमणोपयोगी होना सूचित होता है। यह तीसरा व्यंग्य है। ये व्यंग्य परस्पर सम्बद्ध हैं।

(२) अन्वित और अनन्वित अर्थ की व्यङ्ग्यता और इसी से उसकी अभिधेय अर्थ से भिन्नता

वस्तु-स्थिति के अनुरोध से यदि यह कहा जाय कि जो समस्त अर्थ अन्वित या तात्पर्य-विषय हो वह अभिधा से ही उपस्थित हो सकता है। अर्थात् जो व्यङ्ग्य अन्वित होता है वहाँ तक अभिधा का प्रसार मानकर उससे ही काम चलाया जा सकता है। इस दशा में भी व्यञ्जना अन्यथा सिद्ध न होगी। क्योंकि, व्यङ्ग्यार्थ ऐसे भी होते हैं जो सर्वथा अनन्वित होकर भी प्रतीति-गोचर होते हैं। जैसे, 'खुली हवा' के स्थान पर 'हवा खुली' यदि कर दिया जाय तो यहाँ जो घृणा-व्यञ्जक अश्लील अर्थ निकलता है वह तात्पर्य-विषय न होने पर भी व्यङ्ग्य होकर दूषित होता है। अब इस मत के अनुसार यह दूषित नहीं होगा। क्योंकि, यह अर्थ अभिधावृत्ति का विषय नहीं हो सकता। व्यञ्जना-वृत्ति के स्वीकार का ही फल है कि यह अश्लीलार्थ अदुष्ट होकर काव्य में रह नहीं पाता।

सरलपन ही था उसका मन
निरालापन था आभूषन। पंत

यहाँ अन्वित व्यङ्ग्यार्थ 'बड़ी भोली भाली थी' तक पहुँच कर वाच्यार्थ उसे अपने पेट में समेट सकता है पर अनन्वित होकर भी स्पष्टतः प्रतीयमान 'उसका मन पुराना जूता था' दुष्ट अर्थ यदि व्यङ्ग्य न माना जाय तो यह साहित्य में अदुष्ट ही होकर रहेगा।

(३) नित्यानित्य दोष की व्यवस्था के अनुरोध से व्यङ्ग्य की भिन्नता

काव्य में कुछ दोष ऐसे हैं जो नित्य हैं जैसे प्रयोगाशुद्धि आदि और कुछ दोष ऐसे हैं जो अनित्य हैं जैसे श्रुति-कटुता आदि। व्यञ्जना न मानने पर इन दोनों का भेद नहीं हो सकता। क्योंकि, वाच्यार्थ सर्वत्र एक होने के कारण श्रुति-कटुता आदि दोष या तो दोष ही रहेंगे या अदोष ही। यह व्यञ्जना की ही विशेषता है जो श्रुति-कटुता रौद्रादि रसों में गुण हो जाता है। और शृङ्गारादि में दोष व्यञ्जना के अभाव में दोषों की यह व्यवस्था बिगड़ जायगी।

(४) पर्याय शब्दों के भेद से भेद

पर्याय शब्दों का वाच्य अर्थ सब स्थानों में एक सा रहता है। किन्तु, व्यङ्ग्यार्थ भिन्न भिन्न होता है। काव्य में अनुकूल शब्दों की योजना ही ठीक होती है, एकार्थक सभी शब्दों की नहीं। व्यञ्जना के विना शब्द-प्रयोग में जो काव्यत्व रहता है वह लुप्त ही हो जायगा। जैसे—

> याही डर गिरिजा गजानन को गोय रही,
> गिरि ते गरे ते निज गोद ते उतारै ना॥ **पद्माकर**

यदि इसमें 'गजानन' की जगह 'विनायक' पर्याय रख दिया जाय तो सब अर्थ ही चौपट हो जायगा। क्योंकि, गजानन शब्द ही ऐसा है जिससे पार्वती को दान दे डालने के डर से गणेश को छिपाये रखने की चिन्ता है। गजानन शब्द से ही यह व्यङ्ग्यार्थ होता है कि जहाँ गज दिखाई पड़ा कि उन्होंने दान कर डाला। इससे 'गजानन' होने के कारण कहीं गणेश भी दान न दे दिये जायँ, इससे इनकी रक्षा करना चाहिये। यह व्यङ्ग्यार्थ विनायक शब्द से नहीं निकल सकता।

इन विलक्षण व्यंग्यों का बोधन अभिधा, लक्षणा वा तात्पर्य शक्ति के वश की बात नहीं है। अतः व्यञ्जना वृत्ति सर्वतोभावेन मान्य है। ऐसे वैचित्र्यों का मूल व्यञ्जना ही है।

चतुर्थ प्रसार

ध्वनि



पहली किरण

ध्वनि-परिचय

[1]वाच्य से अधिक उत्कर्षक—चारुताप्रतिपादक—व्यङ्ग्य को ध्वनि कहते हैं।

व्यङ्ग्य ही ध्वनि का प्राण है। वाच्य से उसकी प्रधानता का अभिप्राय है वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारक होना। चमत्कार के तारतम्य पर ही वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का प्रधान होना निर्भर है।

कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ शब्द या अर्थ स्वयं साधन होकर साध्यविशेष—किसी चमत्कारक अर्थ, को अभिव्यक्त करे वह ध्वनि-काव्य है। वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से ध्वनि वैसे ही ध्वनित होती है जैसे चोट खाने पर घड़ियाल से निकली घनघनाहट की सूक्ष्म से सूक्ष्मतर या सूक्ष्मतम ध्वनि।

अथवा, जिस प्रकार बादलों में जलवर्षण की शक्ति साधारण धर्म है और बिजली की कौंध असाधारण—कदाचित्-संभवी, विशेष धर्म है उसी प्रकार संकेतित अर्थ वाले सामान्य शब्दों में अर्थ-विशेष की झलक ही ध्वनि है। जब वाचक शब्द अपनी अभिधा शक्ति से वाच्य अर्थ के रूप को खड़ा करके दूर हो जाता है या जब लक्षक शब्द लक्षणा शक्ति से लक्ष्य अर्थ, जिससे अन्वय की बाधा दूर होकर सम्बन्धयोजना हो सके, बोध कराकर विरत हो जाता है, तब ऐसी दशा में ध्वनि के आधारभूत व्यञ्जक शब्द या अर्थ व्यञ्जना शक्ति के सहारे पूर्वोक्त दोनों अर्थों से भिन्न एक विलक्षण प्रकार का अपूर्व अर्थ—व्यङ्ग्य—प्रतीत

---

१ (क) चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना ही वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा। **ध्वन्यालोक**

(ख) वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्॥ **साहित्यदर्पण**

कराता है। यही व्यङ्ग्य जब प्रधान पद पर आरूढ़ होता है तब उसे ही ध्वनि कहते हैं। शब्दों में दूरव्यापी और बहुल अर्थ भरने की जो शक्ति व्यञ्जना में है वह औरों के बूते की बात नहीं।

अब यहाँ उक्त चमत्कार का अभिप्राय भी जान लेना आवश्यक है। कहते हैं कि काव्यगत रमणीयता ही चमत्कार है। 'रमणीयता' बहुत ही अर्थगर्भित पद है। उसके अर्थ में यह विशेषता होनी चाहिये कि वह प्रतीत होते ही पाठक या दर्शक की चित्तवृत्तियों को रमा सके, अन्य अर्थों की ओर से आकर्षित कर अपने में तल्लीन करा सके। जिस अर्थ में यह गुण नहीं है उसे रमणीय नहीं कहा जा सकता।

कोई उक्ति वैचित्र्य को ही चमत्कार मान कर केवल वहीं इसकी सत्ता समझते हैं जहाँ काव्य की कल्पना से ऐसा अर्थ उपस्थित हो जो क्षण भर के लिये किसी कौतूहल या आश्चर्य की फुलझड़ी से पाठक या दर्शक को चौंका भर दे। फिर चाहे वह अर्थ हृदय का स्पर्श करे या न करे। पर चमत्कार को इस संकुचित अर्थ में लेना उसकी हत्या कर देना है।

चमत्कार का बहुसम्मत अभिप्राय चित्त का विस्फार, विस्तार वा विकास है। अर्थात् जिस अर्थ के मनन वा प्रत्यक्षीकरण से स्वभावतः लाह के समान कठोर या संकुचित चित्त द्रुत होकर ऐसी दशा में परिणत हो जाय कि साधारणीकृत भावों के साँचे में ढल सके। जब तक काव्यगत अर्थ में ऐसी क्षमता नहीं उत्पन्न होती तब तक उसमें स्वरूप-योग्यता आती ही नहीं। सारांश यह कि जिस अर्थ-वैलक्षण्य की लोकोत्तर अनुभूति से चित्त एक अनिर्वचनीय अवस्था को प्राप्त कर ले, वह चमत्कार है।

लौकिक हर्षादि चित्त का विस्फारक होता है और शोकादि चित्त का संकोचक। किन्तु अलौकिक साधारणीकरण की अवस्था में अर्थात् काव्यानुभवकाल में परिच्छिन्न शोकादि भाव भी अपरिच्छिन्न हो उठते हैं तब उनमें भी चित्त का विस्फार ही होता है। यही कारण है कि यशोदा या ऊर्मिला के करुणालाप में भी हमें वह आनन्द प्राप्त होता है कि हम उसका पढ़ना नहीं छोड़ते। शकुन्तला के प्रत्याख्यान से संतप्त होकर भी चित्त विचलित न होकर उसमें रमा ही रहता है।

उक्त ध्वनि सहृदयों के ही हृदयङ्गम होती है। केवल शब्दशास्त्री प्रकृतिप्रत्यय के संयोग से निष्पन्न शब्द मात्र का अर्थ समझने के भले

ही अधिकारी हो किन्तु, सहृदयता के अभाव में ध्वनि का बोध उन्हें नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि कोरे लक्षणों को समझना और बात है और लक्ष्यों को पहचानना और। योग पढ़कर योगशास्त्री बना जा सकता है, योगी नहीं। क्योंकि योग साधना है। ध्वनि के विषय में कोरे पण्डितों और सहृदयों की यही स्थिति है। फलतः ध्वनि का आस्वाद काव्यतत्त्व के मर्मज्ञों—भावुक सहृदयों को ही हो सकता है। कोरे शब्द-शास्त्रियों की दृष्टि जहाँ अर्थरूप फूल के आकार मात्र को देखेगी वहाँ सहृदयों की आघ्राणशक्ति ध्वनिरूप परिमल तक पहुँच जायगी [1]।

दूसरी किरण

ध्वनि शब्द का उद्गम

ध्वनि शब्द का व्यवहार वा आविष्कार केवल ध्वनिकार ने ही किया हो, ऐसी बात नहीं। इसके पहले भी ध्वनि शब्द का व्यवहार देखा जाता है। [2]

हम जो कोई वाक्य बोलते हैं उसमें कई पदों का समुदाय रहता है। पदों की आकृति वर्ण वा वर्णों के मेल से बनती है। हम ने 'कोकिल' शब्द का उच्चारण किया तो 'क्, ओ, क्, इ, ल्, अ' इन छ वर्णों का उपयोग करना पड़ा। यह विचारने की बात है कि कण्ठ से निकले हुए ये वर्ण क्, ओ, क्, इ, ल्, अ क्रम से उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाते हैं। छओ वर्णों का उच्चारण एक काल में संभव नहीं। इस स्थिति में श्रोता जो समूचा 'कोकिल' शब्द और उसके वाच्य अर्थ को समझता है सो कैसे ?

इस पर नैयायिकों का कथन है कि वर्ण उच्चारण के अनन्तर क्षणभर रहकर दूसरे क्षण में लुप्त हो जाते हैं सही पर वर्णों का क्रमिक श्रावण प्रत्यक्ष नष्ट होने पर भी श्रोता के मन में अपना संस्कार छोड़ जाता है। इस प्रकार पूर्व पूर्व वर्ण के प्रत्यक्षानुभव से जनित

---

१ शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न बुध्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्वज्ञैरेव केवलम्॥ ध्वन्यालोक

२ प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द उच्यते। महाभाष्य

संस्कार के साथ जब अन्तिम वर्ण का साक्षात् अनुभव होता है तब शब्द का समूचा रूप खड़ा होकर अर्थोपस्थिति का कारण होता है। इस प्रकार कोकिल शब्द का अन्तिम 'अ' अपने साथ पूर्व के पाँचों वर्णों की भी प्रतीति करा देता है।

इस पर वैयाकरणों की यह शंका है कि अनुभव, संस्कार और स्मृति में सदा पूर्वापर का क्रम नहीं निभता। क्रमनिर्वाह में तो जिसका पहले अनुभव हुआ है उसका पहले संस्कार और उसीकी पहले स्मृति होनी चाहिये पर देखा यह जाता है कि प्रथम अनुभूत विषय का स्मरण बाद को होता है और पश्चात् अनुभूत विषय का स्मरण पहले हो जाता है। ऐसी दशा में विवक्षित शब्द का रूप ही न खड़ा होगा और कभी 'नदी' 'दीन' बनेगा और 'राज' 'जरा'। इस शंका का समाधान वैयाकरणों ने ही किया है जो इस प्रकार है—

वे कहते हैं कि उच्चारण करते ही नष्ट हो जानेवाले वर्ण वैखरी वाणी के हैं जो किसी शब्द की आकार नहीं खड़ा कर सकते। वे तो वैखरी से सूक्ष्म मध्यमा वाणी के स्थूल प्रतिनिधि-मात्र हैं। अतः वर्णों से अभिव्यञ्जित, नित्य, अखण्डात्मक, मानस शब्दस्वरूप स्फोट शाब्दबोधोपयोगी होता है। स्फोट के व्यञ्जक क्षण-स्थायी वर्णों में क्रम भग की शंका नहीं की जा सकती। क्योंकि, वे स्वतः चाहे नश्वर हों, पर उनके द्वारा व्यंजित स्फोट नित्य अतएव अनश्वर है। जैसे श्वेत वस्त्र पर लगाये गये रंगों की छाप में क्रमभंग नहीं होता वैसे ही व्यंजकों के द्वारा क्रम से अभिव्यक्त स्फोट के स्वरूप में भी क्रम-विपर्यय नहीं हो सकता। यह स्फोट अभिव्यंजक के रूप में उसी प्रकार ढल जाता है जिस प्रकार सुर भरने वाली शहनाई की ध्वनि राग-रागिनी निकालने वाली शहनाई की ध्वनि में ढलती जाती है।

इसी स्फोट की अभिव्यक्ति के लिये वैयाकरणों को व्यञ्जनावृत्ति नामक शब्द-व्यापार मानना पड़ा है। यह स्फोट ध्वनि शब्द से भी व्यवहृत होता है।

अभिप्राय यह कि ध्वनि-परम्परा से जिस अखण्ड शब्द की व्यञ्जना होती है वही स्फोट है और उसीको ध्वनि संज्ञा भी प्राप्त है।[२]

---

२ यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते बुधैः॥ **वाक्यपदीय**

जैसे वर्णों के द्वारा अभिव्यंजित स्फोट को ध्वनि कहते हैं वैसे ही शब्दों या अर्थों के द्वारा अभिव्यंजित अर्थ को भी ध्वनि कहने लगे। साहित्य में ध्वनि शब्द का उद्गम यहीं से होता है।

तीसरी किरण

ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ

'ध्वन्' धातु से 'इ' प्रत्यय करने पर 'ध्वनि' शब्द बनता है।

१ **ध्वनति ध्वनयति इति वा ध्वनिः**—जो ध्वनित करे वा कराये वह ध्वनि है। यह शब्द के लिये आता है। वाचक, लक्षक और व्यञ्जक तीनों प्रकार के शब्द जब किसी व्यंग्य अर्थ के व्यंजक होते हैं तो ध्वनि कहे जाते हैं।

२ **ध्वन्यत इति ध्वनिः**—जो ध्वनित हो वह ध्वनि है। इस कर्म-प्रधान व्युत्पत्ति से ध्वनि शब्द रसादि व्यङ्ग्यों का वाचक होता है। वस्तु, रसादि और अलंकार ध्वनित होते हैं। अतः ये सब ध्वनि हैं।

३ **ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः**—जिस करण अर्थात् शब्द-व्यापार या शब्द-शक्ति द्वारा ध्वनि की उत्पत्ति होती है वह ध्वनि है। इस प्रकार करण-प्रधान ध्वनि शब्द से व्यञ्जना आदि शक्तियों का बोध होता है। प्रत्येक शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध स्थापित करनेवाली एक एक शक्ति होती है जो शब्द से अर्थ की उपस्थिति कराती है, जिसका वर्णन क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के नाम से हो चुका है।

४ **ध्वननं ध्वनिः**—ध्वनित होना ध्वनि है। इस रूप में यह भाव-वाचक संज्ञा है। इससे वस्तु, अलङ्कार और रसादि की सूचना समझी जाती है। अभिव्यञ्जन, ध्वनन, सूचन आदि इसके समानार्थक शब्द हैं।

५ **ध्वन्यत अस्मिन्निति ध्वनिः**—जिसमें वस्तु, अलङ्कार या रसादि ध्वनित हों उसे ध्वनि कहते हैं। यह ध्वनि पद अधिकरण-प्रधान है। यह शब्द गुणवाची विशेषण होकर काव्य शब्द के साथ समभिव्याहृत होता है। यह 'ध्वनिकाव्य' है, ऐसा व्यवहार इसी विग्रह पर अवलम्बित है।

चौथी किरण

ध्वनि की स्थापना

आलङ्कारिकों की भाषा में 'काव्य की आत्मा' क्या है अर्थात् किस संजीवनी शक्ति से वाक्य वा सन्दर्भ काव्य कहा जाता है, यह एक प्रश्न है।

इसके उत्तर में देहात्मवादी साहित्यिक दार्शनिकों का यह कथन है कि शब्द और अर्थ को छोड़कर काव्य की आत्मा अन्य कुछ भी नहीं। ये दोनों अलङ्कृत होकर काव्य हो जाते हैं, जैसा कि प्रायः दृष्टिगत होता है। किंतु कभी कभी निरलङ्कार शब्द और अर्थ भी काव्य की श्रेणी में आ जाते हैं। इससे कुछ समीक्षकों का कहना है कि काव्य की आत्मा 'रीति' है। अर्थात् विशिष्ट-पद-रचना या सुन्दर भणिति-भङ्गि ही काव्यत्वाधायक है। यह स्वतः सिद्ध है कि शब्दार्थों का सुन्दर संयोग ही किसी सन्दर्भ को काव्य की श्रेणी में लाता है। आधुनिक अनेक कवि अपनी इस कला के कारण कवि कहलाते हैं। इसीसे अनेक समालोचकों का कहना है कि शब्द, अर्थ और अलङ्कार को छोड़कर काव्य का अन्य कोई गुण—आत्मा नहीं है। काव्य के जितने शोभाधायक साधन हैं, चाहे उनका कुछ भी नामकरण किया जाय वे रीति, गुण या अलङ्कार के ही अन्तर्भूत हैं। रीति स्वयं गुण या अलङ्कार के अतिरिक्त कोई भिन्न वस्तु नहीं। क्योंकि, वर्णन में विषयानुकूल--विशेष प्रकार के माधुर्यादि-गुणों से युक्त पदावली की रचना को ही तो रीति वा वृत्ति कहते हैं। इस प्रकार काव्य-सौन्दर्य के कारणों की विवेचना घूम-फिर कर गुणालङ्कार की विशिष्टता की ही द्योतक होगी, किसी अन्य वस्तु की नहीं।

पर ध्वनिवादियों का मत है कि जैसे निर्दोष और सुसंस्थित पर सौन्दर्य-रहित शरीर को अलङ्कृत कर देने पर भी उसकी श्रीवृद्धि नहीं होती वैसे ही अलङ्कृत या विशिष्ट-पद-रचना-शाली काव्य की भी ध्वनि के विना श्रीवृद्धि नहीं होती। [1]ध्वनिकार ने कहा है कि अङ्गना के सुशोभन

---

१ प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ ध्वन्यालोक
मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥

अङ्गों के अतिरिक्त जैसे लावण्य—सौष्ठव, कान्ति, चमक-दमक, एक पदार्थ है वैसे ही महाकवियों की वाणी में एक ऐसी कोई वस्तु होती है जो शब्द, अर्थ, रचनावैचित्र्य आदि से अलग प्रतीयमान होती है। वही काव्य की आत्मा ध्वनि है। पर आलङ्कारिक इस ध्वनि को नहीं मानते। वे कहते हैं कि न तो कोई शब्द या अर्थ को ध्वनि कह सकता और न इनकी सुन्दरता को। क्योंकि, शब्द और अर्थ की सुन्दरता या उनका सुन्दर सन्निवेश शब्दार्थालङ्कार के भीतर आ जाता है। ध्वनि कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं, जिसका काव्य में अस्तित्व पाया जाता हो। कारण, ध्वनिकार के पूर्ववर्ती प्रसिद्ध आलङ्कारिकों ने इस विषय का कुछ भी उल्लेख नहीं किया है। यदि काव्य के प्राणस्वरूप ध्वनि की सत्ता स्वीकृत होती तो उसकी चर्चा अवश्य कुछ होती। इससे ध्वनि, ध्वनि की रट लगाना कोई अर्थ नहीं रखता। कवि मनोरथ ने तो ध्वनि के प्रशंसकों की खिल्ली उड़ाते हुए उन्हें मूर्ख तक कह डाला है।

फिर भी ध्वनिकार का कहना है कि पूर्ववर्ती आचार्यों ने भाव, वस्तु, रीति, अलङ्कार को ही प्रधानता दी है और उनके द्वारा ही मनोहरता, नूतनता, चमत्कारिता आदि लाने की चेष्टा की है सही, किन्तु उनकी चेष्टा वहीं तक सीमित नहीं समझनी चाहिये। यद्यपि ध्वनि के स्वरूप के निर्णय में वे असमर्थ थे तथापि सूक्ष्मदर्शी कवियों ने रहस्यरूप से प्रच्छन्न और प्राणभूत ध्वनि को अपने काव्य में ग्रहण करके उसे हृदयग्राही बनाने में कोई कोर-कसर नहीं की है। अतः यह बात उनके विचार के बहिर्भूत नही थी कि श्रेष्ठ काव्य प्रकृति से ही वाच्यार्थ से ऊपर उठकर अपनी चारुता प्रकट करता है। क्योंकि, कवि की स्वरूप-योग्यता केवल इतने ही में नहीं है कि कथावस्तु को, या अपने विचार को अलङ्कृत शब्दार्थमात्र में प्रकाशित कर दे। निष्कर्ष यह कि प्राचीन आलङ्कारिक यद्यपि ध्वनि का स्वरूप नहीं समझ सके थे, पर अपने काव्यों में ध्वन्यर्थ वा व्यङ्ग्यार्थ को प्रस्तुत करने में नहीं चूके।

कह आये हैं कि जैसे शरीर का सौन्दर्य शरीरावयवों के रुचिर सन्निवेश से विभिन्न होने पर भी अवयवों द्वारा ही प्रकाशित होता है और किसी अलंकार की अपेक्षा नहीं रखता वैसे ध्वनि भी काव्य के शरीरावयवों से ही प्रकट होती है पर उनसे सर्वथा स्वतन्त्र है। उस ध्वनि का ध्वनिकार ने यह लक्षण किया है—

[1]अर्थ या शब्द अपने अभिप्राय की प्रधानता का परित्याग करके जिस किसी विशेष अर्थ को व्यक्त करता है उसे ध्वनि कहते हैं।

इससे जिन्होंने केवल वाच्य-वाचक को पहचानने में ही श्रम किया है पर इनके अतिरिक्त काव्य-तत्त्व की विचार-वीचि में अवगाहन नहीं किया है वे प्रकृत काव्यानन्द का उपभोग नहीं कर सकते। यही वाच्यातिरिक्त काव्यतत्त्व ध्वनि है, जिसे साधारणतः व्यङ्ग्य वा व्यङ्ग्यार्थ कहते हैं।

ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त रस को काव्यत्वाधायक मानते हैं और ध्वनिकार ध्वनि को। इस प्रकार काव्य की आत्मा के स्वरूप-निर्णय में मतभेद देख पड़ता है। किन्तु, विचार करने पर यह मतभेद अवास्तविक प्रतीत होता है। कारण यह कि रस की प्रतीति भी तो ध्वनि रूप में ही होती है। अतः रसध्वनि भी ध्वनि ही है। इसको केवल अभिनवगुप्त ने ही नहीं, नवीन आचार्यों ने भी माना है। फिर ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने में कोई विचिकित्सा नहीं।

इस ध्वनि के प्रस्थापक हैं अज्ञातनामा कारिकाकार और उनके 'आलोक' नामक वृत्ति के कर्ता आनन्दवर्द्धनाचार्य। इसी 'आलोक' की 'लोचन' नामक टीका के रचयिता अभिनवगुप्त ने भी, इस मत के समर्थन में पूरा बुद्धियोग किया है। 'ध्वन्यालोक' ही इस मत का पोषक प्रधान ग्रन्थ है। मम्मटाचार्य का 'काव्यप्रकाश' इस मत का पूर्ण समर्थक है।

---

१ यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ ध्वन्यालोक

पाँचवी किरण

ध्वनि के कुछ उदाहरण

अब ध्वनि वा ध्वनि-काव्य के कुछ उदाहरण दिये जाते है।

१ निसि निसिअरे भम भीम भुअंगम जलधर बीजुरि उजोर।
तरुन तिमिर निसि तइओ चलसि जासि बड़ सखि साहस तोर॥
सुन्दरि कओन पुरुष धन जे तोर हरल मन जसु लोभे चल अभिसार।
आँतर दुतर नदि से कैसे जयबह तरि आरति न करिय झाँप।
तोरा अछि पंचसर ते तोरा नहि डर मोर हृदय बड़ काँप। **विद्यापति**

निशीथ में निशाचर और भयंकर भुजंगम भ्रमण कर रहे हैं। बादल में बिजलियाँ तड़प रही हैं। तो भी रात्रि के घनघोर अन्धकार मे तू जाने से विमुख नहीं होती। सखी, तेरे साहस का तो कुछ ठिकाना ही नहीं। सुन्दरी! कौन ऐसा बड़भागी पुरुष है जिसने तेरे चित्त को चुरा लिया है, जिसके लिये तू अभिसार कर रही है। तेरे अभिसार के मार्ग में दुस्तर नदियाँ हैं। उन्हें तू कैसे पार करेगी? इन कष्टों पर परदा डालना ठीक नहीं। अच्छा, तेरे सहायक पंचवाण—कामदेव हैं। तुझे कोई डर नहीं। किन्तु मेरा हृदय तो डर से थर थर काँप रहा है।

अन्तिम पंक्तियों से यह ध्वनि निकलती है कि जब तू संकेतस्थान को प्रियमिलन के लिये जाती है तो वहाँ मुझ जैसी का साथ जाकर प्रेममार्ग में बाधक बनना सर्वथा अनुचित है। दूसरी ध्वनि यह भी निकलती है कि तू चाहे तो मैं संग चलकर तुझको संकेतस्थान तक पहुँचा आऊँ। तीसरी ध्वनि यह निकलती है कि सखी, तेरे जैसा मैं भी अभिसार करती तो मुझे भी डर-भय न होता पर ऐसा प्रसङ्ग न होने से हृदयकंप होना स्वाभाविक है।

२ नंद ब्रज लीजै ठोकि बजाय।
देहु बिदा मिलि जाहि मधुपुरी जहँ गोकुल के राय॥ **सूर**

शुक्लजी के शब्दों में 'ठोकि बजाय में' कितनी व्यञ्जना है! तुम अपना ब्रज अच्छी तरह सँभालो; तुम्हें इसका गहरा लोभ है; मैं तो जाती हूँ। एक एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है। एक वाक्य दो दो तीन तीन भावों से लदा हुआ है। श्लेष

आदि कृत्रिम विधानों से मुक्त ऐसा ही भाव-गुरुत्व हृदय को सीधे जाकर स्पर्श करता है। इसे भाव-शबलता कहें या भावपंचामृत। क्योंकि, एक ही वाक्य 'नंद ब्रज लीजै ठोक बजाय' में कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष, इन तीनों की मिश्रव्यञ्जना—जिसे शबलता कहने ही से सन्तोष नहीं होता—पायी जाती है।' यहाँ वाच्य से अधिक चमत्कारक व्यङ्ग्य के होने से ध्वनि है।

पुरतें निकसी रघुवीरबधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकी भरी भाल कनी जल की पुट सूखि गये मधुराधर वै॥
फिरि बूझती है 'चलनो अब केतिक पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै'।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥

तुलसीदास

इसमें महारानी सीता की सुकुमारता तो स्पष्ट व्यञ्जित है। श्रम संचारी की व्यञ्जना भी कोमलता और मार्मिकता से की गयी है। पतिव्रता प्रत्येक दशा में पति की अनुगामिनी होना ही पसंद करती है, यह वस्तुध्वनि भी होती है। अन्तिम पंक्ति से राम के अत्यन्त अनुराग और विषाद भी व्यञ्जित हैं।

पाकर विशाल कचभार एड़ियाँ धसतीं।
तब नख-ज्योति-मिष मृदुल अँगुलियाँ हँसतीं।
पर पग उठने में भार उन्हीं पर पड़ता।
तब अरुण एड़ियों से सुहास सा झड़ता। गुप्तजी

दीर्घाकार विशाल कचभार से एड़ियाँ जब जब दब जातीं तब तब अँगुलियाँ नख-ज्योति के बहाने मन्द मन्द मुसुकातीं। कारण यह कि एड़ियों पर भार पड़ने से नखों के रक्तविन्दुओं का ह्रास हो जाता और उनमें उज्ज्वलता के आधिक्य से हास्य सा फूट पड़ता। यह वर्णन पद्माकर की इस पंक्ति की ओर वरबस ध्यान खींच लेता है—बालन के भार सुकुमारी के लचत लंक······। पर पद-सञ्चालन में अँगुलियों पर जब भार पड़ता तब उनके नखों में रक्ताधिक्य हो जाता और एड़ियों की अरुणिमा कम पड़ जाती। उस समय ऐसा ज्ञात होता कि जैसे वे भाराक्रान्त नखों को देखकर हँस रही हों। इसमें कवि ने अपनी अनुपम कल्पना और कान्त कोमल भावना द्वारा एक से दूसरे की हँसी उड़वायी है।

इसमें विशाल कचभार कहने से केशों की दीर्घता और सघनता ध्वनित होती है। एड़ियों के धँसने से शरीर की सुकुमारता और भारवहन की असमर्थता की भी ध्वनि निकलती है। भाराक्रान्त नखों और एड़ियों में रक्ताधिक्य के कारण जो अरुण आभा फूटी पड़ती है उससे शरीर की स्वस्थता की भी ध्वनि होती है।

५-सन्ध्यासुन्दरी के वर्णन में निरालाजी अपनी निराली अभिव्यञ्जना से अपने भाव ऐसे ध्वनित करते हैं कि उनकी अन्तर्दृष्टि के अनुसन्धान की सराहना किये बिना रहा नहीं जाता। उनकी 'सन्ध्या-सुन्दरी' कविता की ये पंक्तियाँ हैं—

सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह छाँह सी अंबर पथ से चली।

सन्ध्यासमय जनकोलाहल कुछ शान्त सा हो जाता है और शान्ति छा जाती है। सन्ध्या का शान्ति के साथ आना सहज-स्वाभाविक है। इसीसे नीरवता को—शान्ति को—सन्ध्या का सखी कहा गया है। जब उसकी सखी नीरवता–शान्ति–है तब सन्ध्या की प्रकृति का गम्भीर और शान्त होना ध्वनित होता है। सखी का संसर्ग उसके विना कहे भी उसके कुमारीपन को ध्वनित कर रहा है। क्योंकि, विवाहिताओं को सखियों की उतनी आवश्यकता नहीं रहती। नीरवता के कंधे पर बाँह डालने से उसका मुग्धा नवयौवना होना प्रतीत होता है। इसीसे उसका अल्हड़पन उसे छोड़ना नहीं चाहता। अतः उसका सखीभाव भी कार्यतः झलक रहा है। सन्ध्या नीरवता के साथ मिली-जुली, लिपटी-झिपटी सी आ रही है, इससे उनकी मैत्री की प्रगाढ़ता भी ध्वनित होती है। छाया-रूप में सन्ध्या का अवतरण होता ही है, जिससे उसे छाँहसी कहना सार्थक है। अतः उसकी सुकुमारता और अङ्गलतिका की तनुता ध्वनित होती है। यदि ऐसी बात न होती तो अम्बरपथ से आने में उसे अवलम्ब की आवश्यकता ही नहीं थी। अम्बरपथ से चलने के कारण उसके अप्सरोपम सुन्दरी और कोमल-कलेवरा होना भी ध्वनित होता है। क्योंकि, वह न तो पृथ्वी पर की है और न उसे कभी पृथ्वी पर चलना ही पड़ा है, जिससे उसमें किसी प्रकार की कठोरता की संभावना की जाय। यहाँ कवि ने मानवी-करण के द्वारा छायारूपिणी सन्ध्या को कुमारी का रूप देकर कमाल कर दिया है।

५ बालकों का सा मारा हाथ कर दिया विकल हृदय के तार।
नहीं अब रुकती है झंकार यही था हा क्या एक सितार ! ॥ पंत

इसका अर्थ है कि तुमने हृदयरूपी सितार पर अबोध बालक के समान हाथ मारा, उस पर ऐसे जोर से आघात किया कि वह विकल हो उठा अर्थात् उसके भाव ऐसे तिलमिला उठे कि उनकी कराह रुकती ही नहीं।

सितार बजानेवाला ही सितार बजा सकता है, अनाड़ी और नौसिखुए की तो वहाँ गत ही नहीं। फिर बालक? वह तो उससे खिलवाड़ ही कर सकता है, संभव है तोड़फोड़ भी दे। पूर्वार्ध से यही ध्वनि निकलती है कि उचित रूप से तुमने प्रेम नहीं किया, बल्कि मेरे हृदय को लेकर खेलवाड़ किया और जहाँ तक पीड़ा पहुँचाना संभव था, पहुँचायी। तीसरी पंक्ति से यह ध्वनि आती है कि जिस प्रेम-पीड़ा को मैंने पाल रखा उसकी टीस मिटती ही नजर नहीं आती। चौथी पंक्ति से दैन्य और असूया की ध्वनि निकलती है। जब ऐसा ही करना था तो मेरे ही हृदय को अपना लक्ष्य क्यों बनाया। मेरा प्रेम तो तुम पर प्रगट ही हो चुका था। प्रेमिका का अपने प्रेमी से ऐसी शिकायत करना सवा सोलह आने ठीक है।

भारतेश्वरी के पद से महारानी संयोगिता अपने पिता राजा जयचन्द को पत्र लिखती है—

भूलें मत स्वप्न में भी इस कटु सत्य को—
भारत अधीश्वर सिधारे वीर लोक को,
किन्तु तलवार है जीवित अभी उनकी
और वैसा ही कड़ा पानी है चढ़ा हुआ। वियोगी

भारताधीश्वर पृथ्वीराज परलोक को चले गये किन्तु भारताधीश्वर के रूप में उनकी अर्द्धांगिनी अभी जीवित है, यह ध्वनि निकलती है। यही क्यों, वह जीवित रूप में उनकी तलवार ही है। यहाँ तलवार को जीवित कहकर उसमें साध्यवसाना लक्षणा द्वारा रानी का अध्यवसान किया गया है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि मैं तलवार की तरह ही तेज और तर्रार हूँ। भाव यह कि एक वीर की पत्नी अपने आपको अपने पति की तलवार कहने की अधिकारिणी है। तलवार पर 'वैसा ही कड़ा पानी है' कि उक्ति से यह ध्वनि निकलती है कि आपने

पृथ्वीराज द्वारा मेरे हरणकाल में उनकी तलवार का जो जौहर देखा था उसे अब भी न भूलिये। इससे आप यदि अपनी राह पर न आये तो उसका मजा फिर चखना पड़ेगा। यहाँ रानी ने जयचन्द को कड़े पानी वाली तलवार की जो याद दिलायी है वह इस बात का द्योतन करती है कि नारी अपने पुरुष की जीती-जागती शक्ति है।

तुम मुझे पूछते हो जाऊँ, मैं क्या जवाब दूँ तुम्ही कहो ?
जा कहते रुकती है जबान, किस मुँह से तुमसे कहूँ रहो। सु. कु. चौ.

इस पद्य में आराध्य देव के आज्ञा माँगने पर सेविका की विवश वाणी में जो मार्मिक पीड़ा और ममता के बल पर रोक रखने की ध्वनि है वह काव्योत्कर्ष का एक अच्छा सा नमूना है। पद्य के किसी पद का प्रत्यक्ष रूप से यह अर्थ नहीं हो सकता कि तुम रुक जावो। किन्तु, सेविका की विनम्र और हृदय को पकड़ने वाली उक्ति उस भावुक आराध्य के पैरों में स्नेह की जंजीर डालकर उसे एक पग भी आगे न बढ़ने का हुक्म देती है। कविता बहुत ही मर्मभरी है।

छठी किरण

वाच्य और प्रतीयमान अर्थ

सहृदयश्लाघ्य काव्यात्मा अर्थ के दो भेद होते हैं—वाच्य और प्रतीयमान, अर्थात् अभिधेय और ध्वनि। नीचे के उदाहरणों से एकत्र स्पष्ट हो जायगा कि अभिधेय क्या है और क्या है ध्वनि या व्यङ्ग्यार्थ।

यद्यपि शब्द ही वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों अर्थों का मूल है तथापि जैसे साक्षात् शब्द से वाच्यार्थ-प्रतीति होती है वैसे ध्वनि नहीं प्रतीत होती। ध्वनि की प्रतीति परम्परा संबन्ध से होती है। पहले शब्द से वाक्यार्थ प्रतीत होता है। फिर वाच्यार्थ से ध्वनि प्रतीत होती है।

१ विधि रूप वाच्य से निषेध रूप ध्वनि

ध्वन्यर्थ सर्वदा वाच्यार्थ के तुल्य ही नहीं होता। कभी कभी वाच्यार्थ से सर्वथा विपरीत भी होता है। जैसे,

नहीं श्वान वह, बेखटक, भ्रमौ भगत महराज।[1]
नदी कूल वन रहत जौ, सिंह हत्यौ तेहि आज ॥ अनुवाद

मिलन-कुंज के कुसुम को तोड़कर उसकी सुन्दरता और गोपनीयता नष्ट करने वाले भक्त को लक्ष्य कर नायिका कहती है कि भगत जी, आप स्वच्छन्दता पूर्वक फूल तोड़कर ले जाइये। जिस कुत्ते के डर से आप डरते थे उसे वहाँ के सिंह ने मार डाला।

यहाँ वाच्यार्थ विधायक है। किन्तु, जो कुत्ते से डरता था वह सिंह का नाम सुनकर वहाँ कभी न जायगा। यह जो अर्थ प्रतीत होता है वह निषेधार्थक है और उस अर्थ से एकदम विपरीत।

व्यंजना प्रकरण में कह आये हैं कि शब्द, बुद्धि और कर्म का विराम के अनंतर फिर व्यापार नहीं होता। अतः उक्त पद्य में विधि का अर्थ-बोध कराने के उपरान्त वाच्यार्थ से दूसरे अर्थ का बोध होना असंभव है। क्योंकि, एक वाच्यार्थ से दो विरोधी अर्थ एक समय में प्रतिपन्न नहीं हो सकते। इसे तात्पर्यार्थ भी नहीं कह सकते। क्योंकि, विभिन्न पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों का अभीष्ट अन्वयबोध कराना उसका काम है। मुख्यार्थ की बाधा न होनेसे इसे लक्षणा भी नहीं कह सकते। पूर्वानुभूत किसी विषय का उल्लेख न होने से स्मृति के अन्तर्गत भी इस अर्थ को नहीं मान सकते। यह वाच्यार्थ का दूराकृष्ट अन्य अर्थ भी संभव नहीं। क्योंकि, यह अर्थ उससे सम्पूर्ण विपरीत है। इससे स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस प्रकार निषेध से विधि और विधि से निषेध आदि का अर्थ-बोध करानेवाला शब्द का एक स्वतंत्र अर्थ है—वह ध्वनि है। वाच्यार्थ से संपूर्णतः विभिन्नजातीय अर्थ जहाँ भासित होता है वहाँ ध्वनि को मानना ही पड़ेगा।

२ निषेध रूप वाच्य से विधि रूप ध्वनि

जैसे कहीं-कहीं विध्यर्थ में निषेधार्थ पाया जाता है वैसे ही निषेधार्थ में विध्यर्थ भी ध्वनि रूप में पाया जाता है। जैसे,

सोवत ह्याँ पै सास, ह्याँ हौं दिन में लखि जाहु।
पथिक रतौंधा रात जनि हम पै तुम पड़ि जाहु ॥ अनुवाद

यहाँ प्रोषित-भर्तृका नायिका संध्या समय द्वार पर रात बिताने के

---

1 चारो पद्य ध्वन्यालोक के श्लोकों के अनुवाद हैं।

लिये ठहरे हुए मुग्ध पथिक से रात्रि-मिलन का संकेत करती हुई कहती है। वहाँ सास सोती है और यहाँ मैं सोती हूँ। दिन में ही अच्छी तरह देख लो। ऐसा न हो कि रतौंधी के कारण हम लोगों पर भहरा पड़ो।

इस पद में निषेध की आज्ञा से रात में पथिक को अपनी शय्या पर बुलाने का विधान है। यहाँ यह अर्थ ध्वनित होता है कि जहाँ मैं सोती हूँ उसे ठीक से देख लो। सास के रहते हम दोनों का मिलना संभव नहीं। अभी परस्पर देखा-देखी कर के दर्शन-सुख का अनुभव कर लें। रात में अंधे के ऐसा मेरी खाट पर आ कर नहीं गिर पड़ना। बल्कि चुपचाप मेरी शय्या पर आ जाना।

३ विधिरूप वाच्य से अविधिनिषेध-रूप ध्वनि

कहीं-कहीं विधि-रूप वाच्य से विधि-निषेध से विलक्षण तटस्थ रूप व्यंग्य निकलता है। जैसे,

तुम वाके ढिग जाहु पिय, केवल हमहि रुलाय।
वा बिनु पडै न रोइबो, दुहुँ दिसि प्रीति लगाय ॥ **हिन्दीप्रेमी**

सपत्नी-समासक्त प्रिय को जाने के लिये इच्छुक समझ कर और संकोच वश विलंब करते हुए देखकर उससे नायिका कहती है कि तुम तो सबके समान प्रिय हो। जाओ, मैं रो-कलप कर रह जाऊँगी। किन्तु, ऐसा न हो कि उसके विना तुम्हें रोना-धोना पड़े। सर्वथा अनिष्ट प्रिय-गमन यहाँ वाच्य है। पर व्यङ्ग्य है कि मैं जानती हूँ कि तुम्हारा मन दूसरे में लगा हुआ है। झूठ-मूठ यहाँ बेकार बैठकर मेरा अनुनय कर रहे हो। तुम्हारी शठता से मैं परिचित हूँ। इस प्रकार विधि-निषेध दोनों से विलक्षण जो फटकार है वही व्यंग्य है।

४ निषेधरूप वाच्य से अनुभयरूप ध्वनि

कहीं-कहीं निषेध-रूप वाच्य से विधि-निषेध दोनों से विलक्षण व्यंग्य निकलता है। जैसे,

बिनवौं, टरु मुखचंद तें, अंधकार जनि सारु।
औरन के अभिसरन में, बौरी बिघन न पारु ॥ **हिन्दीप्रेमी**

इधर नायिका तेजी से नायक के घर अभिसार कर रही थी और उधर नायक उसके घर आ रहा था। रास्ते में भेंट हो गयी। मानों कभी की जान-पहचान नहीं, इस ढंग से वह कहता है—हट जाओ। अपने मुखचन्द्र के प्रकाश से अँधेरे को मिटाकर दूसरी संकेत-स्थल में जाने-

वाली नायिकाओं के मार्ग की बाधा न बनो। यहाँ लौटने के लिये प्रार्थना करना वाच्य है। पर इस वाच्य से जो व्यङ्ग्य निकलता है वह न निषेध है न विधि। केवल नायिका को खुश करने के लिये ऐसी चापलूसी है जो नायक का मतलब गाँठ सकती है।

सातवीं किरण

ध्वनि के तीन रूप

तीन पदार्थों की ध्वनि होती है रसादि की, वस्तु की और अलङ्कार की। रसादि ध्वनि सब से मुख्य है। इसको असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि कहते हैं। जहाँ अलङ्कार ध्वनित नहीं रहता वहाँ वस्तुध्वनि होती है और अलङ्कार ध्वनित रहने से अलङ्कारध्वनि। इन्हें संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि कहते हैं।

रसादि-ध्वनि का परिचय

रसादि अर्थात् रस, भाव, रसाभास आदि किसी दशा में किसी शब्दविशेष या अर्थविशेष से वाच्य, बोध्य नहीं हो सकते। वे सर्वदा-सर्वथा ध्वनित या सूचित ही होते हैं। यही रसादि ध्वनि काव्य का जीवन है। 'रसो वै सः' (परब्रह्म रसस्वरूप है) आदि उपनिषद् के वाक्य से रस का ब्रह्म के साथ सारूप्य बताया गया है। ब्रह्म के सम्बन्ध में वेद जैसे ज्ञान के भण्डार में भी 'नेति नेति' से उसकी अनिर्वचनीयता कही गयी है। फिर रसादि यदि वाच्य या लक्ष्य न हों, शब्द या अर्थ द्वारा बोध्य न हों तो क्या आश्चर्य है! उनका ऐसा होना यथार्थ ही है। 'रस' आस्वादस्वरूप है, आनन्दमय है, ज्ञानमय है। उसका साक्षात् शब्दों द्वारा कथन कैसे संभव हो सकता है? शब्दातीत विषय में शब्द की गति ही कैसी? शब्द तो किसी संकेतित अर्थ का उपस्थापक हो सकता है पर रसादि किसी नियत संकेत या रूढ़ अर्थ के रूप में सीमित—अवरुद्ध नहीं हो सकता। वह इन बन्धनों से विमुक्त है। उसका व्यक्तीकरण तो विभाव आदि उन अलौकिक व्यापारशाली साधनों से ही होता है जिनका विस्तृत निरूपण यथा-स्थान होगा।

श्रव्य काव्य में शब्दों द्वारा ही विभाव आदि प्रस्तुत किये जाते जरूर हैं पर रससिद्धि में उनकी साक्षात् कुछ प्रयोजकता नहीं। उनकी उपयोगिता तो इसीमें है कि वे विभाव आदि का रूप इस प्रकार प्रत्यक्षायमाण करा सकें कि उनके द्वारा रसव्यंजना होने में किसी प्रकार की न्यूनता न अनुभूत हो। शब्दबोध्य वाक्यार्थ-ज्ञान में जैसे क्रमिक अर्थोपस्थिति के द्वारा समुदायार्थ समन्वित होकर प्रतीत होता है वैसे रसास्वाद में कोई क्रम प्रतीतिगोचर नहीं होता। भले ही विषय रूप से रसास्वादकाल में प्रतीयमान वर्णनीय विषय क्रमसापेक्ष हो।

वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि में विशिष्ट शब्द और अर्थ की क्रमोपस्थिति और क्रमान्वय जिस प्रकार संलक्षित होते हैं उस प्रकार रसादि ध्वनि में कदापि नहीं। इसीलिये वह असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य है। जिसमें रसादि ध्वनि प्रधान हो वही काव्य सर्वश्रेष्ठ होता है। रसास्वाद से ही कविता साकार हुई थी। 'क्रौंचमिथुन' में एक को (नर क्रौंच को) जो 'काममोहित' था, व्याध के वाण से मरा देखकर और उसकी व्यथित सहचरी (मादा क्रौंच) का आर्त चीत्कार सुनकर आदि-कवि का कण्ठ सर्वप्रथम जिस ध्वनि को लेकर फूटा था उसमें शोक स्थायी भाव का पूर्ण परिणाम करुण रस ही व्याप्त था।

वस्तु-ध्वनि का परिचय

वस्तुध्वनि में अलङ्कार-शून्य वस्तु की ध्वनि होती है। ध्वनित वस्तुओं का आधार कहीं कोई विशेष शब्द होता है तो कहीं कोई अर्थ। जहाँ अनेकार्थक शब्द की शक्ति किसी प्रकृत अर्थ में बँधकर उसकी उपस्थिति कराने के अनन्तर विषय का मर्मानुसन्धान करने पर पुनः किसी विलक्षण अर्थ की अभिव्यक्ति का कारण होती है वहाँ यह अभिधा-मूलक संलक्ष्यक्रम ध्वनि का भेद शब्द-शक्त्युद्भव ध्वनि होगी। और, जहाँ शब्द का कोई अनियन्त्रित अर्थ अपनी खूबी से वक्ता, बोद्धव्य या प्रकरण की विशेषताओं के सहारे अन्य भिन्न भिन्न अर्थों के बोधन का कारण बन जाता है वहाँ अभिधामूलक अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि होगी।

यह बात सर्वोपरि है कि ध्वनि में जब रमणीयता हो तभी वह काव्य की कोटि में परिगणित होगी। अन्यथा उसका कोई महत्त्व नहीं। वस्तुध्वनि में भाव या रस का स्पर्श किसी न किसी रूप में अवश्य अपेक्षित रहता है। नहीं तो 'पानी लाओ' से निकलनेवाली

'मुझे प्यास लगी है' यह वस्तुध्वनि भी काव्यकला में सम्मिलित हो जायगी, जो ध्वनि के सौंदर्य या चमत्कार के अनुरूप नहीं होगी। ध्वनि रसगर्भित होने से ही 'काव्य की आत्मा' होने का दावा कर सकती है।

अलङ्कार-ध्वनि का परिचय

अलङ्कार शरीर का सौन्दर्य बढ़ाने के साधन हैं। जैसे कंगन, पायजेब, हार, कर्णफूल, नासामौक्तिक आदि अलङ्कार सुन्दरी के अङ्ग-सौष्ठव को और आकर्षक बना देते हैं वैसे ही अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कार ध्वनिपूर्ण कविता के शरीर—शब्द और अर्थ—को विशेष अलंकृत कर देते हैं। ये अलंकार जब शब्द या अर्थ में बोधक सामग्री की सहायता से साक्षात् वर्तमान रहते हैं तो वाच्य होते हैं और जब वस्तु या अलङ्कार से ध्वनित होते हैं तो व्यंग्य कहलाते हैं। वस्तु या अलङ्कार से जो अलङ्कार ध्वनित होता है वह अलङ्कार-ध्वनि माना जाता है। शर्त यह है कि वह अपने व्यञ्जक वस्तु या अलङ्कार की अपेक्षा अधिक चमत्काराधायक हो। जहाँ वस्तु से वस्तु या अलङ्कार अथवा अलङ्कार से अलङ्कार वा वस्तु ध्वनित होती है वहाँ यदि विवेचक की दृष्टि में वह वाच्य वस्तु या अलङ्कार से अप्रधान जँचे तो उसे गुणीभूत व्यंग्य कह सकते हैं। यह तो मानी हुई बात है कि रसादि ध्वनि के अतिरिक्त शेष ध्वनियाँ काव्य के प्राण नहीं हो सकतीं। फिर भी वाच्यभूत अलंकार या व्यंग्यभूत अलंकार के कारण जो काव्यत्व-व्यवहार होता है वह उसी तरह है जैसे अलंकारों से सुसज्जित प्राण-रहित राधाकृष्ण आदि देवी-देवताओं की प्रतिमूर्तियाँ अपनी सुरूपता से सजीव मूर्ति की बराबरी करतीं और वही नाम पाती हैं।

यद्यपि अलंकार स्वयं अलंकार (अलंकरोति इति अलंकारः—औरों के शरीर को सजाने की चीज) है, फिर भी ध्वनित रूप में आने पर वह भी अलंकार्य—सजने के लायक, हो जाता है। जैसे दास यों तो औरों का सेवक होता है पर विवाह में ससुराल पहुँच कर वह भी कभी सेव्य हो जाता है। जब व्यंग्यभूत अलंकार अलंकार्य हो जाता है तब भी उसे अलंकार कहने की प्रथा ब्राह्मण-श्रमण-न्याय से प्रचलित है। इस न्याय का अर्थ है ब्राह्मण श्रमण की नाईं। तात्पर्य यह है कि पहले का ब्राह्मण यदि श्रमण अर्थात् बौद्धभिक्षु हो जाय तब भी जानकार उसे ब्राह्मण कह कर भी पुकारा करते हैं।

आठवीं किरण

असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के व्यञ्जक

असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के प्रबोधक, व्यञ्जक वा सूचक पदविभक्ति, क्रियाविभक्ति, वचन, सम्बन्ध (स्वस्वामिभाव आदि) कारक (कर्ता, कर्म आदि) कृत्प्रत्यय, तद्धित-प्रत्यय, समास, उपसर्ग, निपात, काल आदि हैं जिनसे असंलक्ष्यक्रम रसादि ध्वनित होते हैं।[1]

हनुमन्नाटक में रावण की गर्वोक्ति का[2] एक श्लोक है। उसका निम्नलिखित पद्यानुवाद और अर्थ उदाहरण के रूप में लीजिये—

या ही अपमान मेरे शत्रु जो लखाई देत तिनहूँ में तापस यौ लंक ही में नानो है।
करत बिधंस बंस वीर जातधानन को देखौं हौं जिअत धिक रावन कहानो है॥
इन्द्र को जितैया को सहस्र फिटकार और व्यर्थ ही दिखात कुम्भकर्ण को जगानो है।
नेक ही सों नाक पुरवा को लूटि फूलि गये बीस इन विफल भुजान को बखानो है॥

हि. प्रे.

यही मेरा अनादर है जो मेरे भी शत्रु हैं। उन शत्रुओं में भी यह तापस है जो तप ही करता रहता है। वह तापस शत्रु भी यहीं लंका में मेरी छाती पर राक्षस-वंश को ही चौपट कर रहा है। यह सब होने पर भी आश्चर्य है कि मेरे जैसा राजा रावण जी रहा है। शक्र-विजयी मेरे पुत्र मेघनाद को धिक्कार है धिक्कार। प्रबोधित भाई कुम्भकर्ण का जागना भी कुछ काम न आया। स्वर्ग की एक तुच्छ टोली को लूटकर व्यर्थ ही फूली इन बीसों बाहों ने भी क्या किया ?

अर्थानुसार यहाँ ध्वनि का निर्देश किया जाता है।

यहाँ 'मेरे' पद से यह ध्वनित होता है कि जिसने इन्द्रादि देवों को भी बन्दी बना दिया है, जिससे यमराज भी थरथर काँपता है, उस रावण के शत्रु हों और वे जीते रहें, यह कितने अपमान की बात है!

---

१ सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्॥ **ध्वन्यालोक**

२ न्यक्कारोह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः।
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः॥
धिग्धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥

सम्बन्ध की विभक्ति से शत्रुओं के साथ रावण के वध्य-घातक सम्बन्ध का अनौचित्य सूचित होता है और रावण का अत्यन्त क्षोभ। यहाँ विभक्ति और सम्बन्ध की ध्वनि है।

एक नहीं अनेकों मनुष्य जैसे क्षुद्रजीव मेरे शत्रु हैं यह अत्यन्त अनुचित है। यहाँ लुप्तविभक्तिक शत्रु शब्द के बहुवचन से अनौचित्य की अधिकता व्यञ्जित है।

यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि 'मेरे अनेको शत्रु हैं', इस वाक्य के सम्बन्ध, विभक्ति और बहुवचन सब मिल कर यह ध्वनित करते हैं कि मैं त्रैलोक्य-विजयी, विक्रमशाली मनुष्यभक्षी राक्षस ठहरा। मेरा मनुष्य के साथ वध्य-घातक संबंध है। उस संबंध का किसी एक उदाहरण में भी व्यभिचार होना अनुचित है। बहुतों की तो बात ही क्या!

'यह' कहने से शत्रु की इस दीन दशा का द्योतन होता है कि वह घर से निकाला, वन-वन भटकता-फिरता, विरहाकुल, और वनवास के दुःख से कातर है।

भी (निपात वा अव्यय) से अयोग्यता, तापस शब्द से पुरुषार्थ-शून्यता तथा राक्षस-भोज्यता ध्वनित होती हैं। यहाँ निपात और तापस के तद्धित-प्रत्यय से यह ध्वनि निकलती है।

वह तापस शत्रु भी यहीं—हमारी राजधानी में ही है। वह यदि कहीं अन्यत्र रहता तो सह्य भी था। यहाँ 'ही' निपात से यह ध्वनि है।

राक्षस-वंश को ही चौपट कर रहा है। इससे यह ध्वनि आती है कि हमारे देश में रहता हुआ भी शान्ति नहीं है। केवल राक्षसों को ही नहीं मारता, बालबच्चों समेत राक्षसवंश का ही संहार कर रहा है। यहाँ कर्म कारक और 'चौपट कर' संयुक्त क्रिया से यह ध्वनि है।

'रावण जीता है' से ध्वनित होता है कि जो रावण संसार को रुलानेवाला है (रावयति इति रावणः) उसको इतना अनादर होने पर मर ही जाना चाहिये था। राक्षसराज रावण के जीते जी ये सब बातें! यहाँ कृदन्त रावण शब्द के प्रत्यय से तथा जी धातु की वर्तमानकालिक कृदन्त क्रिया से यह ध्वनि निकलती है।

भाव यह कि यदि वह मेरे देश के बाहर होता, या यहाँ रहते हुए भी शान्त रहता, शान्त न रहते हुए भी यदि राक्षसों को नहीं मारता, मारता भी तो कुछ को ही मारता, मारना अभीष्ट था तो सयानों को

ही मारता—राक्षसवंश की जड़ खोदने को नहीं तुल जाता, यह सब होने पर असीम-शौर्य-सम्पन्न मैं रावण न जीता रहता तो कोई बात न थी। पर यह सब मेरे संमुख मेरे शौर्य-वीर्य के विपरीत ही हो रहा है, यह आश्चर्य है! ये सब बातें व्यञ्जित होती हैं।

मेघनाद को शक्रविजयी कहने से उसकी अपराजेयता ध्वनित होती है। क्योंकि एक तो 'शक्र' शब्द का ही अर्थ शक्तिशाली शत्रुविजेता है और उस शक्र को भी जीतनेवाला मेघनाद है। इससे उसके द्वारा राम-विजय की सहज संभावना भी प्रतीत होती है। उसको भी जो बार बार धिक्कार दिया गया है उससे राम-विजय में उसकी असमर्थता तथा राम की उत्कृष्टता द्योतित होती है। इसमें विजयी के कृत्प्रत्यय और धिक्कार से ये ध्वनियाँ निकलती हैं।

प्रबोधित शब्द से यह ध्वनित होता है कि कुम्भकर्ण पर बहुत आशा-भरोसा था। इसीसे उसके जगाने में विशेष प्रयत्न किया गया, वह जागा भी। यह सम्भावना भी की गयी कि क्षुद्र तापस का पराजय हुआ ही चाहता है पर यह सब न हुआ तो उसकी निन्दा का पारावार नहीं रहा। यह ध्वनि प्रेरणात्मक क्रिया से, जिस में प्र उपसर्ग भी सम्मिलित है, निकलती है।

अन्तिम वाक्य में स्वर्ग को छोटा गाँव, पुरवा, टोला या टोली बनाने से यह प्रतीत होता है कि उसका जीतना मेरे लिये अत्यन्त सहज था। इसमें कोई प्रशंसा की बात नहीं। लूटने से स्वर्ग का उजाड़ हो जाना भी ध्वनित होता है। बाहों के बहुवचन से यह ध्वनित होता है कि क्षुद्र ग्राम के समान स्वर्ग को लूट लेने से इनकी कोई प्रशंसा नहीं। क्योंकि यह तो एक बाहु का काम था। जिन बाहुओं के बल का पता शङ्कर और कैलास को है वे स्वर्ग को लूटने भर से व्यर्थ के घमंड में फूली हुई हैं। ऐसी बाहुओं से क्या लाभ जब कि एक क्षुद्र शत्रु अब भी वर्तमान है? इससे राम की अपराजेयता और भी प्रतीत होती है।

इस प्रकार सम्पूर्ण श्लोक से रावणपक्ष के पराभव, अनौचित्य और रावण के क्रोधाधिक्य का औचित्य ध्वनित होता है। यहाँ क्रोध रूप स्थायी भाव की ही ध्वनि है। विभाव, अनुभाव आदि के अभाव से रौद्र रस परिपुष्ट नहीं है। अमर्ष संचारी की व्यञ्जना भी स्पष्ट प्रतीत

होती है। पुनः युद्धोद्योग से वीर रस के स्थायी भाव उत्साह की भी ध्वनि हो सकती है।

इस श्लोक में प्रायः उक्त सभी विषयों के एकत्र उदाहरण प्राप्त हैं। इनके एक दो उदाहरण अलग अलग दिये जाते हैं।

समझती रही ऊर्मिला बात सारी, रही पतिहृदय से उसे जानकारी,
नहीं मानती थी उसे वह सुनारी, जिसे कन्त-अनुगामिता हो न प्यारी,
इसीसे नहीं निज जगह से टली वह, जहाँ थी वहीं दब विरह में जली वह।

हरिऔध

इस पद्य में ऊर्मिला का यह मन्तव्य है कि जिसे पति का अनुगमन प्रिय न हो वह 'सुनारी' नहीं। इस वाक्य का 'सुनारी' शब्द 'सु' के योग से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाव का प्रकाशक हो गया है। नारी स्त्री का साधारण पर्याय है। उस पद से उसका कोई दोष-गुण विशेष रूप से प्रतीत नहीं होता। किन्तु 'सु' के लग जाने से वह अपनी जाति के साधारण स्तर से ऊपर उठकर पति-परायणता के परम पद पर पहुँच जाती है। 'सु' उपसर्ग से नारी में उत्तम पातिव्रत्य व्यङ्ग्य होता है।

नृप सनेह लखि धुनेउ सिर, पापिन कीन्ह कुदाउ। **तुलसी**

यहाँ 'कु' उपसर्ग से 'दाउ' की कठोरता और असह्यता जैसे ध्वनित होती है वैसे ही सुमित्रा की मानसिक मर्मव्यथा भी प्रतीत होती है।

हमको तुम एक अनेक तुम्हें उनही के बिबेक बनाय बहौ।
इत चाह तिहारी बिहारी, उतै सरसाय कै नेह सदा निबहौ।
अब कीबो 'मुबारक' सोई करौ अनुराग लता जिन बोय दहौ।
घनश्याम! सुखी रहौ आनँद सौं तुम नीके रहौ उनही के रहौ॥

इसमें आये हुए 'अनेक' 'उनही' शब्दों के बहुवचन से नायक की लम्पटता प्रतीत होती है। वह किसी अन्य नायिका में ही आसक्त, नहीं, बहुनायिकासक्त है।

'बहौ' क्रिया से द्योतित होता है कि जहाँ तक पतित, भ्रष्ट, निन्दित होते बने, बनो। इसकी व्यञ्जना में लक्षणा सहायक है। ऐसे ही 'दहौ' क्रिया से भी दुःख उठाने की अधिकता प्रतीत होती है।

एक देखि बट छाँह भलि डासि मृदुल तृन पात।
कहँहि गँवाइय छिनुक श्रम गवनब अबहिं कि प्रात॥ तुलसी

यहाँ 'छिनुक' में लाघवार्थक तद्धित प्रत्यय 'क' से समय की अत्यन्त अल्पता ध्वनित होती है।

एक कुडुल्ली पंचहि रुद्धी तहँ पंचहँ वि जुअंजुअ बुद्धी।
बहिणुए तं घरु कहि किंव नन्दउ जेत्थु कुडुंबउ अप्पण छन्दउँ ॥ **सिद्धहेमव्याकरण**

एक छोटी सी कुटिया पाँच से रुँधी है। उन पाँचों की बुद्धि भी भिन्न भिन्न है। फिर कहो बहन ! वह घर कैसे आनन्दित हो, जहाँ का कुटुंब अपने अपने मन की करने वाला हो।

यहाँ 'कुडुल्ली' में भी लघुतावाचक 'उल्ली' प्रत्यय है। जैसे, रुपये को हीन बताने के लिये रुपल्ली कहते हैं। इस प्रत्यय से कुटिया (अर्थात् मनुष्य शरीर) की संकीर्णता और क्षुद्रता ध्वनित होती है।

एक पंडित भाई ने अपने मूर्ख भाई से बँटवारे में कहा कि भाई तुम भागवत की पोथी लोगे कि दुर्गापाठ का पोथा ?

भाई ने दुर्गापाठ को बड़ा समझ उसे ही ले लिया। यहाँ लिङ्ग से विशालता ध्वनित हुई। ऐसे ही लघुता को व्यञ्जक 'पोथी' का लिङ्ग है। ऐसे ही किसी को कभी कुछ छोटी सी पुस्तक पढ़ते देख व्यङ्ग्य से कह देते हैं कि क्या पोथा लेकर पढ़ने बैठ गये। यहाँ पोथा का लिङ्ग ही व्यञ्जना का मूल है।

इसी प्रकार और उदाहरण भी समझ लेना चाहिये।

नवीं किरण

ध्वनिभेदार्थविचार

ध्वनि के मुख्य भेद दो हैं—लक्षणामूल और अभिधामूल। लक्षणामूल को अविवक्षितवाच्य ध्वनि और अभिधामूल को विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि भी कहते हैं।

मूल में लक्षणा होने से इसे लक्षणामूल कहते हैं। वाच्यार्थ की विवक्षा न रहने के कारण इसे अविवक्षितवाच्य ध्वनि भी कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ से वक्ता के कहने का तात्पर्य नहीं जाना जाता। अतः यहाँ वाच्यार्थ की अविवक्षा या उसकी बाधा स्वाभाविक हो जाती है।

लक्षणामूल ध्वनि के दो भेद होते हैं—(१) अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य और (२) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य।

(१) दूसरे अर्थ को अर्थान्तर कहते हैं। यह सामान्य से विशेष ही होगा। अतः जिस ध्वनि में विशेषार्थ में वाच्य संक्रमित हो वह अर्थान्तर-

संक्रमित-वाच्य हुई। अर्थात् जहाँ मुख्यार्थ के बाधित होने पर उसका अर्थ दूसरे अभिप्राय में बदल जाता है वहीं अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य ध्वनि होती है। और, जिसमें वाच्य का अत्यन्त तिरस्कार होता है उसे अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि कहते हैं। अत्यन्त शब्द से सामान्यतः तथा विशेषतः, सब प्रकार से मुख्यार्थ का तिरस्कार रहता है। इसमें किसी प्रकार मुख्यार्थ का समन्वय नहीं होता। इससे यह ध्वनि अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य कहलाती है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि लक्षणामूल के अर्थान्तर-संक्रमित भेद में प्रयोजनवती लक्षणा ही ली जाती है, निरूढ़ा नहीं। क्योंकि, निरूढा लक्षणा में व्यंग्य नहीं होता और प्रयोजनवती में प्रयोजन ही व्यंग्य रूप में रहता है। अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि में लक्षणलक्षणा का आश्रय लिया जाता है जिससे व्यंग्य-प्रतीति होती है।

अभिधामूल ध्वनि के मूल में अभिधा होने के कारण वाच्य विवक्षित रहकर अन्यपरक होता है। अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ विवक्षित होकर अन्यपरक अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ का बोधक हो जाता है वहाँ विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि होती है। इसमें वाच्यार्थ का न तो अन्यार्थ में संक्रमण होता है और न सर्वथा तिरस्कार ही, बल्कि वह अपेक्षित रहता है। यहाँ वाच्यार्थ अन्यार्थ के साथ ही अपना अस्तित्व भी रक्खे रहता है। उसके ज्ञान होने पर व्यङ्ग्यार्थ का भान होता है।

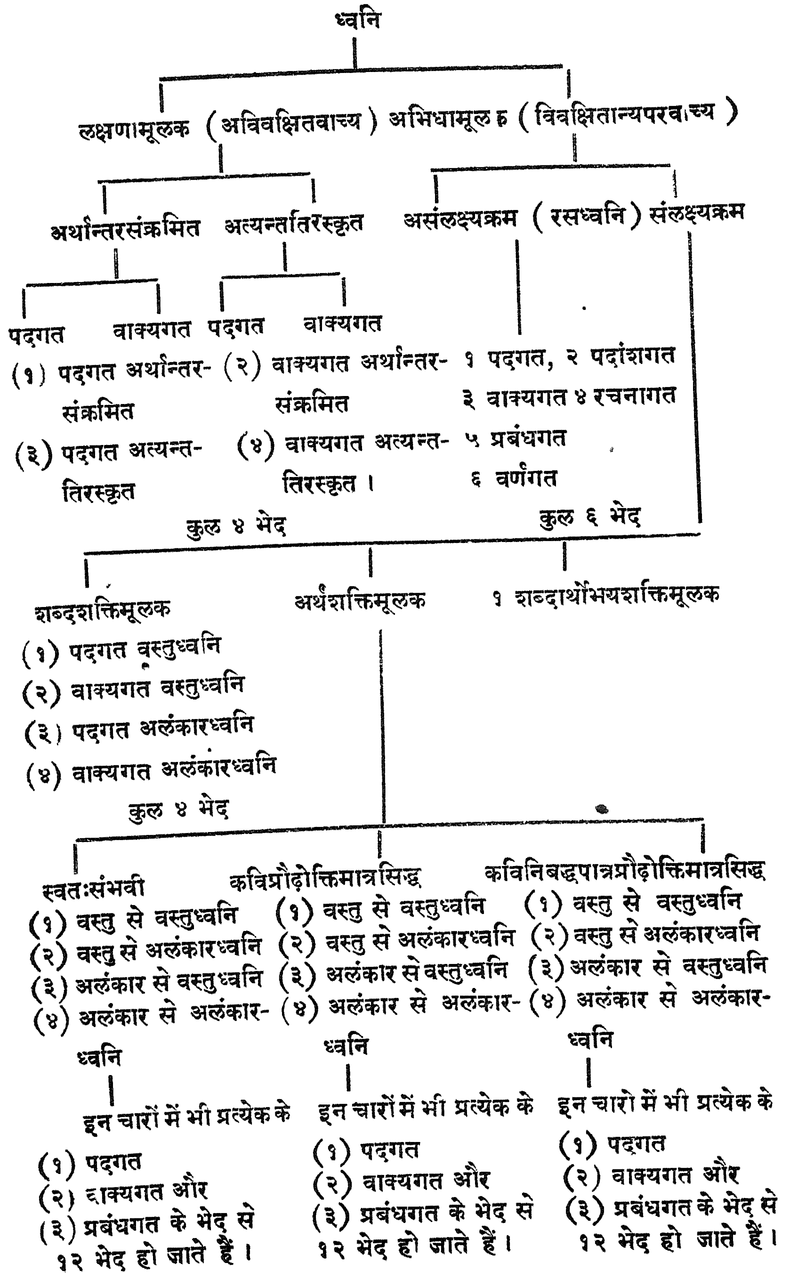
अभिधामूल ध्वनि के भी दो भेद होते हैं—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य। पहले में व्यंग्य का क्रम लक्षित नहीं होता अर्थात् वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का बोध इतनी शीघ्रता के साथ होता है कि पूर्वापर का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता और दूसरे में वाच्यार्थ के बोध हो जाने पर व्यङ्ग्यार्थ परिलक्षित होता है। इसमें पूर्वापर का ज्ञान रहता है। पहले का एक रसादिध्वनि और दूसरे के तीन—शब्द शक्त्युद्भव ध्वनि, अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि और शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव ध्वनि—भेद होते हैं।

दसवीं किरण

ध्वनि के ५१ भेद

आगे की चित्र-सूची और नाम-सूची से ध्वनि के ५१ भेदों और उपभेदों के विकास-क्रम और पूरे नाम ज्ञात होंगे और उन्हीं के अनुसार अगली किरणों में यथावश्यक लक्षण तथा विवृतिसहित प्रत्येक का उदाहरण दिया जायगा।

ध्वनि के ५१ भेदों का एक रेखाचित्र



इनकी अभिलषित संख्या इस प्रकार है।

१ अविवक्षितवाच्य	४
२ असंलक्ष्यक्रम	६
३ संलक्ष्यक्रम (शब्दशक्तिमूलक)	४
४ संलक्ष्यक्रम (अर्थशक्तिमूल)	३६
५ शब्दार्थोभयशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम	१
	५१

ध्वनि के ५१ भेदों के सम्पूर्ण नाम

१ पदगत, अर्थान्तरसंक्रमित, अविवक्षितवाच्य ध्वनि
२ वाक्यगत, अर्थान्तरसंक्रमित, अविवक्षितवाच्य ध्वनि
३ पदगत, अत्यन्ततिरस्कृत, अविवक्षितवाच्य ध्वनि
४ वाक्यगत, अत्यन्ततिरस्कृत, अविवक्षितवाच्य ध्वनि
५ पदगत असंलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि
६ पदांशगत, असंलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि
७ वाक्यगत, असंलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि
८ रचनागत, असंलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि
९ प्रबंधगत, असंलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि
१० वर्णगत, असंलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि
११ पदगत, शब्दशक्तिमूलक, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तुध्वनि
१२ वाक्यगत, शब्दशक्तिमूलक, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तुध्वनि
१३ पदगत, शब्दशक्तिमूलक, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकारध्वनि
१४ वाक्यगत, शब्दशक्तिमूलक, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकारध्वनि
१५ पदगत, अर्थशक्तिमूलक, स्वतःसंभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि
१६ वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, स्वतःसंभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि
१७ प्रबंधगत, अर्थमूलक, स्वतःसंभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तु ध्वनि
१८ पदगत, अर्थमूलक, स्वतःसंभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि
१९ वाक्यगत अर्थमूलक, स्वतःसंभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से अलंकारध्वनि

२० प्रबंधगत, अर्थमूलक, स्वतःसंभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से अलंकारध्वनि

२१ पदगत, अर्थशक्तिमूलक, स्वतःसंभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकारसे वस्तुध्वनि

२२ वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, स्वतःसंभवी संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से वस्तुध्वनि

२३ प्रबंधगत, अर्थशक्तिमूलक, स्वतःसंभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से वस्तुध्वनि

२४ पदगत, अर्थशक्तिमूलक, स्वतःसंभबी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से अलंकारध्वनि

२५ वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, स्वतःसंभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से अलंकार ध्वनि

२६ प्रबंधगत, अर्थशक्तिमूलक, स्वतःसंभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से अलंकारध्वनि

२७ पदगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि

२८ वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि

२९ प्रबंधगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि

३० पदगत, अर्थशक्तिमूलक कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, वस्तु से अलंकारध्वनि

३१ वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपर वाच्य, वस्तु से अलंकारध्वनि

३२ प्रबंधगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, वस्तु से अलंकार ध्वनि

३३ पदगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से वस्तुध्वनि

३४ वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से वस्तुध्वनि

३५ प्रबंधगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से वस्तुध्वनि

३६ पदगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से अलंकारध्वनि

३७ वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से अलंकारध्वनि

३८ प्रबंधगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से अलंकारध्वनि

३९ पदगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि

४० वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, वस्तु से वस्तुध्वनि

४१ प्रबंधगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, वस्तु से वस्तुध्वनि

४२ पदगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, वस्तु से अलंकारध्वनि

४३ वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, वस्तु से अलंकारध्वनि

४४ प्रबंधगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, वस्तु से अलंकारध्वनि

४५ पदगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से वस्तुध्वनि

४६ वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से वस्तु ध्वनि

४७ प्रबंधगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से वस्तुध्वनि

४८ पदगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से अलंकारध्वनि

४९ वाक्यगत अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से अलंकारध्वनि

५० प्रबंधगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्र प्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से अलंकार ध्वनि

५१ शब्दार्थोभयशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि

ग्यारहवीं किरण

लक्षणामूलक (अविवक्षितवाच्य) ध्वनि

जिसके मूल में लक्षणा हो उसे लक्षणामूलक ध्वनि कहते हैं।

लक्षणा के जैसे मुख्य दो भेद—उपादानलक्षणा और लक्षण-लक्षणा—होते हैं वैसे ही इसके भी उक्त (१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि (२) अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि नामक दो भेद होते हैं। पहली के मूल में उपादानलक्षणा और दूसरी के मूल में लक्षणलक्षणा रहती है। ये पदगत और वाक्यगत के भेद से चार प्रकार की हो जाती हैं।

लक्षणामूल को अविवक्षितवाच्य ध्वनि कहा गया है क्योंकि उसमें वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती। इसीसे इसमें वाच्यार्थ से वक्ता के कहने का तात्पर्य नहीं जाना जाता। इससे वाच्यार्थ का बाधित होना या उसका अनुपयुक्त होना निश्चित है। जैसे, किसी ने कहा कि 'वह कुम्भकर्ण है'। यहाँ वाच्यार्थ से केवल यही समझा जायगा कि उसके कान घड़े के समान हैं या वह त्रेता के राजा रावण का भाई है। किन्तु, वह व्यक्ति न तो रावण का भाई ही है और न उसके कान घड़े के समान ही हैं। यहाँ वाच्यार्थ की बाधा है। वक्ता का अभिप्राय इससे नहीं जाना जा सकता। अतः यहाँ प्रयोजनवती गूढ़व्यंग्या लक्षणा द्वारा यह समझा जाता है कि वह महाविशालकाय, अतिभोजी और अधिक निद्रालु है। इससे आलस्यातिशय ध्वनित होता है। यहाँ वाच्यार्थ की अविवक्षा है और वह अर्थान्तर में संक्रमित है।

वाच्यार्थ का बाधित अर्थात् उपयोग में लाने के अयोग्य होना दो प्रकार से संभव है। एक तो अर्थ-पुनरुक्ति होने से और दूसरे वक्ता के वक्तव्य का तात्पर्य व्यक्त न होनेसे। दोनों के उदाहरण दिये जाते हैं।

१ पदगत अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि

अर्थ-पुनरुक्ति से अनुपयुक्त वाच्यार्थ के लक्षण और उदाहरण—

जहाँ मुख्यार्थ का बाध होनेपर वाचक शब्द का वाच्यार्थ लक्षणा द्वारा अपने दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाय—बदल जाय

वहाँ अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि होती है। पद में होने से इसे पदगत कहते हैं। जैसे,

कदली कदली ही अहै करभ करभ ही जान।
करिकर करिकर ही, नहीं कहुँ तिय उरु उपमान ॥ **अनुवाद**

कदली केले के गाछ को कहते हैं। हाथ की छोटी उँगुली से लेकर कलाई तक के बाहरी अंश का करभ कहते हैं और करिकर का अर्थ है हाथी की सूँड़। केले का खंभा, करभ और हाथी की सूँड़, इन तीनों से स्त्री की जंघा की उपमा दी जाती है। पर वस्तुतः इनमें से कोई भी उपमा देने योग्य नहीं। क्योंकि केला केला ही है, करभ करभ ही और हाथी की सूँड़ हाथी की सूँड़ ही है। यहाँ तीनों ही पुनरुक्त हैं। पुनरुक्त शब्दों का अर्थ भी वही है। एकार्थक शब्दों का दोहराना व्यर्थ है। अतः वाच्यार्थ अनुपयुज्यमान होने के कारण अपने विशेष स्वरूप अर्थान्तर में परिणत हो जाते हैं। जिससे उनकी सार्थकता हो जाती है। जैसे, दूसरे कदली शब्द का अर्थ जड़ है, शीतल है, करभ शब्द का अर्थ छोटा है, और करिकर का अर्थ कर्कश है। यहाँ प्रयोजनवती उपादानलक्षणा है। लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ का विशेष रूप ही है। जाड्यादि गुणों की अधिकता प्रयोजन रूप व्यंग्य है।

तो क्या अबलायें सदैव ही अबलायें हैं बेचारी! **गुप्तजी**

यहाँ द्वितीय वार प्रयुक्त 'अबला' शब्द पुनरुक्ति-दोष से दूषित सा लगता है। मगर नहीं। पुनरुक्त 'अबला' शब्द अपने मुख्यार्थ 'स्त्री' में बाधित होकर अपने इस लाक्षणिक अर्थ को प्रकट करता है कि वे अबलायें है अर्थात् निर्बल हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि उनको सदा पराधीन, आत्मरक्षा में असमर्थ या दया का पात्र ही नहीं होना चाहिये। यहाँ जो लक्ष्यार्थ किया जाता है वह वाच्यार्थ का रूपान्तर-मात्र है। उससे सर्वथा भिन्न नहीं। प्रायः पुनरुक्त शब्द प्रथमोक्त शब्द के अर्थ में उत्कर्ष या अपकर्ष का द्योतन करता है। यहाँ लक्षिणक प्रयोग द्वारा जो उक्त व्यंग्यार्थ का बोध होता है, वह किसी वाक्य या रचना के द्वारा नहीं, कविता के केवल एक पद 'अबला' शब्द के द्वारा। अतः यहाँ पदगत ध्वनि है। 'अबला' शब्द अपने मुख्यार्थ 'स्त्री' की अपेक्षा नहीं करता इससे अविवक्षितवाच्य भी है।

राधा अतिगुन आगरी, स्वर्नबरन तनु रंग।
मोहन तू मोहन भया, परसत जाके अंग ॥ **प्राचीन**

यहाँ दूसरे मोहन शब्द का अर्थ है सबको मोहित करने वाला, सबके हृदयमें बस जाने वाला। मोहन शब्द इसी अर्थ में संक्रमण कर जाता है।

निम्नलिखित पंक्तियों में मधुर ध्वनि करनेवाली के अर्थ में कोयल और कर्ण-कटु शब्द करनेवाले के अर्थ में कौआ शब्द की पुनरावृत्ति की गयी है।

कोयल काली कौआ काला, क्या इनमें कुछ भेद निराला ?
पर कोयल कोयल वसन्त में, कौआ कौआ रहा अन्त में ॥ **अनुवाद**

ऐसे ही अन्य पद्य भी ऐसी ही पदगत अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि के उदाहरण होते हैं।

दूसरे प्रकार के अनुपयुक्त वाच्यार्थ का उदाहरण

लंका में था एक विभीषण भारत में बहुतेरे।
कैसे नेता कुछ कर लेंगे मिल कर आज घनेरे ॥ **राम**

यहाँ वाच्यार्थ तो यही होगा कि 'लंका' में एक ही विभीषण था; पर भारत में बहुत से विभीषण हैं। किन्तु इस वाच्यार्थ से पद्य का वास्तविक तात्पय प्रकट नहीं होता। क्योंकि, विभीषण का मुख्यार्थ है रावण का भाई। पर भारत में रावण का एक भी भाई नहीं, बहुतेरों की बात तो दूर रही। इस प्रकार विभीषण शब्द के मुख्यार्थ का बाध होने से पद्य का अभिप्राय नहीं जाना जा सकता। अतः यहाँ मुख्यार्थ की अविवक्षा करके प्रयोजनवती लक्षणा द्वारा यह लक्ष्यार्थ हुआ कि जिस तरह विभीषण घर का भेदिया, भ्रातृद्वेषी, देशद्रोही तथा शत्रुसहायक था, उसी तरह भारत में भी देशद्रोहियों, शत्रुसहायकों और घर फूँककर तापनेवालों की कमी नहीं है। यहाँ देशद्रोह की अतिशयता ध्वनित है। ऐसी दशा में बेचारे नेता देश के लिये क्या कर सकते हैं, अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है और इस प्रकार पद्य का सुन्दर और वास्तविक अभिप्राय साधारण बुद्धि वालों की समझ में भी आ जाता है। यहाँ भी विभीषण शब्द अर्थान्तर में संक्रमण कर गया है।

२ वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि

जहाँ मुख्यार्थ के बाधित हो जाने के कारण वाच्यार्थ की विवक्षा न होने पर, वाक्य अपने दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाय, वहाँ यह ध्वनि होती है। जैसे,

सेना छिन्न, प्रयत्न भिन्न कर पा मुराद मनचाही।
कैसे पूजूँ गुमराही को मैं हूँ एक सिपाही ॥ **भा. आत्मा**

इस पद्य में 'मैं हूँ एक सिपाही' वाक्य के मुख्यार्थ से कवि के कहने का तात्पर्य बिलकुल भिन्न है। इसका व्यंग्यार्थ होता है—मैं कष्टसहिष्णु, साहसी, राष्ट्र का उन्नायक, आज्ञापालक, स्वभावतः देशप्रेमी तथा वीर हूँ। इस दशा में गुमराही की पूजा कैसे करूँ ? यहाँ वाक्य अपने मुख्यार्थ में बाधित होकर अर्थान्तर (व्यङ्ग्यार्थ) में संक्रमण कर गया है। इसमें 'मैं' इतने ही से काम चल जा सकता था। 'हूँ एक सिपाही' शब्द व्यर्थ हैं। किन्तु नहीं। 'मैं हूँ एक सिपाही' वाक्य सिपाही का उक्त सगौरव आत्माभिमान व्यंजित करता है।

३ पदगत अत्यन्ततिरस्कृत (अविवक्षित वाच्य) ध्वनि

जहाँ बाधित वाच्यार्थ का अर्थान्तर में संक्रमण नहीं होता बल्कि मुख्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार ही हो जाता है, अर्थात् उसका एक भिन्न ही अर्थ हो जाता है वहाँ यह ध्वनि होती है। इसके ये उदाहरण हैं—

बापू तुम हो मानव अथवा विभु हो विमल विभूति।
चक्रकेतु भारत के रथ के सूत्रधार स्वर्दूत ॥ **सुधीन्द्र**

बापू पर स्वर्दूत का आरोप है। बापू स्वर्दूत नहीं हो सकते। यहाँ स्वर्दूत अपना अर्थ छोड़कर उस पुरुष का अर्थ देता है जो पृथ्वी पर स्वर्गीय सुख का संचार करने के लिये आया है। अतः लक्षण-लक्षणा है। इससे प्रयोजन-रूप यह व्यंग्य निकलता है कि महात्माजी विश्व को स्वर्दूत के सदृश कल्याण के सन्देशदाता तथा सत्य के साम्राज्य के स्थापक हैं। यहाँ वाच्य अर्थ का अत्यन्त तिरस्कार है। प्रथम उदाहरण के समान यहाँ दूसरे अर्थ में संक्रमण नहीं होता, बल्कि भिन्न ही अर्थ हो जाता है। स्वर्दूत में होने से पदगत है।

नीलोत्पल के बीच सजाये मोती से आँसू के बूँद।
हृदय-सुधानिधि से निकले हो तब न तुम्हें पहचान सके ॥ **प्रसाद**

नीलोत्पल के बीच में मोती के सदृश आँसू सजे हैं। इस अर्थ में बाध स्पष्ट है। किन्तु आँसू के सहारे नीलोत्पलों में अध्यवसित उपमेय नयनों का शीघ्र बोध हो जाता है। नीलोत्पल के अपना अर्थ छोड़कर

आँख का अर्थ देने से लक्षणलक्षणा है। यहाँ अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य से यह ध्वनि निकलती है कि नयन बड़े सुन्दर हैं, दर्शनीय हैं। नीलोत्पल में होने से पदगत है।

लक्षणा प्रकरण का यह उदाहरण इस बात का द्योतक है कि ऐसे स्थल में ही यह ध्वनि होती है।

साँस से आँधर दर्पन ही जस बादल ओट लखात है चन्दा।

इस चरण में 'दर्पण' को अंधा बतलाया गया है। यह सर्वथा असंभव है। क्योंकि, अंधा होना नेत्रवाले प्राणी का धर्म है। दर्पण तो जड़ और नेत्रहीन है। अतः पूर्ववत् यहाँ भी 'आँधर' का मुख्यार्थ नेत्रहीन का बिलकुल तिरस्कार हो गया है। यहाँ उसका लक्ष्य अर्थ है—मैला, धुँधला या झाँईदार। यह अर्थ सारोपा गौणी लक्षण-लक्षणा से होता है। यहाँ व्यंग्यार्थ मालिन्यातिशय का जो बोध होता है, वह केवल 'आँधर' शब्द से। अतः यह उदाहरण भी पदगत का ही है।

४—वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृत (अविवक्षित वाच्य) ध्वनि

सकल रोंओं से हाथ पसार, लूटता इधर लोभ गृह द्वार। **पंत**

यहाँ वाच्यार्थ सर्वथा बाधित है। रोओं से लोभ का हाथ पसारना और घर-द्वार लूटना, एकदम असंभव है। लक्ष्यार्थ है लोभी का समस्त कोमल और कठोर साधनों से परकीय द्रव्य को आत्मसात् करना। इससे प्रयोजनरूप व्यंग्य है लोभ या तृष्णा का आत्मतृप्ति के लिये दैन्य या बलात्कार सब कुछ कर सकने की क्षमता। इससे पद्यार्ध का अर्थ अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है। यह वाक्यगत है।

मैंने कुछ सुखमय इच्छायें चुन लीं सुन्दर शोभाशाली।
औ' उनके सोने चाँदी से भर ली प्रिय प्राणों की डाली। **पंत**

यहाँ इच्छाओं के उत्तम फल न कहकर सोना-चाँदी उक्त हैं। सोने चाँदी में इच्छाओं का फल अध्यवसित है। लक्षणलक्षणा से अर्थ होता है सुखमय इच्छाओं का फल पाना सोने-चाँदी के लाभ के समान है। सोना-चाँदी अपना अर्थ छोड़कर इच्छाओं के फल बन जाते हैं। यहाँ अत्यन्त-तिरस्कृत अविवक्षित-वाच्य से यह ध्वनि निकलती है कि सुखकामनाओं के परिग्रह और उनके फलोपभोग में विवेक और संयम से काम लेना ही श्रेयस्कर है। वाक्य में होने से यहाँ वाक्यगत है।

विपरीत लक्षणा पर आश्रित उक्त ध्वनि का वाक्यगत उदाहरण—

आप कचहरिया सत्यवादी हैं।

इसका अभिप्राय यह कि आप सत्यवादी नहीं हैं।

रावण-अंगद-संवाद की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी इसके उदाहरण हैं—

रावण—

तव खल बचन कठिन मैं सहऊँ।
नीति धर्म सब जानत अहऊँ॥

अंगद—

नाक-कान बिनु भगिनि निहारी। छमा कीन्ह तुम धर्म विचारी॥
धर्म-सीलता तव जग जागी। पावा दरस हमहुँ बड़ भागी॥ **तुलसी**

रावण ने जब कहा कि अंगद, तुम्हारी कठोर बातें मैं इसीलिये सहन करता हूँ कि मैं नीति और धर्म जानता हूँ। दूत का वध करना अन्याय समझा जाता है। इस पर अंगद ने उत्तर दिया—सत्य है, तुम्हारी धर्मशीलता सारा संसार जानता है। इसीलिये तो तुमने अपनी बहन के नाक-कान काट लेने पर भी राम को क्षमा कर दिया था। मैं भी बड़ा भाग्यशाली हूँ जो आप जैसे धर्मात्मा के दर्शन आज मुझे मिले। इस वाच्यार्थ का इसमें बिलकुल बाध है। क्योंकि, रावण जैसे अन्यायी शत्रु की प्रशंसा कभी नहीं की जा सकती। इसीलिये, यहाँ 'छमा कीन तुम धर्म विचारी' आदि में वाक्य के मुख्यार्थ का बिलकुल तिरस्कार होने पर लक्ष्यार्थ का बोध होता है कि तुम कायर हो। तुम्हें लज्जा आनी चाहिये कि तुम्हारी बहन के नाक-कान कट जाने पर भी तुमसे कुछ करते नहीं बना। इसी तरह 'पावा दरस हमहुँ बड़ भागी' में मुख्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कार होकर लक्ष्यार्थ का बोध होता है कि तुम्हारे जैसे अन्यायी और पापी का मुँह देखकर मैं अभागा साबित हुआ—अर्थात् तुम्हारे जैसे पापियों का मुँह देखना भी पाप है। इसमें रावण को सर्वथा तिरस्कार्य बताना व्यङ्ग्य है। यहाँ किसी पद के अर्थ का तिरस्कार नहीं हुआ है, संपूर्ण वाक्य का अर्थ ही तिरस्कृत हो गया है। इससे वाक्यगत है।

———

बारहवीं किरण

अभिधामूलक (विवक्षितान्यपरवाच्य) ध्वनि

जिसके मूल में अभिधा अर्थात् वाच्यार्थ-सम्बन्ध हो उसे अभिधामूल ध्वनि कहते हैं।

अभिधामूल को विवक्षितान्यपरवाच्य कहा गया है। क्योंकि, इसमें वाच्यार्थ वांछनीय होकर अन्यपर अर्थात् व्यंग्यार्थ का बोधक होता है। इसमें वाच्यार्थ का न तो दूसरे अर्थ में संक्रमण होता है और न सर्वथा तिरस्कार, बल्कि वह विवक्षित रहता है।

कहने का अभिप्राय यह कि वाच्यार्थ अन्य अर्थ के अस्तित्व को रखते हुए अपना अस्तित्व नहीं खोता बल्कि व्यंग्यार्थ का तभी बोध होता है जब कि वाच्यार्थ का बोध होता है। इस वाच्यार्थ-व्यंग्यार्थ-बोध के मध्य का क्रम कहीं अलक्षित रहता है और कहीं लक्षित। इसी से इसके भी दो भेद हैं—(१) असंलक्ष्यक्रम ध्वनि और (२) संलक्ष्यक्रम ध्वनि। पहले में पौर्वापर्व का ज्ञान नहीं रहता मगर दूसरे में रहता है।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य (रसादि) ध्वनि

जिस व्यंग्यार्थ का क्रम लक्षित नहीं होता वह असंलक्ष्य-क्रम ध्वनि होती है।

अभिप्राय यह कि व्यंग्यार्थ-प्रतीति में पौर्वापर्य का—आगे-पीछे का ज्ञान नहीं रहता कि कब वाच्यार्थ का बोध हुआ और कब व्यंग्यार्थ का। दोनों का एक साथ ही बोध होता है। अर्थात् पहले विभाव के साथ, फिर अनुभाव के साथ, और फिर व्यभिचारी के साथ स्थायी की प्रतीति का क्रम रहता हुआ भी शीघ्रता के कारण जहाँ प्रतीत नहीं होता वहाँ असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है। इसे ही रसध्वनि भी कहते हैं। क्योंकि असंलक्ष्यक्रम में व्यंग्यरूप से रस, रसाभास आदि ही ध्वनित होते हैं।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि जब रस-बोध में विभावादि कारण माने जाते हैं और कारण की सत्ता का पूर्व और कार्य की सत्ता का पर होना स्वाभाविक तथा निश्चित है तब सर्वत्र कारण-कार्य की प्रतीति का

क्रम संलक्षित रहेगा ही; फिर यह रसादिध्वनि असंलक्ष्यक्रम कैसे हो सकती है ?

इसका उत्तर यह है कि इस ध्वनि में जो रस, रसाभास आदि व्यंग्यरूप से प्रतीत होते हैं, उनकी प्रतीति इतनी त्वरित होती है कि उस समय इसका ज्ञान नहीं रह जाता कि कब कारण हुए और कब कार्य। क्योंकि इनका क्रम जरा भी परिलक्षित नहीं होता—एक साथ ही सबकी प्रतीति हो जाती है। इसलिये इसका नाम 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि' है।

निम्नलिखित दृष्टान्तों से यह स्पष्ट हो जायगा। जैसे, छोड़ी हुई राइफल की गोली जब किसी की छाती में लगती है तब वह क्रमशः चमड़ा, मांस, मज्जा, हड्डी आदि को पार करने के बाद ही शरीर को छेदकर बाहर निकलती है। मगर उसका कार्य इतनी शीघ्रता से होता है कि छेदन का कार्य क्रमिक रूप में परिलक्षित नहीं होता। इसी तरह बिजली का बटन दबाते ही तमाम शहर के खंभों के लट्टू एक साथ ही जल उठते हैं। पर वहाँ भी करेंट तो एक खंभे से दूसरे में और फिर तीसरे में—क्रमशः पहुँचती है। मगर उसकी क्रमिक गति का लक्षित होना या उसका आभास तक मिलना नितान्त असंभव है।

इसी प्रकार रस-ध्वनि के जो रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि भेद होते हैं और उनके आस्वादन की अनुभूति के विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि जो कारण होते हैं, उनका पौर्वापर्य-ज्ञान प्रतीति-काल में बिलकुल दुष्कर होता है।

रसों की प्रतीति में विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव—ये तीनों कारण होते हैं। इनसे ही जब स्थायी भाव परिपुष्ट होते हैं तब रसों का आस्वाद होता है। सच पूछिये तो इनके संमेलनात्मक रूप को ही रस कहते हैं। *

निम्नलिखित उदाहरणों से रसोत्पत्ति के प्रकार को तथा असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्य ध्वनि को स्पष्ट समझ लीजिये।

पलँग-पीठ तजि गोद हिंडोरा, सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा।
जिअन-मूरि जिमि जुगवत रहऊँ, दीप-बाति नहिं टारन कहऊँ।
सो सिय चलनि चहति बन साथा, आयसु काह होइ रघुनाथा।

तुलसीदास

* परिचय के लिये आगे की किरणें देखिये।

राम के वन-गमन के समय नवपरिणीता वधू सीता ने अपनी सास कौसल्या से आग्रह किया कि मैं भी पति के साथ वन में जाऊँगी। प्राण के समान प्यारी नववधू की बातें सुनकर पुत्र-वियोग से मर्माहत कौसल्या वधू-वियोग की आशंका से एकबार काँप जाती हैं। इस भयानक और अचानक वज्राघात से उनकी आकृति विवर्ण हो जाती है और वे अत्यन्त कारुणिक वचनों में राम के सम्मुख अपना अभिप्राय प्रगट करती हैं।

उक्त पद्य में नवपरिणीता 'सीता' आलम्बन रूप विभाव हैं। उनकी सुकुमारता, अल्पवयस्कता, अकष्टसहिष्णुता, स्नेहप्रवणता आदि उद्दीपन रूप विभाव हैं। पुत्र-वियोग के साथ वधू-वियोग की आशंका से कौसल्या की विवर्णता, उच्छ्वास, दीन वचन, रोदन, दैव-निन्दा आदि अनुभाव हैं। इसी तरह चिन्ता, मोह, ग्लानि, दैन्य, स्मरण, जो बराबर उठते और मिटते हैं, संचारी भाव हैं। और इन सब के संमेलनात्मक रूप से श्रोता या वक्ता के अन्तर में जिस स्थायी भाव शोक की परिपुष्टि होती है, वही शोक करुण रस के रूप में परिणत हो जाता है।

यहाँ सब व्यापार—विभाव, अनुभाव, संचारी भाव की उत्पत्ति, इनके द्वारा शोक स्थायी भाव की परिपुष्टि तथा करुण रस की प्रतीति—क्रम से ही होते हैं। परन्तु ये सब इतनी शीघ्रता में होते हैं कि स्वयं रसास्वादयिता को भी पता नहीं चलता कि इतने काम कब और कैसे हुए।

उपर्युक्त पद्य में अनुभव किया गया होगा कि कौसल्या की उक्ति से जो व्यंग्य रूप में करुण रस की प्रतीति होती है, उसके पहले होने वाले व्यापारों के क्रम का ज्ञान कतई नहीं होता। वाच्यार्थ-बोध के साथ ही ध्वनिरूप में करुण रस की व्यंजना हो जाती है।

ऐसे ही आप जब कभी सिनेमा में चार्ली के हास्यमय तथा यमुना के करुणामय अभिनय को देखकर हँसते या द्रवीभूत हो जाते हैं तब आपको इतना सोचने का अवकाश कहाँ मिलता है कि विभाव, अनुभाव, तथा संचारी भाव का कब उदय हुआ, हास्य और शोक की कब परिपुष्टि हुई और कब हँसी आयी और कब आँखों में आँसू भर आये। वहाँ तो सब आपको एक साथ ही होते से लगते हैं और केवल

हँसना और द्रवित होना ही भर हाथ आता है। इसी प्रकार असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है। एक और उदाहरण लें—

मैं निज अलिन्द में खड़ी थी सखि, एक रात,
रिमझिम बूँदें पड़तीं थीं, घटा छाई थी।
गमक रहा था केतकी का गंध चारो ओर,
झिल्ली-झनकार यही मेरे मन भाई थी।
करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपुरों से,
चंचला थी चमकी घनाली घहराई थी।
चौंक देखा मैंने, चुप कोने में खड़े थे प्रिय,
माई! मुखलज्जा उसी छाती में छिपाई थी।

इसमें ऊर्मिला आलंबन विभाव हैं। उद्दीपन हैं, बूँदों का पड़ना, घटा का छाना, फूल का गमकना, झिल्लियों का झनकारना, चंचला का चमकना आदि। अनुभाव हैं नूपुर बजाना और छाती में मुँह छिपाना। लज्जा, स्मृति, हर्ष, विबोध आदि संचारी भाव हैं। इन भावों से परिपुष्ट होकर रति स्थायी भाव शृङ्गार रस में परिणत होकर ध्वनित होता है। यहाँ पूर्वानुभूत सुखोपभोग की स्मृति का वर्णन रहने पर भी उसकी प्रधानता सिद्ध न होने से भावध्वनि नहीं है।

तेरहवीं किरण

रस व्यङ्ग्य ही होता है

वर्तमान काल के साहित्यिक सब विषयों में अपने को स्वच्छन्द तो मानते ही हैं पर उनकी स्वच्छन्दता जब वाद-मर्यादा का अतिक्रमण करके विषय-सीमा के बाहर ही बाहर चक्कर काटती हुई अर्द्धजरतीय न्याय का अनुसरण करने लगती है तब इस स्वच्छन्दता पर तरस आये बिना नहीं रहता। रससिद्धान्त भारतीय बुद्धि की उपज है। भारतीयों ने किस प्रकार उसका उद्भावन, प्रतिपादन और निगमन किया है, पहले इसे साङ्गोपाङ्ग समझ कर तब कलम उठाना चाहिये। प्राच्य विषय की विवेचना पाश्चात्य ढंग से करने का अधिकार उसी उपज्ञ को प्राप्त है जो विषय-साङ्कर्य से बचकर नये अर्थापन में कुशल हो। पर जो केवल आंशिक स्वरूप से ही परिचय प्राप्त कर अपनी

स्वच्छन्दता प्रदर्शित करने में तत्पर हो उठता है उसका साहस श्लाघनीय न होकर उपहसनीय ही बन जाता है। एक आधुनिक आलोचक महोदय क्या लिखते हैं—

(१) प्राचीन काव्य-समीक्षा के शब्दों में निरालाजी की उक्त [1]कविता व्यञ्जना-विशिष्ट नहीं है, वरन अभिधाविशिष्ट है। (२) इसमें रस व्यंग्य नहीं है, वाच्य है। (३) प्राचीन-शास्त्र कहते हैं कि ध्वनिमूलक काव्य ही श्रेष्ठ है, पर हम इस आग्रह को हद से बाहर लिये जा रहे हैं। (४) नवीन काव्य जिस नैसर्गिक अदम्यता को लेकर आया है, उसमें यह संभव नहीं कि वह परम्परा-प्राप्त ध्वन्यात्मक का अनुसरण करता चले। (५) यह ध्वनि और अभिधा काव्य -वस्तु के भेद नहीं हैं। केवल व्यक्त करने की प्रणाली के भेद है।······(६) जहाँ तक हम समझ सके हैं व्यञ्जना की प्रणाली में यदि कुछ विशेषता है ता यही कि उसमें काव्य को मूर्त आधार अधिक प्राप्त होता है। (७) व्यञ्जना का अर्थ ही है संकेत, प्रतीक आदि।[2]

इस अवतरण की ये सभी उक्तियाँ भ्रामक हैं। एक एक वाक्य की परीक्षा कीजिये।

(१) पहले वाक्य में जो 'व्यञ्जनाविशिष्ट' और 'अभिधाविशिष्ट' ये दो शब्द आये हैं वे प्राचीन काव्य-समीक्षकों के नहीं हैं। प्राचीन से अभिप्राय यदि संस्कृत के आचार्यों का है तो उनके ये शब्द नहीं हैं। वे काव्यों को ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्र, इन्हीं नामों से अभिहित करते हैं। उनके पारिभाषिक शब्द ये ही हैं। यदि प्राचीन से अभिप्राय आधुनिक काल के पूर्व का है तो ऐसे शब्द वहाँ भी अनवगत हैं। यदि हों भी तो इनको अभी पारिभाषिकता का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है। हमें तो ऐसे शब्दों की कल्पना भ्रामक और अयुक्त प्रतीत होती है। क्योंकि, जो काव्य व्यंग्यमूलक है उसे ध्वनिकाव्य या व्यंग्य काव्य ही कहते हैं। व्यंग्य काव्य को व्यञ्जनाविशिष्ट कहने में कौन सा चमत्कार है कि उसे यह नया नाम दिया जाय? अब अभिधा-विशिष्ट शब्द को लीजिये। 'विशिष्ट' शब्द के दो अर्थ किये जा सकते हैं। एक 'अभिधा की विशेषता वाला' और दूसरा 'अभिधा से युक्त'। इन अर्थों से भी उक्त शब्द की वाच्यता स्पष्ट नहीं होती। क्योंकि जब

---

१ 'प्रथम विजय थी वह·········पहुँचा मैं लक्ष्य पर।

२ हिन्दी साहित्यः बीसवीं शताब्दी' १३८–१३६ पृष्ठ।

अभिधा की विशेषता होती है तब प्रायः अलङ्कार प्रधान रहता है। दूसरे अर्थ में प्रत्येक वाक्य को अभिधा से युक्त होना ही चाहिये। उससे शून्य शब्द तो निरर्थक ही होगा। दोनों ही दशा में अभिधा-विशिष्ट की कुछ सार्थकता नही प्रतीत होती। अतः ये शब्द न तो प्राचीन ही हैं और न सुप्रयुक्त ही।

निरालाजी की उक्त कविता भी प्राचीन प्रणाली के प्रसार से बाहर की चीज नहीं। ओजो-व्यञ्जक पदावली और उदात्त वाच्य के कारण इसे हम शब्दचित्र और अर्थचित्र दोनों का मिश्रण होने से उभयचित्र कह सकते हैं। अथवा यथाकथंचित् उत्साह की व्यञ्जना से वीर रस का स्पर्श बता सकते हैं, पर उसका पूर्ण परिपाक नहीं।

दूसरा वाक्य है—'इसमें रस व्यंग्य नहीं है, वाच्य है।' साहित्य का एक साधारण छात्र भी इस बात को जानता है कि वाच्य वह है जो शब्दों का अर्थ है। रस शब्दार्थ नहीं। रस जब प्रतीत होता है तब व्यंग्य के रूप में ही। जब हम निम्नलिखित चौपाई को—

बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी।
पिय तन चितै भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि।
निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥ तुलसी

पढ़ते हैं या सुनते हैं तब हमें जो काव्यानन्द उपलब्ध होता है वही तो रस है। यहाँ जो शृंगार रस है वह तो किसी शब्द का वाच्यार्थ नहीं। यह तो बस व्यञ्जित, ध्वनित वा प्रतीत ही होता है, वाच्य वा अभिधेय नहीं। यह अवश्य है कि व्यञ्जित रस [1]वाच्य-सामर्थ्य से ही आक्षिप्त होता है। यह रस साक्षात् शब्द-व्यापार का विषय नहीं होता। [2] आस्वाद-प्राण होने से यह प्रतिभासित ही होता है। ध्वनन-व्यापार को छोड़कर इस सम्बन्ध में दूसरी कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती।

---

१ तृतीयस्तु रसादिलक्षणप्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते।
नतु साक्षात् शब्दव्यापारविषय इति वाच्याद्विभिन्न एव॥ ध्वन्यालोक

२ वस्त्वलङ्कारौ शब्दाभिधेयत्वमध्यासाते तावद्रसभावतदाभासतत्प्रशमाः पुनर्न कदाचिदभिधीयन्ते। अथ च आस्वादप्राणतया प्रतिभान्ति तत्र तु ध्वननव्यापारादृते नास्ति कल्पनान्तरम्। ध्वन्यालोकलोचन।

यहाँ शुक्लजी के निम्नलिखित वक्तव्य पर भी विचार कर लेना अप्रासङ्गिक नहीं होगा—

[1] 'रस व्यंग्य होता है' यह कथन कुछ भ्रामक अवश्य है। इससे यह भ्रम होता है कि जिस भाव की व्यञ्जना होती है वही भाव रस है। यही बात वस्तु-व्यञ्जना के सम्बन्ध में भी है। 'व्यञ्जना में अर्थात् व्यञ्जक वाक्य में रस होता है' यही कहना ठीक है और यही समझा ही जाता है।

'रस व्यंग्य होता है' यह भ्रामक वाक्य नहीं। आपने जो भ्रम की बात कही है वह निर्मूल है। क्योंकि रस विभावादि से व्यंग्य ही होता है। भाव भी व्यंग्य होता है, रसाभास, भावाभास आदि भी।

शुक्लजी का यह कथन कि इससे यह भ्रम होता है कि 'जिस भाव की व्यञ्जना होती है वही भाव रस है' सिद्धान्त के अनुसार भ्रमोत्पादक नहीं, प्रत्युत यथार्थ कथन है।

रस-सिद्धान्त के अनुसार विभावादि के द्वारा व्यक्त भाव ही सहृदय के हृदय में रसरूप से परिणत हो जाता है। अतः व्यञ्जक वाक्य में रस होता है, यह कथन ही भ्रामक है। रस व्यंग्य होता है, यह कथन नहीं।

जहाँ केवल भाव की व्यञ्जना होगी वहाँ कोई भाव को क्यों रस मानने लगेगा ! यदि कोई मानने भी लगे तो वह भ्रामक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि रस-भाव का सम्बन्ध ही बड़ा विचित्र है। इसकी सुन्दर विवेचना हमारे शास्त्र में है। आचार्य[2] भरत मुनि का कहना है कि न तो भावहीन रस ही है और न रसहीन भाव ही। जैसे व्यञ्जन से अन्न सुस्वादु होता है वैसे ही भाव और रस एक दूसरे को सुस्वादु करते हैं। जैसे बीज से वृक्ष होता है और उससे फूल-फल, वैसे ही रस

१—काव्य मे रहस्यवाद ६८–६९

२— न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृतासिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्॥
व्यञ्जनौषधिसंयोगो यथान्नं स्वादुतां नयेत्।
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम्॥
यथा बीजाद्भवेद्वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः॥ **नाट्यशास्त्र**

से सब भाव हैं। शुक्लजी का 'व्यञ्जक वाक्य में रस होता है' यह कहना उचित नहीं। क्योंकि, व्यञ्जक वाक्य रस का उद्बोधक होता है, रस उसमें नहीं रहता। एक दूसरे अध्यापक का भी एक वाक्य इसी प्रकार का है—

[1] रसों को व्यञ्जना या ध्वनि (शैली) कहना बहुत उचित प्रतीत नहीं होता।

इस वाक्य से कोई स्पष्ट अभिप्राय व्यक्त नहीं होता। इस वाक्य के अतिरिक्त कहीं किसी ने अब तक रसों को व्यञ्जना नहीं कहा है। व्यंजना शब्द का एक व्यापार है जिसके द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है। रस स्वयं शब्द का कोई व्यापार नहीं है। दूसरी बात यह कि किसी व्युत्पत्ति से ध्वनि शब्द का अर्थ शैली नहीं हो सकता। जब रस न व्यंजना है और न शैली तब उसको उचित कहना वा बहुत उचित, व्यर्थ है। यदि आपको रसों को व्यंग्य वा ध्वनि कहना बहुत उचित नहीं प्रतीत होता तो उचित ही कहिये। आपके वाक्य में भी शुक्ल जी ही बोल रहे हैं।

पूर्वोद्धृत अवतरण के तीसरे वाक्य का आशय यह है कि श्रेष्ठ ध्वनिमूलक काव्य का आग्रह सीमा का अतिक्रमण कर रहा है। यह हमारा आग्रह नहीं, आपका दुराग्रह अवश्य है कि ध्वनिकाव्य लिखा ही न जाय। जैसा कि आपके चौथे वाक्य से स्पष्ट है कि नवीन काव्य नैसर्गिक अदम्यता को लेकर जैसे तैसे कलम रगड़ता चले।

यह नैसर्गिक अदम्यता क्या वस्तु है कुछ समझ में नहीं आता। अदम्यता से तात्पर्य यदि काव्य के उन तत्त्वों से है जो शाश्वत होते और शाश्वतिकता का दम भरते हैं तो ध्वनि से बचना उनके लिये असंभव है। क्योंकि, ध्वनि कोई आस्मानी चीज नहीं। वह जीवन-कला का ऐसा सुझाव है जो जीवन को शाश्वतिक बना सकता है। यदि अदम्यता कहकर आप यह बतलाना चाहते हैं कि ध्वनिप्रक्रिया काव्य की स्वाभाविक अभिव्यक्ति को दबा देती है तो आप ध्वनि के स्वरूप के साथ अन्याय करते हैं। ध्वनि-व्यंजना अभिव्यक्ति को दबाती नहीं, बल्कि उसको व्यवस्थित रूप देती है।

सच्चे प्रतिभाशाली कवि किसी के वश में नहीं होते। कोई विषय वा वस्तु उनकी स्वतन्त्रता नहीं छीन सकती। वे अपनी काव्य-

---

१—वाङ्मयविमर्श। पृष्ठ १९०

रचना के लिये स्वतन्त्र हैं। चाहे वे ध्वन्यात्मक काव्य लिखें या रसप्रधान, या अलंकारप्रधान, या प्रभावात्मक या स्वाभाविक। यदि सच्चा काव्य है तो उसमें नैसर्गिक अदम्यता रहेगी ही। यह विडम्बना, व्यंग्य या ताने-तिसने की बात नहीं। व्यंग्य, रस, भाव, अलङ्कार आदि काव्य में बलात्कार से नहीं लाये जाते। वे प्रतिभाशाली कवि के काव्य में स्वतः उद्भूत होते रहते हैं।

ध्वनिकाव्य को श्रेष्ठ मानने का अपराध प्राचीन शास्त्रों ने ही नहीं किया है। आधुनिक प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य के समीक्षक भी इससे बरी नहीं। पता नहीं, ध्वन्यात्मक काव्य को आलोचक महोदय हेय दृष्टि से क्यों देखते हैं जब कि नवीन कविसम्प्रदाय भी इसकी हामी भरता है। इस सम्बन्ध में उक्त उद्धरणों के अतिरिक्त एक अन्य उद्धरण भी दिया जाता है जिससे व्यंग्य का महत्त्व प्रकट होता है। वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की तुलना करते हुए पाश्चात्य समालोचक ओगडेन (Ogden) महोदय ने जो कुछ लिखा है उसका आशय यह है कि व्यंग्यार्थ को द्योतित करना ही काव्य का पहला प्रयोजन है। वाच्यार्थ वहाँ अपने को गौण करके, अपना प्राधान्य परित्याग कर द्वारभूत हो करके व्यंग्यार्थ को द्योतित करता है। इसीसे व्यंग्यार्थ के सम्बन्ध में सत्य या मिथ्या कुछ कहा नहीं जा सकता। वह सत्य और मिथ्या से विलक्षण होता है।

इससे स्पष्ट है कि ध्वनि-व्यञ्जना आधुनिक कविसमाज को भी

१—देखो 'काव्यालोक' पृष्ठ १८१-१८३ 'पाश्चात्य ध्वनिव्यञ्जना' लेख।

2. Two functions under consideration usually occur together but none the less they are principally distinict. So for as words are used emotively no question as to their truth in the strict sence can directly arise. Very much poetry consists of statements, symbolic arrangements capable of truth or falsity, which are used not for the sake of their truth of falsity but for the sake of the attitudes which their acceptance will evoke. Provided that the attitude or feeling is evoked the most important function of such language is fulfilled and any symbolic function that the words may have is instrumental only and subsidiary to the evocative functions.

अभिप्रेत है और इसकी विशेषता वह जानता है। वह ध्वन्यात्मकता का भी पोषक है।

आपके पाँचवें वाक्य का वाच्यार्थ बड़ा विचित्र है। काव्यवस्तु से अभिप्राय यदि वर्णनीय विषय से है तब तो उसके भीतर भेद सम्भव है और यदि काव्यगत व्यञ्जित वस्तु से है तो उसका कोई शास्त्रीय भेद नहीं है। संलक्ष्यक्रम में अलङ्कार की व्यञ्जना को छोड़कर सर्वत्र वस्तु-व्यञ्जना एक ही मानी जाती है। ध्वनि और अभिधा काव्यवस्तु के भेद कदापि नहीं होते। फिर इस असंभव के निषेध से क्या फल सिद्धि है। साथ ही यह बताना कि ये दोनों व्यक्त करने की प्रणाली हैं। भारी भ्रम है। अभिधा कोई व्यक्त करने की प्रणाली नहीं है। अभिधा तो एक शब्दशक्ति है, जिससे वाच्यार्थ उपस्थित होता है और ध्वनि स्वतः काव्य का एक भेद है। इसको व्यक्त करने की प्रणाली नहीं। यदि आपका अभिधा-शब्द से यह अभिप्राय हो कि ऐसा काव्य, जिसमें वाच्यार्थ ही वाच्याथ रहे, लक्षणा-व्यंजना का स्पर्श भी न हो, तो उसे अव्यंग्य अर्थचित्र काव्य कह सकते हैं। अभिधा उसकी भी प्रणाली नहीं कही जा सकती। यदि ध्वनि के स्थान में ध्वन्यात्मकता कहा जाय तो वह एक प्रणाली हो सकती है।

आपका छठा वाक्य बतलाता है कि व्यंजना-प्रणाली की विशेषता यही है कि उसमें काव्य को अधिक मूर्त आधार प्राप्त होता है। यह भी गड़बड़ है। व्यंजना प्रणाली की विशेषता तो इसमें है कि रचना को काव्यत्व प्राप्त होता और सहृदय उससे आनन्द-विभोर हो जाते हैं। उससे काव्य को जो कुछ प्राप्त होता है वह केवल मूर्त ही नहीं, मूर्तामूर्त सभी कुछ होता है। व्यंग्य अर्थ वस्तु भी हो सकता है, भाव भी। उसमें मूर्तामूर्त का भेद नहीं। आधार तो वह वस्तु है जिस पर कविता पल्लवित होती है। यह मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार का होता है। व्यंजना-प्रणाली में तो मूर्त-अमूर्त का कोई प्रश्न ही नहीं है। व्यंजना ने एक दृश्य वा रूपक खड़ा कर दिया, इससे यदि आपका अभिप्राय हो तो इसके स्थान पर यह कहा जा सकता है कि कविकौशल वा कविप्रतिभा ने एक दृश्य खड़ा कर दिया। ऐसा व्यंजना-प्रणाली के कारण ही होता हो, सो बात नहीं। यह वाक्य पाठकों को बहुत ही पथभ्रष्ट करनेवाला है।

आपका सातवाँ वाक्य है—व्यंजना का अर्थ ही है सङ्केत, प्रतीक आदि। किन्तु व्यंजना के ये अर्थ नहीं हैं। न मालूम 'आदि' शब्द से अभिप्राय और किन अर्थों से है। सङ्केत तो साहित्य शास्त्र में एक पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ होता है—किसी विशेष अर्थ में शब्द की प्रयोग-प्रवृत्ति। व्यंजना से इसका कोई संबन्ध नहीं। किन्तु अभिधा से इसका नाता है। आपने शायद 'सङ्केत' का अर्थ इशारा समझा है। पर यह इशारा मूर्त की ओर ही नहीं होता, अमूर्त की ओर भी होता है। प्रतीक का अर्थ है भावोद्बोधन में समर्थ शब्द या वस्तु-विशेष। ये भावोद्बोधक भी होते हैं और विचारोद्बोधक भी। हम इन्हें कहीं उपमान कहते हैं और कहीं अप्रस्तुत। अंग्रेजी सिंबल (Symbol) पर से ही प्रतीक शब्द की अवतरणा हुई है।

कवि की प्रतिभा से उपस्थापित उपमान या अप्रस्तुत व्यंजना वृत्ति से अनेक भावों का उद्बोधन करता है। वह स्वतः व्यंजना नहीं है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि रस वाच्य नहीं व्यंग्य ही होता है।

चौदहवीं किरण

[1]भावमूलक रस

असंलक्ष्यक्रम के आठ भेद होते हैं—

१—रस २—भाव ३—रसाभास ४—भावाभास ५—भावशान्ति ६—भावोदय ७—भावसन्धि और ८—भावशबलता।

शास्त्रों ने रस को बड़ा महत्त्व दिया है। काव्य के तो ये प्राण हैं। रसास्वादन ही काव्याध्ययन का परम ध्येय है। सरस काव्य ही सहृदयों को परमानन्द-दाता है। [2]वाग्वैदग्ध्य की प्रधानता रहने पर भी रस ही काव्य का जीवन है।

१—इसका विस्तृत वर्णन काव्यालोक के तृतीय उद्योत में किया जायगा।

२—वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।

सहृदयों के हृदयों में वासना या चित्तवृत्ति या मनोविकार के स्वरूप से वर्तमान रति आदि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के द्वारा व्यक्त होकर रस बन जाते हैं। इन तीनों को लोकव्यवहार में स्थायी भावों के कारण, कार्य और सहकारी कारण भी कहते हैं।

'मन का विकार ही भाव है'—जैसा कि अमरकोषकार ने लिखा है—'विकारो मानसो भावः'।

शुक्ल जी के शब्दों में "भाव' का अभिप्राय साहित्य में तात्पर्य-बोध-मात्र नहीं है बल्कि वह वेगयुक्त और जटिल अवस्था-विशेष है जिसमें शरीरवृत्ति और मनोवृत्ति दोनों का योग रहता है। क्रोध को ही लीजिये। उसके स्वरूप के अन्तर्गत अपनी हानि या अवमान की बात का तात्पर्य-बोध, उग्र वचन और कर्म की प्रवृत्ति का वेग तथा त्योरी चढ़ाना, आँखें लाल होना, हाथ उठना ये सब बातें रहती हैं।"

ये, भाव दो प्रकार के हैं—

१—संचारी भाव और २—स्थायी भाव।

अब क्रमशः विभाव आदि का वर्णन किया जाता है—

१ विभाव

जिन वस्तुओं के द्वारा रति आदि स्थायी भाव जागरूक होकर रस रूप धारण करते हैं, उन्हें विभाव कहते हैं।

संक्षेप में भाव के जो कारण हैं वे विभाव कहे जाते हैं।

शुक्लजी के शब्दों में "भाव से अभिप्राय संवेदना के स्वरूप की व्यञ्जना से है; विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है"।

१—विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्॥ **साहित्यदर्पण**

२—कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
विभावाः अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः। **काव्यप्रकाश**

ये विभाव वचन और अङ्गाभिनय के आश्रित अनेक अर्थों के विभावन अर्थात् विशेषतया ज्ञान कराते हैं, आस्वाद के योग्य बनाते हैं. इसीसे इन्हें विभाव कहते हैं।[1]

विभाव दो प्रकार के होते हैं—(१) आलम्बन विभाव और (२) उद्दीपन विभाव। प्रत्येक रस के आलम्बन और उद्दीपन विभाव भिन्न भिन्न होते हैं। रसानुभूति में ये कारण होते हैं।

आलम्बन विभाव

जिनके द्वारा रस की निष्पत्ति होती है—अर्थात् जिनके अवलम्ब से भाव (रति आदि मनोविकार) उत्पन्न होते हैं, वे आलम्बन विभाव हैं। जैसे, नायिका और नायक।

नायिका

रूप-गुण-वती स्त्री को नायिका कहते हैं। जैसे,

देखि सीय सोभा सुख पावा, हृदय सराहत बचन न आवा।
जनु बिरंचि सब निज निपुणाई, बिरचि विश्व कहँ प्रगट दिखाई॥
सुन्दरता कहँ सुन्दर करई, छबिगृह दीपशिखा जनु बरई।
सब उपमा कवि रहे जुठारी, केहि पटतरिय विदेहकुमारी॥ **तुलसीदास**

नायक

रूप-गुण-सम्पन्न पुरुष को नायक कहते हैं। जैसे,

रुचिर चौतनी सुभग सिर, मेचक कुंचित केस।
नख सिख सुन्दर बन्धु दोउ, सोभा सकल सुदेस॥
वय किसोर सुषमा-सदन, स्याम गौर सुखधाम।
अंग अंग पर वारिये, कोटि कोटि सत काम॥ **तुलसीदास**

उद्दीपन विभाव

जो रति आदि स्थायी भावों को उद्दीपित करते हैं—उनकी अस्वाद योग्यता बढ़ाते हैं, वे उद्दीपन विभाव हैं।

---

१ बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।
अनेनयस्मान्तेनायं विभाव इति कथ्यते॥ **नाट्यशास्त्र**

उद्दीपन विभाव प्रत्येक रस के अपने होते हैं। जैसे, शृङ्गार रस के सखा, सखी, षड्ऋतु, वन, उपवन, पवन, चन्द्र, चाँदनी, पुष्प, नदीतट, चित्र आदि उद्दीपन विभाव हैं। एक उदाहरण—

इहि मधु ऋतु में कौन के बढ़त न मोद अनन्त।
कोकिल गावत है कुहुकि मधुप गुंजरत तन्त ॥ **प्राचीन**

२. अनुभाव

जो भावों के कार्य हैं या जिनके द्वारा रति आदि भावों का अनुभव होता है उन्हें अनुभाव कहते हैं।

भाव के अनु अर्थात् पीछे उत्पन्न होने के कारण उसे अनुभाव कहते हैं।

इनके चार भेद होते हैं—(१) कायिक (२) मानसिक (३) आहार्य और (४) सात्विक।

कायिक

कटाक्ष आदि कृत्रिम आङ्गिक चेष्टाओं को कायिक अनुभाव कहते हैं। जैसे,

बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी, पियतन चितै भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि, निज पति कहेउ तिनहि सिय सैननि ॥ **तुलसी**

मानसिक

अन्तःकरण की वृत्ति से उत्पन्न हुए प्रमोद आदि को मानसिक अनुभाव कहते हैं। जैसे,

देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा ॥ **तुलसी.**

आहार्य

आरोपित या कृत्रिम वेष-रचना को आहार्य अनुभाव कहते हैं।

काकपक्ष सिर सोहत नीके, गुच्छा बिच बिच कुसुम कली के। **तुलसी**

सात्विक

शरीर के अकृत्रिम अङ्गविकार को सात्विक अनुभाव कहते हैं।

थके नयन रघुपति छवि देखी, पलकन हू परिहरी निमेखी। **तुलसी**

सात्विक अनुभाव के आठ भेद होते हैं—(१) स्तंभ (ठकमुरी या शरीर की गति का रुक जाना), (२) कम्प (कँपकँपी) (३)

स्वरभंग (घिग्घी बँधना या शब्दों का ठीक से उच्चारण न होना) (४) वैवर्ण्य (पीरी पड़ना या आकृति का रंग बदल जाना) (५) अश्रु (आँसू निकलना) (६) स्वेद (पसीना छूटना) (७) रोमाञ्च (रोंगटे खड़े होना) और (८) प्रलय (तन्मय होकर निश्चेष्ट या अचेत हो जाना)।

कोष्ठकों में दिये हुए अर्थों के अनुसार इनके लक्षण भी समझ लेना चाहिये। निम्नलिखित कवित्त में उपर्युक्त आठों भेदों के उदाहरण हैं–

है रही अडोल, थहरात गात, बोले नाहि,
बदल गई है छटा बदन सँवारे की।
भरि भरि आवै नीर लोचन दुहूँन बीच,
सराबोर स्वेदन में सारी रंग तारे की॥
पुलक उठे है रोम, कछुक अचेत फेरि,
कवि 'लछिराम' कौन जुगुति बिचारे की।
बानक सो डगर अचानक मिल्यो है लगी,
नजर तिरीछी कहूँ पीत-पटवारे की॥

चौदहवीं किरण

संचारी भाव

संचरणशील-अर्थात् अस्थिर मनोविकारों या चित्तवृत्तियों को संचारी भाव कहते हैं।

ये भाव रस के उपयोगी होकर जलतरंग की भाँति उसमें संचरण करते हैं। इससे संचारी भाव कहे जाते हैं। इनका दूसरा नाम व्यभिचारी है। विविध प्रकार से अभिमुख–अनुकूल होकर चलने के कारण इन्हे व्यभिचारी भाव भी कहते हैं। ये स्थायी भाव के साथी हैं। रस के समान ही संचारी भाव भी व्यञ्जित या ध्वनित होते हैं। इनकी संख्या तैंतीस है।

१. निर्वेद—दारिद्र्य, अपमान, व्याधि, इष्ट-वियोग, ईर्ष्या, तत्त्वज्ञान, आदि के कारण अपने को कोसना या धिक्कारना।

हाय दुर्भाग्य! इन्ही आँखो से विलोका है।
मैंने आर्य-पति को गँवाते नेत्र अपने॥ **आर्यावर्त**

२. **ग्लानि**—मन की मुरझाहट, मलिनता, खिन्नता।

गोरी का गुलाम मैं बना था हतचेत था।
आर्यता गँवा के मैं सदेह प्रेतवत् था॥ **वियोगी**

३. **शंका**—इष्टहानि और अनिष्ट का अंदेशा।

माँगहिं हृदय महेस मनाई।
कुसल मातु पितु परिजन भाई॥ **तुलसी**

४. **असूया**—परोन्नति का असहन और उसकी हानि की चेष्टा।

लेहु छँड़ाइ सीय कह कोऊ, धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ।
तोरे धनुष चाँड नहिं सरई, जीवत हमहिं कुँवरि को बरई॥ **तुलसी**

५. **श्रम**—शरीर और मन की थकावट।

......टूटी तलवार वह, टेककर आगे बढ़ता था आह भर के।

६. **मद**—मद्यपान आदि से उत्पन्न मस्ती या अल्हड़पन।

गोरी उठा झूमता सहारा दिया बढ़के,
उस प्रहरी ने—डगमग पग धरता।
बाहर शिविर के निकल आया व्यग्र सा॥ **आर्यावर्त**

७. **आलस्य**—जागरण आदि से उत्पन्न उत्साहहीनता या अवसाद।

'लरिका स्रमित उनींद बस, सयन करावहु जाइ। **तुलसी**

८. **धृति**—विपत्ति में भी चित्त की अचल स्थिरता।

देखने में मांस का शरीर है तथापि यह
सह सकता है चोट वज्र की भी हँस के॥ **आर्यावर्त**

९. **विषाद**—इष्ट-हानि आदि से अनुताप या अनुत्साह।

का सुनाइ विधि काह सुनावा। **तुलसी**

१०. **मति**—शास्त्रादि के अनुसार किसी बात का निर्णय।

तदपि करब मैं काज तुम्हारा।
स्तुति कह परम धर्म उपकारा॥ **तुलसी**

११. **चिन्ता**—इष्ट और अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति और अप्राप्ति की कल्पना से घबड़ाहट। जैसे,

भरत कि भूंजब राज पुर, नृप कि जियहिं बिन राम। **तुलसी**

१२. **मोह**—भय, वियोग आदि से उत्पन्न चित्तविक्षेप के कारण यथार्थ ज्ञान का खो जाना।

सुनत सुमन्त बचन नरनाहू।
परेउ धरनि उर दारुण दाहू॥ **तुलसी**

१३. स्वप्न--जाग्रदवस्था में भी स्वप्न में वर्त्तमान सी चित्त की दशा।

खुल गये कल्पना के नेत्र महीपाल के,
दीख पड़ी वृद्धा पराधीना दीना वन्दिनी।
आर्यभूमि ········ ॥ **आर्यावर्त**

१४. विबोध--आहार्य निद्रा या अज्ञान के दूर होने पर सचेत होना।

सुनि मृदु बचन गूढ़ रघुपति के,
उघरे पटल परसुधर मति के। **तुलसी**

१५. स्मृति--बीती बातों का स्मरण।

जिन दिन देखे वे कुसुम गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब मैं अपत कटीली डार॥ **बिहारी**

१६. अमर्ष—निन्दा आदिके कारण उत्पन्न मन की चिढ़ या असहिष्णुता।

मातृभूमि इस तुच्छ जन को क्षमा करो।
धो दूगा कलंक रक्त देकर शरीर का॥ **वियोगी**

१७. गर्व—रूप, धन, बल, आदि का अभिमान।

भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्हा,
विपुल बार महि देवन्ह दीन्हा। **तुलसी**

१८. उत्सुकता—अभीष्ट कार्य की तात्कालिक सिद्धि की इच्छा।

बेगि चलिय प्रभु आनिये, भुजबल खलदल जीति॥ **तुलसी**

१९. अवहित्था—लज्जा आदि से हर्षादि भावों का छिपाना।

उमड़े आँसू हर्ष के, लियो छिपाय जम्हाइ। **प्राचीन**

२०. दीनता—दुःखादि से जनित दुर्दशा।

कहत परम आरत वचन, राम राम रघुनाथ। **तुलसी**

२१. हर्ष—चित्त की प्रसन्नता।

यह दृश्य देखा कविचंद ने तो उसकी—
फड़की भुजायें कड़ी तड़की कवच की॥ **आर्यावर्त**

२२. व्रीड़ा—अनुचित कार्य करने पर लज्जा।

छूने में हिचक, देखने में
पलकें आँखों पर झुकती हैं;
कलरव परिहास भरी गूँजें
अधरों तक सहसा रुकती है। **प्रसाद**

२३. **उग्रता**—अपमान आदि के कारण उत्पन्न प्रचण्डता।

मात पितहिं जनि सोचबस, करसि महीप किसोर। **तुलसी**

२४. **निद्रा**—श्रमादि-जन्य शैथिल्य के कारण चित्त की वह स्थिति जिसमें विषयों का ग्रहण न हो।

होकर विदेह सा बिसार आत्मचेतना,
बंद हुई आखें हुआ शिथिल शरीर भी। **वियोगी**

२५. **व्याधि**—रोग, वियोग आदि से उत्पन्न मन का सन्ताप।

धर्मधुरन्धर धीर धरि, नयन उघारेउ राउ
सिर धुनि लीन्ह उसास भरि, मारेसि मोहि कुठाउ॥ **तुलसी**

२६. **अपस्मार**—चित्त की वह वृत्ति जिसमें मिर्गी रोग का सा लक्षण लक्षित हो।

पीरी ह्वै भूपर परी काँपत होय अचेत। **प्राचीन**

२७. **आवेग**—कारण वश चित्त की व्यग्रता या संभ्रम।

धाये धाम काम सब त्यागे।

२८. **त्रास**—कारणजनित भय।

'देखते' ही रौद्र मूर्त्ति वीर पृथ्वीराज की,
चीख उठा राजा, ज्यों सहसा पथिक के।
सामने भयानक मृगेन्द्र कूदे काल सा॥ **आर्यावर्त**

२९. **उन्माद**—भय, शोक आदि के कारण चित्त की भ्रान्ति।

पूछत चले लता तरु पाती।

३०. **जड़ता**—चित्त की विमूढात्मक वृत्ति।

पूछत कोउ न उत्तर देई।

३१. **चपलता**—चित्त का अस्थिर होना।

चितवत चकित चहूँ दिशि सीता,
कहँ गये नृपकिशोर मनचीता। **तुलसी**

३२. **वितर्क**—संदेह के कारण मन में उत्पन्न ऊहापोह।

'लंका निसिचर निकर निबासा,
इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा।' **तुलसी**

३३. **मरण**—चित्तवृत्ति की ऐसी दशा जिसमें मृत्यु के समान कष्ट की अनुभूति हो अथवा वह दशा भावान्तर से इस प्रकार अभिभूत हो गयी हो कि मृत्यु कष्ट नगण्य जान पड़े।

आज पतिहीना हुई शोक नहीं इसका,
अक्षय सुहाग हुआ, मेरे आर्यपुत्र तो।
अजर अमर है सुयश के शरीर में॥ आर्यावर्त

तैंतीस संचारी भावों के अतिरिक्त उद्वेग, दया, क्षमा. आदि अन्य मनोविकार भी हैं, किन्तु उनका भी इन्हीं भेदों में अन्तर्भाव हो जाता है। प्रत्येक संचारी भाव के उत्थान के कई कारण हो सकते हैं और उनके उदाहरण भी भिन्न भिन्न अनेक हो सकते हैं, जिनका सोदाहरण विस्तृत वर्णन तृतीय उद्योत मे किया जायगा। यहाँ दिग्दर्शन मात्र करा दिया गया है। ये सब व्यञ्जित या ध्वनित ही होते हैं।

पंद्रहवीं किरण

स्थायी भाव

जो भाव वासनात्मक होकर चित्त में चिरकाल तक अचंचल रहता है उसे स्थायी भाव कहते हैं।

स्थायी भाव की यह विशेषता है कि वह (१) अपने में अन्य भावों को लीन कर लेता है और (२) सजातीय तथा विजातीय भावों से नष्ट नहीं होता। वह (३) आस्वाद का मूलभूत होकर विराजमान रहता है और (४) विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से परिपुष्ट होकर रस रूप में परिणत हो जाता है।

उपर्युक्त चारो विशेषतायें अन्य सब भावों में से केवल निम्नलिखित नौ भावों में ही पायी जाती हैं जो स्थायी भाव के भेद हैं। इन नौ भेदों का क्रमशः संक्षेप में वर्णन किया जाता है।

१ रति

किसी अनुकूल विषय की ओर मन की रुझान को रति कहते हैं। प्रीति, प्रेम अथवा अनुराग इसकी अन्य संज्ञायें हैं।

स्थायी भाव जब सहायक सामग्री से परिपुष्ट होकर व्यञ्जित होता है तब रस में परिणत हो जाता है जैसे शृङ्गार रस में रति स्थायी भाव

होता है। परन्तु जहाँ परिपोषक सामग्री नहीं रहती वहाँ स्वतन्त्र रूप से स्थायी भाव ही ध्वनित होता है। इसीके उदाहरण दिये जाते हैं।

जो पल बीतत पंथ महँ, ते जुग सरिस सिराहिं।
हरि हिय उत्कंठा महा, रुक्मिणि कब दरसाहिं॥ **प्राचीन**

इसमें प्रिया-प्रियतम के परस्पर मिलने की इच्छा से उत्पन्न हुई अपूर्व प्रीति के वर्णन से केवल रति भाव है। यहाँ पर उसकी संचारी आदि से पुष्टि नहीं हुई है।

२ हास

विकृत वचन, कार्य और रूप-रचना से सहृदय के मन में जो उल्लास उत्पन्न होता है, उसे हास कहते हैं। जैसे,

टूट चाप नहिं जुटहिं रिसाने।
बैठिय होइहिं पायँ पिराने॥ **तुलसी**

उस उक्ति में हास्य की व्यञ्जना मात्र है, परिपूर्णता नहीं।

३ शोक

प्रिय पदार्थ का वियोग, विभव-नाश आदि कारणों से उत्पन्न चित्त की विकलता को शोक कहते हैं।

कामवाम लखि खसम की, भसम लगावत अंग।
त्रिनयन के नैनन जग्यो, कछु करुणा को रंग॥ **प्राचीन**

यहाँ 'कछु' शब्द से शोक भाव ही रह जाता है। करुण रस का परिपाक नहीं होता।

४ क्रोध

असाधारण अपराध, विवाद, उत्तेजनापूर्ण अपमान आदि से उत्पन्न हुए मनोविकार को क्रोध कहते हैं। जैसे,

माखे लखन कुटिल भइ भौंहें। रदपट फरकत नैन रिसौंहें॥ **तुलसी**

यहाँ भौंहों की कुटिलता और अधर-स्फुरण से क्रोध की व्यञ्जना मात्र है। रौद्र रस की परिपुष्टि नहीं होती।

५ उत्साह

कार्य करने का अभिनिवेश, शौर्य आदि प्रदर्शित करने की प्रबल इच्छा को उत्साह कहते हैं। जैसे,

यदि रोकें रघुनाथ न तो मैं अभिनव दृश्य दिखाऊँ।
क्या है चाप सहित शंकर के मैं कैलास उठाऊँ॥ **अज्ञात**

'यदि रघुनाथ न रोकें' इस वाक्य के कारण उत्साह भाव मात्र रह जाता है। यहाँ वीर रस की पूर्णता नहीं होती।

६ भय

हिंसक जीवों का दर्शन, महापराध, प्रबल के साथ विरोध आदि से उत्पन्न हुई मन की विकलता को भय कहते हैं। जैसे,

तीनि पैग पुहुमी दई, प्रथमहि परम पुनीत।
बहुरि बढ़त लखि बामनहि, भे बलि कछुक सभीत॥ **प्राचीन**

यहाँ 'कछुक सभीत' होने से भयानक रस का परिपाक नहीं होता। यहाँ भय भावमात्र है।

७ जुगुप्सा

घृणा या निर्लज्जता आदि से उत्पन्न मन आदि इन्द्रियों के संकोच को जुगुप्सा कहते हैं। जैसे.

लखि विरूप सूरपनखै, रुधिर चरबि चुचुवात।
सिय हिय में घिन की लता, भई सु द्वै द्वै पात॥ **प्राचीन**

यहाँ द्वै द्वै पात' से घृणा की व्यञ्जनामात्र होती है। वीभत्स रस का पूर्ण परिपाक नही होता।

८ आश्चर्य

अपूर्व वस्तु को देखने, सुनने, या स्मरण करने से उत्पन्न मनोविस्फार को आश्चर्य कहते हैं। जैसे,

'चकित चितै मुद्रिक पहिचानी,
हर्ष विषाद हृदय अकुलानी।' **तुलसी**

यहाँ आश्चर्य स्थायी भाव-मात्र है। अद्भुत रस की पूर्णता नहीं।

९ निर्वेद

तत्व-ज्ञान होने से सांसारिक विषयों में जो विराग-बुद्धि उत्पन्न होती है उसे निर्वेद कहते हैं। जैसे,

एरे मतिमंदे सब छाड़ि फरफन्दे,
अब नन्द के सुनन्दे ब्रजचन्दे क्यो न बन्दे रे। **वल्लभ**

यहाँ वैराग्य का उपदेश होने से निर्वेद भावमात्र माना जाता है। शान्त रस का पूर्ण परिपाक नहीं होता।

सोलहवीं किरण

नव रस

यह एक प्रकार से बतला दिया गया है कि किसी वर्णन के पढ़ने, सुनने अथवा अभिनय आदि के देखने से हृदय में जो स्थायी भाव उद्बुद्ध होता है वही जब विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की सहायता से परिपुष्ट होकर उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त होते हुए अनिर्वचनीय आनन्द की सृष्टि करता है तब उसे रस कहा जाता है[1]।

अब यह जानना आवश्यक है कि किस रस में कौन सा स्थायी भाव और कौन कौन से विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव होते हैं। उन्हींका सोदाहरण वर्णन किया जाता है।

१ शृंगार रस

प्रेमियों के मन में संस्कार रूप से वर्तमान रति या प्रेम रसावस्था को पहुँचकर जब आस्वाद-योग्यता को प्राप्त करता है तब उसे श्रृङ्गार रस कहते हैं।

श्रृङ्गार शब्द सार्थक है। जैसे श्रृङ्गी पशुओं में यौवनकाल में ही श्रृङ्ग का पूर्ण उदय होता है और उनके जीवन का वसन्तकाल लक्षित होता है वैसे ही मनुष्यों में भी श्रृङ्ग अर्थात् मनसिज का स्पष्ट प्रादुर्भाव होता है; उनकी मिथुन-विषयक चेतना पूर्ण रूप से जागरित हो उठती है। श्रृङ्ग शब्द के इस पिछले लक्ष्यार्थ को उत्तेजित और अनुप्राणित करने की योग्यता जिस अस्वाद में पायी गयी है उसको श्रृङ्गार कहना सर्वथा सार्थक है। यह रस उत्तम-प्रकृति अर्थात् श्रेष्ठ नायक-नायिका के आलंबन या आश्रय के रूप में लेकर ही प्राय: स्वरूप की योग्यता को प्राप्त करता है[2]

आलम्बन विभाव

१ **नायिका**—स्वकीया, परकीया, सामान्या आदि।

२ **नायक**—पति, उपपति तथा वैशिक।

---

१ व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः। **काव्यप्रकाश**

२ श्रृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः श्रृङ्गार इष्यते॥ **साहित्यदर्पण**

उद्दीपन विभाव

नायिका की सखी—नायिका को भूषित करना, शिक्षा देना, क्रीड़ा करना तथा परस्पर हास-विनोद, सरस आलाप आदि करना इसके कार्य हैं।

नायक का सखा—इसके चार भेद होते हैं—(१) पीठमर्द (अन्तरङ्ग गोष्ठी में प्रविष्ट) (२) विट (काम-कला-कुशल) (३) चेट (नायक-नायिका का संयोजक) और (४) विदूषक (विविध चेष्टाओं से परिहास करनेवाला)

दूती—यह नायक तथा नायिका की प्रशंसा करके प्रीति उत्पन्न करती है, चाटु वचनों से उनका वैमनस्य दूर करती है एवं संकेत स्थान पर ले जाती है। उत्तमा, मध्यमा, अधमा तथा स्वयंदूतिका के भेद से इसके चार भेद होते हैं।

सखी, सखा तथा दूती को संस्कृत के आचार्यों ने शृङ्गार रस में नायक-नायिका के सहायक या नर्मसचिव माना है। किन्तु, हिन्दी के आचार्यों ने इनकी गणना उद्दीपन विभाव में की है। इनके उद्दीपन विभाव मानने का कारण यह जान पड़ता है कि सखा, सखी और दूती के दर्शन से नायिकागत अनुराग का उद्दीपित होना। भरत मुनि के वाक्य में 'प्रिय जन' शब्द के आने से संभव है हिन्दीवालों ने इन्हें उद्दीपन में मान लिया हो[३]।

नायक-नायका की वेषभूषा, चेष्टा आदि पात्रगत तथा षड्ऋतु, नदीतट, चन्द्रमा, चाँदनी चित्र, उपवन, कुञ्ज-कुटीर, मनोहर कविता, मधुर संगीत, मादक वाद्य, पक्षियों का कलरव आदि शृङ्गार के वहिर्गत उद्दीपन विभाव है।

अनुभाव

प्रेमपूर्ण आलाप, स्नेहस्निग्ध परस्परावलोकन, आलिंगन, चुम्बन, रोमाञ्च, स्वेद, कम्प, स्वरभंग, नायिका के भ्रूभंग आदि अनेक हाव अनुभाव हैं जो मानसिक, वाचिक तथा कायिक होते हैं।

स्त्रियों की यौवनावस्था के अनुभाव निम्नलिखित २८ हैं, जो अलंकार माने गये हैं। १ वे अङ्गज, २ अयत्नज, और ३ स्वभावज हैं।

---

३ ऋतुमाल्यालङ्कारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः।
उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति ॥ **नाट्यशास्त्र**

१—(१) भाव, (प्रथम लक्षित राग) (२) हाव (भ्रूभंग आदि से प्रकटित संयोग की इच्छा) और (३) हेला (अत्यन्त स्फुट हाव) नामक तीन अलंकार अङ्ग से उत्पन्न होने के कारण अंगज हैं।

२—(१) शोभा, (२) कान्ति, (३) दीप्ति, (४) माधुर्य, (५) प्रगल्भता, (६) औदार्य, और (७) धैर्य नामक सात अलंकार अकृत्रिम न होने के कारण अयत्नज हैं।

३—(१) लीला, (२) विलास, (३) विच्छित्ति, (शृङ्गाराधायक अल्प-वेष-रचना) (४) बिब्बोक, (गर्वाधिक्य से इच्छित वस्तु का भी अनादर) (५) किलकिञ्चित, (प्रिय वस्तु की प्राप्ति आदि के हर्ष से हास, रुदन आदि कई भावों का संमिश्रण) (६) मोट्टायित, (प्रिय-सम्बन्धी बातों में अनुराग-द्योतक चेष्टा), (७) कुट्टामित, (अंग स्पर्श से आन्तरिक हर्ष होने पर भी निषेधात्मक कर-शिर-संचालन) (८) विभ्रम, (जल्दी में वस्त्राभूषण का विपरीत धारण) (९) ललित, (अंगों की सुकमारता प्रदर्शित करना) (१०) मद, (११) विहृत, (लज्जावश समय पर भी कुछ न कहना) (१२) तपन, (१३) मौग्ध्य, (१४) विक्षेप, (अकारण इधर उधर देखने आदि से बहलाना) (१५) कुतूहल, (१६) हसित, (१७) चकित और (१८) केलि। ये १८ कृतिसाध्य होने के कारण स्वभावज अलंकार हैं।

संचारी भाव

उग्रता, मरण और जुगुप्सा को छोड़कर उत्सुकता, लज्जा, जड़ता, चपलता, हर्ष, वैवर्ण्य, मोह, चिन्ता, गर्व आदि सभी संचारी भाव शृङ्गार रस के संचारी भाव होते हैं।

इसके दो भेद हैं—**संयोगशृङ्गार और विप्रलम्भ शृङ्गार**। इन दोनों के संचारी भाव भी अलग अलग होते हैं। संयोग शृगार में उन्माद, चिन्ता, असूया, मूर्च्छा, अपस्मार आदि नहीं होते। क्योंकि, उसमें आनन्द ही आनन्द है। वहाँ तो उत्सुकता, हर्ष, चपलता, व्रीड़ा, गर्व, श्रम, मद आदि ही होंगे। इसी प्रकार विप्रलंभ शृङ्गार में ये आनन्दोत्पादक संचारी भाव नहीं होते। वहाँ तो संताप, कृशता, प्रलाप, निद्राभंग आदि ही होते हैं। उसमें अनुभाव भी संयोग से भिन्न होते हैं। आलिङ्गन, अवलोकन, स्वेद, कम्प आदि विप्रलंभ में नहीं होते।

स्थायी भाव

शृंगार का स्थायी भाव रति है ।

नायिका और नायक के पारस्परिक प्रेमभाव को रति कहते हैं ।

संयोग को संभोग और विप्रलम्भ को वियोग शृङ्गार भी कहते हैं ।

संभोग शृङ्गार

नायिका और नायक की संयोगावस्था में जो पारस्परिक रति रहती है, उसे ही संभोग शृङ्गार कहते हैं ।

संभोग शृङ्गार के, नायक-नायिका के पारस्परिक व्यवहार-भेद से अनेक भेद हो सकते हैं, किन्तु इसका एक ही भेद माना गया है । एक उदाहरण—

दूलह श्री रघुनाथ बनै दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माँही ।
गावत गीति सबै मिलि सुन्दरि बेद जुआ जुरि बिप्र पढ़ाहीं ॥
राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परिछाहीं ।
याते सबै सुधि भूलि गयी कर टेकि रही पल टारति नाहीं ॥

इसमें राम-सीता आलंबन, नग में राम का प्रतिबिम्ब उद्दीपन, एक टक देखना अनुभाव, जड़ता, औत्सुक्य, हर्ष आदि संचारी हैं । इनसे पुष्ट रति स्थायी भाव से संयोग शृङ्गार रस की व्यञ्जना है ।

पाय कुञ्ज एकान्त में भरी अंक ब्रजनाथ ।
रोकन को तिय कहति पै कह्यो करत नहि हाथ ॥ **प्राचीन**

यहाँ नायिका आलम्बन विभाव है । क्योंकि, ब्रजनाथ की प्रीति नायिका पर है और उनकी रति का आलम्बन वही है । एकान्त कुंज उद्दीपन विभाव है । ब्रजनाथ का आलिंगन करना अनुभाव है । एवं हाथ नहीं चलने से जड़ता, गुरुजन-भय से त्रास, लज्जा, आवेग आदि संचारी भाव हैं । इन सबों से रति स्थायी भाव की पुष्टि होती है और उससे संभोग शृङ्गार व्यञ्जित होता है ।

विप्रलम्भ शृङ्गार

वियोगावस्था में भी जहाँ नायक-नायिका का पारस्परिक प्रेम हो वहाँ विप्रलंभ शृंगार होता है ।

इसके निम्नलिखित चार भेद हैं—

(१) पूर्वराग, (२) मान, (३) प्रवास और (४) करुण ।

विप्रलम्भ में दस कामदशायें होती हैं—

अभिलाष. चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप. उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति। एक उदाहरण—

शान्तिस्थान महान कण्व मुनि के पुण्याश्रमोद्यान में।
वाह्य-ज्ञान-विहीन लीन अति ही दुष्यन्त के ध्यान में॥
बैठी मौन शकुन्तला सहज थी सौन्दर्य से सोहती।
मानों होकर चित्र मे खचित सी थी चित्त को मोहती॥ गुप्तजी

इसमें दुष्यन्त शकुन्तला आलम्बन, कण्व का शान्त आश्रम उद्दीपन, शकुन्तला का चित्रचित्रित सा बैठा रहना अनुभाव, जड़ता, चिन्ता आदि संचारी हैं। अतः इनसे रति स्थायी भाव की पुष्टि होती है जिससे विप्रलम्भ शृङ्गार ध्वनित होता है।

देखहु तात वसन्त सुहावा, प्रियाहीन मोहि भय उपजावा।

यहाँ प्रिया आलम्बन विभाव है। क्योंकि, नायक की रति उस नायिका पर है। वसन्त ऋतु उद्दीपन विभाव है। क्योंकि, वसन्त ऋतु को देखकर ही प्रिया की सुधि से नायक भय-युक्त हो रहा है। भय, संताप, प्रलाप आदि अनुभाव हैं। औत्सुक्य, चिन्ता, आदि संचारी भाव हैं। इनसे रति स्थायी भाव की पुष्टि होती है तथा इन सबों से विप्रलम्भ शृङ्गार व्यञ्जित होता है।

हे खग मृग, हे मधुकर स्रेनी, तुम देखी सीता मृग नैनी।
किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं, प्रिया वेगि प्रकटसि कस नाहीं॥ तुलसी

यह उदाहरण भी विप्रलम्भ शृङ्गार का ही है।

२ *हास्य रस*

विकृत वेष भूषा, रूप, वाणी, अंग-भङ्गी आदि के देखने-सुनने से जहाँ हास स्थायी भाव परिपुष्ट हो वहाँ हास्य रस होता है।

आलम्बन विभाव—विकृत वा विचित्र वेष-भूषा. व्यंग्यभरे वचन. उपहासास्पद व्यक्ति की मूर्खताभरी चेष्टा का दर्शन या श्रवण, व्यक्ति-विशेष के विचित्र बोलने-चालने का अनुकरण, हास्योत्पादक वस्तुयें आदि हैं।

उद्दीपन विभाव—हास्यवर्द्धक चेष्टायें आदि।

अनुभाव—कपोल और ओठ का स्फुरित होना, आँखों का मिंचना, मुख का विकसित होना आदि हैं।

संचारी भाव—अश्रु, कम्प, हर्ष, चपलता, श्रम, अवहित्था आदि हैं।

स्थायी भाव—हास।

इस हास के छः भेद होते हैं—(१) स्मित, (२) हसित, (३) विहसित, (४) अवहसित, (५) अपहसित और (६) अतिहसित। दो उदाहरण दिये जाते हैं।

बिन्ध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारी दुखारे।
गौतम तीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनिबृन्द सुखारे॥
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥

इसमें रामचन्द्रजी आलम्बन विभाव हैं और गौतम की नारी का उद्धार उद्दीपन विभाव। मुनियों का प्रसन्न होना आदि अनुभाव और हर्ष, उत्सुकता, चंचलता आदि संचारी भाव हैं। इनसे स्थायी भाव हास परिपुष्ट होकर हास्य रस में परिणत होता है।

तुलसीदासजी का यह व्यंग्यात्मक उपहास उनके ही उपयुक्त है। अपने आराध्य देव के साथ ऐसा मार्मिक परिहास करने में वे ही समर्थ हैं। पत्नीहीन मुनियों को चन्द्रमुखियों की प्राप्ति के विचित्र स्रोत की उद्भावना से किसका मानसकमल खिल न उठेगा!

दोना पात बबूर को, तामे तनिक पिसान।
राजाजू करने लगे, छठे छमासे दान॥ **प्राचीन**

यहाँ अपनी दान-प्रणाली के कारण कृपण राजा आलम्बन विभाव है। उसके बबूल के पत्ते के दोने में थोड़ा सा पिसान रखकर दान देने की क्रिया उद्दीपन-विभाव है। इस बात को श्रवण कर श्रोता के मुख पर हास का संचार होता है तथा जो कृपण राजा के प्रति उसकी उदारता की प्रशंसा है, वह अनुभाव है। श्रम, औत्सुक्य, चंचलता, हर्ष आदि संचारी भाव हैं। इनसे हास स्थायी भाव के परिपुष्ट होने पर हास्य रस की प्रतीति होती है।

३ करुण रस

इष्ट वस्तु की हानि, अनिष्ट का लाभ, प्रेम-पात्र का चिर-वियोग, अर्थ-हानि आदि से जहाँ शोक स्थायी भाव की परिपुष्टि होती है, वहाँ करुण रस होता है।

आलम्बन विभाव—बन्धु-विनाश, प्रिय-वियोग, पराभव आदि।

उद्दीपन—प्रिय वस्तु के प्रेम, यश या गुण का स्मरण, वस्त्र, आभूषण, चित्र का दर्शन आदि।

अनुभाव—रुदन, उच्छ्वास, छाती पीटना, मूर्च्छा, भूमि-पतन, प्रलाप, दैव-निन्दा आदि।

संचारी भाव—व्याधि, ग्लानि, मोह, स्मृति, दैन्य, चिन्ता, विषाद, उन्माद आदि।

स्थायी भाव—शोक।

प्रिय-विनाश-जनित, प्रिय-वियोग-जनित, धन-नाश-जनित, पराभव-जनित आदि करुण रस के भेद हैं।

दो उदाहरण दिये जाते हैं—

जो भूरि भाग्य भरी विदित थी अनुपमेय सुहागिनी ;
हे हृदय वल्लभ ! हूँ वही अब मैं महा हतभागिनी।
जो साथिनी होकर तुम्हारी थी अतीव सनाथिनी ;
है अब उसी मुझ सी जगत में और कौन अनाथिनी॥ **गुप्तजी**

अभिमन्यु का शव आलम्बन है। वीरपत्नी होना, पति की वीरता का स्मरण करना आदि उद्दीपन हैं। उत्तरा का क्रन्दन अनुभाव है। स्मृति, दैन्य, चिन्ता आदि संचारी हैं। इनसे परिपुष्ट स्थायी भाव शोक से करुण रस ध्वनित होता है।

हाय दुलारी मैना ! कैसी सफल हुई वह बानी।
कहाँ आज तुम, हाय कहाँ है मेरी तारा रानी॥ **विजनवती**

यहाँ तारा रानी आलंबन विभाव है, जो अब नहीं रह गयी है। जिस मैना के साथ उसका वार्तालाप होता था वह मैना तथा उसकी बातचीत का स्मरण उद्दीपन विभाव हैं। नायक का विलाप-प्रलाप, चिन्ता, आदि अनुभाव हैं। दैन्य, आवेग, स्मृति, जड़ता आदि संचारी भाव हैं। इनसे शोक स्थायी भाव की पुष्टि होती है और करुण रस व्यञ्जित होता है।

असंलक्ष्यक्रम ध्वनि का उदाहरण जो पहले दिया गया है वह भी करुण रस का ही उदाहरण है।

४ रौद्र रस

जहाँ विरोधी दल की छेड़खानी, अपमान, अपकार, गुरु-

जन-निन्दा तथा देश और धर्म के अपमान आदि से प्रतिशोध की भावना जागृत होती है, वहाँ रौद्र रस होता हैं।

आलम्बन—विरोधी दल के व्यक्ति।

उद्दीपन—विरोधियों द्वारा किये गये अनिष्ट कार्य, अपकार, अपमान, कठोर वचन का प्रयोग आदि।

अनुभाव—मुख-मण्डल पर लालिमा छा जाना, भ्रूभंग, आँखें तरेरना, दाँत पीसना, होठ चबाना, शस्त्रों का उत्तोलन, गर्जन-तर्जन, विपक्षियों का ललकारना, हीनतावाचक शब्द-प्रयोग आदि।

संचारी भाव—उग्रता, अमर्ष, चंचलता, उद्वेग, मद, असूया, श्रम, स्मृति, आवेग आदि।

स्थायी भाव—क्रोध।

मातु पितहि जनि सोचबस, करसि महीप-किसोर।
गर्भन के अर्भक-दलन परसु मोर अतिघोर॥ **तुलसी**

जनकपुर में धनुषभंग पर परशुराम की यह उक्ति है। यहाँ कटु वचन बोलनेवाले तथा धनुषभंग करके धनुष की महिमा घटानेवाले राम-लक्ष्मण आलम्बन विभाव हैं। लक्ष्मण की कटूक्ति उद्दीपन विभाव है। परशुराम की दर्पयुक्त वाणी, मुँह पर क्रोध की अभिव्यक्ति, फरसे की महिमा बखान कर उसको दिखलाना अनुभाव हैं। इन सबसे क्रोध स्थायी भाव की पुष्टि होने से यहाँ रौद्र रस की व्यञ्जना होती है।

५ *वीर रस*

जिस विषय से जहाँ उत्साह का संचार हो—अर्थात् उत्साह स्थायी भाव का परिपोष हो वहाँ वीर रस होता है।

आलम्बन विभाव—शत्रु, दीन, याचक, तीर्थ, पर्व आदि।

उद्दीपन विभाव—शत्रु का पराक्रम, याचक की दीनदशा आदि।

अनुभाव—रोमांच, गर्वीली वाणी, आदर-सत्कार, दया के शब्द आदि।

संचारी भाव—गर्व, स्वेद, कम्प, धृति, स्मृति, दया, हर्ष, मति, असूया, आवेग, औत्सुक्य आदि।

स्थायी भाव—उत्साह।

रौद्र रस में भी प्रायः वीर रस वाले ही विभाव आदि रहते हैं तथापि दोनों के स्थायी भाव भिन्न होने के कारण पृथक् पृथक् सत्ता मानी गयी है। रौद्र का स्थायी भाव क्रोध है और वीर का उत्साह।

वीर रस के चार भेद हैं—युद्धवीर, दयावीर, धर्मवीर और दान-वीर। किन्तु वीर शब्द का जैसा प्रयोग प्रचलित है उसके अनुसार केवल युद्ध वीर में ही वीर रस का प्रयोग सार्थक है। अब तो उपाधि-भेद से सत्यवीर, क्षमावीर, कर्मवीर, उद्योगवीर, श्रमवीर आदि अनेकों वीर उपलब्ध हैं। इनके भेद में भी आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव तथा संचारी अलग अलग होते हैं। जैसे, युद्ध-वीर का आलम्बन—शत्रु, उद्दीपन उसके कार्य, अनुभाव—वीर की गर्वोक्ति तथा युद्ध-निपुणता, और संचारी—हर्ष, आवेग, औत्सुक्य आदि।

दानवीर का आलम्बन—याचक, दान के योग्य पात्र, आदि, उद्दीपन—अन्य दाताओं के दान, दानपात्र की प्रशंसा आदि, अनुभाव—याचक का आदर-सत्कार आदि, संचारी—हर्ष, गर्व आदि।

धर्मवीर के आलंबन—धर्मग्रन्थ के वचन, उद्दीपन—फल-प्रशंसा आदि अनुभाव—धर्माचरण, संचारी—धृति, मति आदि।

दयावीर का आलंबन—दया का पात्र, उद्दीपन—उसकी दीनदशा, अनुभाव—सान्त्वना के वाक्य और संचारी—धृति, हर्ष आदि हैं।

इसी प्रकार अन्य उपादानों की सत्ता भी पृथक् पृथक् समझनी चाहिये। किन्तु स्थायी भाव सबका केवल उत्साह ही रहता है। प्रथम जो आलम्बन, उद्दीपन आदि भावों का उल्लेख है वह सब प्रकार के वीरों का प्रायः मिश्रित रूप से है।

तोरउँ छत्रक-दण्ड जिमि, तव प्रताप-बल नाथ।
जो न करउँ प्रभु-पद-सपथ, पुनि न धरौं धनु हाथ॥ **तुलसी**

जनकपुर में धनुष यज्ञ के प्रसंग पर 'वीर-विहीन मही मैं जानी' आदि वाक्य जब राजा जनक ने कहे तब लक्ष्मण ने उपर्युक्त दोहा कहा है।

यहाँ धनुष आलंबन विभाव है। जनक की व्यंग्य या कटु उक्ति उद्दीपन विभाव है। आवेश में आकर लक्ष्मण ने जो बातें कही हैं, वे अनुभाव हैं। आवेग, औत्सुक्य, मति, धृति, गर्व आदि संचारी भाव हैं। और जब इनसे स्थायी भाव उत्साह परिपुष्ट होता है, तब यहाँ वीर रस व्यञ्जित होता है। यहाँ 'तव प्रतापबल' उत्साह का बाधक न हो कर साधक हो गया है।

इसी तरह—

जो सम्पति सिव रावनहि, दीन्ह दिये दस माथ।
सो सम्पदा विभीषनहि, सकुचि दीन्हँ रघुनाथ॥ **तुलसी**

यहाँ विभीषण आलंबन विभाव है, शिव के दान का स्मरण उद्दीपन विभाव है, राम का दान देना तथा उसमें अपने बड़प्पन के अनुरूप तुच्छता का अनुभव करना, अतएव संकोच होना आदि अनुभाव हैं, स्मृति, धृति, गर्व, औत्सुक्य आदि संचारी हैं। इनसे स्थायी भाव उत्साह की परिपुष्टि होती है तथा उससे दानवीर की प्रतीति होती है।

६ भयानक रस

भयदायक वस्तु के देखने या सुनने से, अथवा प्रबल शत्रु के विद्रोह आदि करने पर जब हृदय में वर्त्तमान भय स्थायी भाव होकर परिपुष्ट होता है तब भयानक रस उत्पन्न होता है।

आलम्बन विभाव—व्याघ्र, सर्प आदि हिंसक प्राणी, बीहड़ तथा निर्जन स्थान, श्मशान, बलवान् शत्रु, भूत-प्रेत की आशंका आदि।

उद्दीपन—हिंसक जीव की भयानक चेष्टा, शत्रु के भयोत्पादक व्यवहार, भयानक स्थान की निर्जनता निस्तब्धता, विस्मयोत्पादक ध्वनि आदि।

अनुभाव—रोमाञ्च, स्वेद, कम्प, वैवर्ण्य, चिल्लाना, रोना, करुणा-जनक वाक्य, आदि।

संचारी भाव—शंका, चिन्ता, ग्लानि, आवेग, मूर्च्छा, त्रास, जुगुप्सा, दीनता आदि।

स्थायी भाव—भय।

एक ओर अजगरहि लखि, एक ओर मृगराय।
बिकल बटोही बीचही परयो मूरछा खाय॥ **प्राचीन**

यहाँ अजगर और सिंह आलंबन विभाव हैं, उन दोनों की भयंकर आकृति तथा चेष्टा उद्दीपन, मूर्च्छा, विकलता आदि अनुभाव, तथा स्वेद, कम्प, रोमांच, त्रास, आवेग आदि संचारी भाव हैं। इनसे भय स्थायी भाव परिपुष्ट होता है और प्रतीति भयानक रस की प्रतीति होती है।

७ बीभत्स रस

घृणित वस्तु देखने या सुनने से जहाँ या घृणा जुगुप्सा का भाव परिपुष्ट हो वहाँ बीभत्स रस होता है।

आलम्बन विभाव—श्मशान, शव, चर्बी, सड़ा मांस आदि ।

उद्दीपन—गृध्रों का मांस नोचना, शृगालों का दौड़ना तथा मांसादि के लिये परस्पर युद्ध, मांस में कीड़े पड़ना आदि ।

अनुभाव—वमन करना, थूकना, सिर में चक्कर आना नाक, मुँह बंद करना आदि ।

संचारी भाव—आवेग, मोह, व्याधि, जड़ता, चिन्ता, वैवर्ण्य, उन्माद, निर्वेद, ग्लानि, दैन्य आदि ।

स्थायी भाव—जुगुप्सा ।

उदाहरण—

रिपु आँतन की कुण्डली करि जोगिनि जु चवाति ।
पीबहि में पागी मनो, जुबति जलेबी खाति ॥ **प्राचीन**

यहाँ योगिनी का शत्रु की अँतडी चबाना आलम्बन विभाव है । उसका पीब में पागा जाना उद्दीपन है । थूकना, नाकमुँह मूँदना, घृणोत्पादक शब्द कहना आदि अनुभाव हैं । जड़ता, निर्वेद, ग्लानि, दैन्य, वैवर्ण्य आदि संचारी भाव हैं । इनसे जुगुप्सा स्थायी भाव अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त होता है जिससे यहाँ बीभत्स रस की व्यञ्जना होती है ।

८ अद्भुत रस

विचित्र वस्तु के देखने या सुनने से जब आश्चर्य का परिपोष होता है तब अद्भुत रस की प्रतीति होती है ।

आलम्बन विभाव—अद्भुत वस्तु तथा अलौकिक घटना आदि ।

उद्दीपन विभाव—आश्चर्यमय वस्तु की विलक्षणता तथा अलौकिक घटना की आकस्मिकता आदि ।

अनुभाव—आँखें फाड़कर देखना, रोमाञ्च, स्तम्भ, स्वेद, मुख पर की उत्फुल्लता तथा घबराहट के चिन्ह आदि ।

संचारी भाव—भ्रान्ति, जड़ता, दैन्य, आवेग, शंका, चिन्ता, वितर्क, हर्ष आदि ।

स्थायी भाव—आश्चर्य ।

उदाहरण—

रिस करि लेजै लै के पूतै बाँधिबे कों लगी ,
आवत न पूरी बोली कैसो यह छौना है
देखि दखि देखै फिर खोलिकै लपेटा एक ,
बाँधन लगी तो वहू क्यौहू कै बँध्यौ ना है ॥

'ग्वाल' कवि जसुदा चकित यौं उचारि रही,
आली यह भेद कछु पर्यो समुझौ ना है।
यही देवता है किधौं याके संग देवता है,
या किहूँ सखा ने करि दीन्ह्यो कछु टोना है॥ ग्वाल

कृष्ण के बंधन काल में रस्सियों का छोटा पड़ना आलंबन विभाव है, कृष्ण का न बँधना उद्दीपन विभाव है, सम्भ्रम आदि अनुभाव हैं और वितर्क, भ्रान्ति आदि संचारी भाव। इनके द्वारा विस्मय स्थायी भाव अद्भुत रस में परिणत होता है।

९ शान्त रस

संसार से अत्यन्त निर्वेद होने पर या तत्त्वज्ञान द्वारा वैराग्य का उत्कर्ष होने पर शान्त रस उत्पन्न होता है।

आलम्बन—संसार की असारता का बोध या परमात्मतत्त्व का ज्ञान।

उद्दीपन—सज्जनों का सत्संग, तीर्थाटन, दर्शनशास्त्र और धर्मशास्त्र का अध्ययन, सांसारिक झंझटें आदि।

अनुभाव—दुखी दुनियाँ को देखकर कातर होना, झंझटों से घबड़ाकर त्याग देने की तत्परता आदि।

संचारी—धृति, मति, हर्ष, उद्वेग, ग्लानि, दैन्य, असूया, निर्वेद, जड़ता आदि।

स्थायी भाव—निर्वेद।

उदाहरण—

बन बितान, रवि ससि दिया, फल भख, सलिल प्रवाह।
अवनि सेज, पंखा पवन, अब न कछू परवाह॥ प्राचीन

यहाँ लौकिक सुख की क्षणभङ्गुरता ही आलम्बन है। प्राकृतिक सुख को स्वाभाविक रीति से विना प्रयास ही प्राप्त कर लेना आदि उद्दीपन हैं। अनुभाव यहाँ वक्ता की निस्पृहता-सूचक उक्ति तथा चिन्ता-विहीनता है। धृति, मति, हर्ष, औत्सुक्य आदि संचारी भाव हैं। इन सबसे यहाँ निर्वेद (वैराग्य) स्थायी भाव की पुष्टि होती है और उससे शान्त रस की ध्वनि होती है।

सत्रहवीं किरण

रसाभास

जहाँ रस की अनुचित प्रवृत्ति से अपूर्ण परिपाक होता है, वहाँ रसाभास समझना चाहिये।

आभास का अर्थ है अवास्तव की वास्तवत् प्रतीति। सीप में चाँदी की चमक की तरह थोड़ी बहुत तद्विषयक झलक। जैसे दाई में माता की सी ममता देखी जाती है, वैसे ही जहाँ रस का किञ्चित् आभास रहता है वहाँ रसाभास होता है। यद्यपि सहृदयों द्वारा अननुमोदित होने के कारण अनुचित रूप में जहाँ रस का परिपाक होता है वहाँ रस-दोष मानना चाहिये। फिर भी आभासिक आनन्द का दायक होने के कारण उसे वैसे ही रस-ध्वनि का एक भेद मान लिया गया है जैसे माता की जगह या माता के अभाव में दाई को कुछ समय के लिये माता ही मान लेते हैं।

शृङ्गार रसाभास—अनौचित्य रूप से रस की प्रवृत्ति निम्नलिखित परिस्थितियों में होती है—(१) परस्त्रीगत प्रेम, (२) स्त्री का परपुरुष में प्रेम, (३) स्त्री का बहुपति-विषयक प्रेम, (४) निरिन्द्रियों (नदी-नालों-लता-वृक्षों आदि) में दाम्पत्यविषयक प्रेम का आरोप, (५) नायक-नायिका में एक के प्रेम के विना ही दूसरे का प्रेम-वर्णन ! नीच पात्र में किसी उच्च कुल वाले का प्रेम तथा (७) पशु, पक्षी, आदि का प्रेम-वर्णन।

पर-पुरुष में परस्त्री की रति से शृङ्गार-रसाभास

झाँकि झरोखे रही कबकी दबकी वह बाल मनैमन भाखै।
कोऊ न ऐसो हितू हमरो जो परोसिन के पिय को गहि राखै॥ **पद्माकर**

यहाँ पड़ोसिन के पति—पर पुरुष में एक नायिका का प्रेम-प्रदर्शन उपनायक-निष्ठ रति है। अतः यह काम लोक-वेद-विरुद्ध है। इस से यहाँ शृङ्गार रस का परिपाक अनौचित्य से होता है।

'निसि अँधियारी नील पट पहिरि चली पिय-गेह।
कहौ दुराई क्यों दुरै, दीपसिखा सी देह॥ **बिहारी**

यह पद्य कृष्णाभिसारिका नायिका का उदाहरण है। अँधेरी रात में वह नीली साड़ी पहन कर प्रीतम के घर जाना चाहती है, परन्तु,

दीप की ज्योति के सदृश देदीप्यमान शरीर की आभा किसी प्रकार भी उस अँधेरी रात तथा नीली साड़ी में छिपाये नहीं छिपती।

पद्य के इस वाच्यार्थ से नायिका का परपुरुष-विषयक प्रेम स्पष्ट रूप से व्यञ्जित होता है और यहाँ भी पहले का सा रस का अनौचित्य से प्रतिपादन किया गया है। अतः यह पर-नारी में परपुरुष-विषयक शृङ्गार रसाभास है।

बहुनायकनिष्ठ रति से शृंगार-रसाभास

अंजन दै निकसै नित नैननि मंजन कै अति अंग सँवारै।
रूप गुमान भरी मग में पगही के अँगूठा अनोट सुधारै॥
जोवन के मद सों मतिराम भई मतवारिनि लोग निहारै।
जात चली यहि भाँति गली बिथुरी अलकैं अँचरा न सम्हारै॥

यहाँ नायिका की अनेक पुरुषों में रति व्यक्त होने से शृङ्गार-रसाभास है।

अनुभयनिष्ठ रति से शृंगार-रसाभास

केसव केसनि अस करी, जस अरिहू न कराहि।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहि॥ केशव

यहाँ वृद्ध-कवि केशव का परनायिका में अनुराग वर्णित है। इससे शृङ्गार रस की अनौचित्य-पूर्ण प्रतीति होती है। यहाँ अनुराग का जो परिदर्शन कराया गया है वह केवल वृद्ध केशव की ओर से ही। अतः एकांगी होने से अनुभय-निष्ठ रति से उपजे शृङ्गाररसाभास का यह दोहा उदाहरण है।

निरिन्द्रियों में रतिविषयक आरोप से शृङ्गार-रसाभास

'छाया' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ

कौन कौन तुम परिहृतवसना म्लानमना भू-पतिता सी।
धूलि-धूसरित मुक्त-कुन्तला किसके चरणों की दासी॥
बिजन निशा में सहज गले तुम लगती हो फिर तरुवर के।
आनन्दित होती हो सखि! तुम उसकी पद सेवा करके॥ पंत

यहाँ छाया के लिये 'परिहृत वसना' तथा निर्जन एकान्त स्थान में तरु के गले लगना आदि व्यापार जो संभोग-शृङ्गार-गत दिखलाये गये हैं उनके छाया और तरु जैसी निरिन्द्रिय वस्तु-में होने के कारण अनौचित्य है। इससे रसाभास है। इसी तरह तुलसीदास की—

नदी उमड़ि अंबुधि कहँ धाई।
संगम करें तलाव तलाई॥ तुलसी

आदि पंक्तियाँ भी ऐसे रसाभास के उदाहरण हैं।

पशु-पक्षी-गत रति के आरोप से शृङ्गार-रसाभास

कविवर 'पंत' जी की 'अनंग' शीर्षक रचना की निम्न लिखित पंक्तियाँ इसका उदाहरण हैं—

मृगियों ने चंचल आलोकन औ चकोर ने निशाभिमार।
सारस ने मृदु-ग्रीवालिगन हंसो ने गति वारि-विहार॥

यहाँ पशु-पक्षी-गत जो मनुष्यवत् संभोग शृंगार का वर्णन किया है उससे शृंगार-रसाभास है।

कालिदास के कुमारसंभव में भगवान् शंकर की तपस्या-भंग करने के लिये कामदेव ने जो अपना मायाजाल फैलाया है, उस समय का पशुपक्षियों तथा पेड़ पौधों का प्रणय-परिरंभण आदि तथा इसी प्रसंग का तुलसीदासकृत रामायण में भी ऐसा वर्णन ऐसे ही रसाभास के उदाहरण हैं।

शृङ्गार ही के समान प्रत्येक रस का रसाभास होता है।

हास्य का रसाभास

करहि कूट नारदहिं सुनाई, नीक दीन्हँ हरि सुन्दरताई।
रीझिहि राजकुँअरि छबि देखी, इनहि बरिहि हरि जानि बिसेखी॥

नारद-मोह के प्रसंग में शंकर के दो गण नारदजी के स्वरूप को देखकर उनकी हँसी उड़ाते थे। उसी समय की ये पंक्तियाँ हैं। यहाँ हर-गणों के हास्य का आलम्बन नारद जैसे देवर्षि हैं। अतः यहाँ हास्य का अनुचित रूप में परिपाक हुआ है।

करुण का रसाभास

मेटती तृषा को कंठ लगि लगि सींचि सींचि
जीवन के संचिबे में रही पूरी सूमड़ी।
हाथ से न छूटी कबौ जब ते लगाई साथ
हाय हाय फूटी मेरी प्रानप्रिय तूमड़ी॥ हिन्दीप्रेमी

तूमड़ी आलंबन, उसका गुण-कथन उद्दीपन, हाथ पटकना, सिर धुनना, अनुभाव, और विषाद, चिन्ता आदि संचारी हैं। इनसे परिपुष्ट शोक स्थायी से करुण रस व्यञ्जित है पर अपदार्थ, तुच्छ तूमड़ी के लिये इतनी हाय हाय करने से करुण का रसाभास है।

गौने जात नयी बहू रोवति अति बिलखाति।
पिय मिलने की चाह से मन ही मन मुसुकाति॥ राम

नयी बहू का गौने जाते समय प्रिय-जन-वियोग से बिलख बिलख कर रोना आदि उद्दीपन, अनुभाव आदि के होते हुए भी शोक स्थायी भाव पुष्ट नहीं होता। क्योंकि, बहू के मन में आनन्द होने से स्वाभाविकता या कृत्रिमता आ जाती है जिससे यहाँ करुण-रसाभास हो जाता है।

बहुरि बहुरि कोसलपति कहहीं, जनक प्रेमबस फिरा न चहहीं।
पुनि कहि भूपति बचन सुहाये, फिरिय महीप दूरि बढ़ि आये॥ तुलसी

बारात की बिदाई करते समय जब जनकजी बारातियों को पहुँचाने गये थे उसी समय की उपर्युक्त पंक्तियाँ हैं।

यहाँ परम विरक्त जनक जी का स्नेह-वश जल्द न लौटना अनुचित रूप से है। क्योंकि जनक परम विदेह थे। उनके सम्बन्ध में शोक स्थायी भाव का ऐसा उद्गार उचित नहीं। अतः यह करुण रसाभास का उदाहरण है।

रौद्र का रसाभास

राम के वन जाने के बाद 'साकेत' काव्य में वर्णित कैकेयी और भरत के वार्तालाप की निम्न पंक्तियाँ हैं—

कैकेयी- किंतु उठ ओ भरत, मेरा प्यार—
चाहता है एक तेरा प्यार।
राज्य कर उठ वत्स, मेरे बाल!
मैं नरक भोगूँ भले चिरकाल।

इस पर भरत की उक्ति—

जी द्विरसने! हम सभी को मार,
कठिन तेरा उचित न्याय-विचार। गुप्तजी

पुत्रस्नेह तथा सुख की भूख से तड़पती हुई मा कैकेयी के प्रति पुत्र भरत के हृदय में इतने भयंकर क्रोध स्थायी भाव का उदय तथा उससे जो रौद्र रस व्यंजित होता है वह अनुचित रूप में परिपक्व हुआ है। अतः इसे रौद्ररसाभास ही कहेंगे। इसी प्रकार 'किरातार्जुनीय' में युधिष्ठिर के प्रति द्रौपदी तथा भीम का क्रोध रौद्र का रसाभास ही है।

वीर का रसाभास

लेहु छुड़ाय सीय कँह कोऊ, धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ।
तोरे धनुष काज नहिं सरई, जीवत हमहिं कुँअरि को बरई॥
जो विदेह कछु करैं सहाई, जीतहु समर सहित दोउ भाई॥ **तुलसी**

रामचन्द्र के धनुष तोड़ने पर कुछ छुटभैये 'गेहेशूर' राजाओं ने उपर्युक्त पंक्तियाँ कही हैं। यहाँ रामचन्द्र जैसे प्रतापी एवं सर्वशक्तिमान के आलम्बन तथा उनके धनुषभंग कार्य के उद्दीपन से जो इन राजाओं में उत्साह स्थायी भाव जागृत होता है और जो उससे वीर रस की प्रतीति होती है. उसका परिपाक अनुचित रीति से हुआ है। क्योंकि राम जैसे वीर के प्रति इन पराजितों का यह उत्साह अत्यन्त उपहासास्पद नहीं तो और क्या है?

रे हस्त सूधे आज, द्विज सुतहिं ज्यावन काज।
अब यह कृपाण सम्हार, कर सूद्र मुनि पर वार॥ **सत्यनारायण**

यहाँ राम का शूद्र मुनि पर कृपाण चलाना वीररसाभास है।

भयानक का रसाभास

उत्तम व्यक्ति में भय का होना।

'........................बिसार के
छेड़ने चले जो इन सिंहियों की सेना को
तत्क्षण ही युद्ध साज! मूढ़ वह जन है
देखूँ, चलो, मैं तुम्हारी भ्रातृ-पुत्र-पत्नी को।' **मेघनादवध**

यहाँ मेघनाद की स्त्री की सेना को देखकर राम के भयभीत होने की ध्वनि निकलती है। उत्तम व्यक्ति में भय होने से यहाँ भयानक-रसाभास है।

अद्भुत-रसाभास

खगराज के पीठ ते आज लखी उतरी रमा ठाढ़ी धरा पै मढ़ी।
हाँ हाँ लाट-लट्टरे की लेडी नयी सुनी आई हवाई जहाज चढ़ी॥ **हिन्दीप्रेम**

ग्रामवासिनी प्राचीना ने जब कहा कि मैंने सजी-धजी लक्ष्मी को गरुड़ की पीठ से पृथ्वी पर उतरी खड़ी देखा तब इस असंभव बात को सुनकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ पर इसी बात को शहर की हवा खाई हुई किसी नवीना ने यों कहा कि हाँ हाँ किसी लाट साहब की नयी लेडी हवाई जहाज से आयी हैं, यह मैंने सुना है। इस समाधान से उक्त आश्चर्य आभास बन जाता है।

बीभत्स-रसाभास

दुबरो, कानो, हीन, स्रवन बिन, पूछ नवाये।
बूढ़ो, बिकल सरीर, लार मुँह ते टपकाये॥
झरत सीस ते राखि रुधिर कृमि डारत डोलत।
छुधा छीन अति दीन गरे घट-कंठ कलोलत॥
यह दसा स्वान पाई तऊ, कुतियन सँग उरझत गिरत।
देखो अनीत या मदन की, मृतकनहूँ मारत फिरत॥" प्रतापसिंह

कुत्ते की ऐसी घृणित-कुत्सित अवस्था का वर्णन अकस्मात् जो शृङ्गारोन्मुख हो जाता है उससे यहाँ बीभत्स रस की पुष्टि नहीं होती। अतः बीभत्स-रसाभास है।

शान्त रसाभास

हीन व्यक्ति में निर्वेद की स्थिति होना।

'सूद्र एक सम्बूक तपत पृथिवी पै भारी।
तिह सिर छेदन जोग तिहारे राम खरारी॥
ताहि मारि अब सीघ्र लोक मरजाद रखाओ।
दै द्विज बालहिं प्राणदान जग अजस नसाओ॥' सत्यनारायण

यहाँ नीच व्यक्ति में निर्वेद है। सत्य-युग में शूद्र की तपस्या करना अयोग्य व्यक्ति का सत्कार्य में हस्तक्षेप करना था। इसी कारण यहाँ शान्तरसाभास है।

अट्ठारहवीं किरण

भाव

प्रधानता से प्रतीयमान निर्वेदादि संचारी, देवता-आदि-विषयक रति और विभावादि के अभाव से उद्‌बुद्ध-मात्र—रसावस्था को अप्राप्त—रति आदि स्थायी भावों को भाव कहते हैं।

संचारी भावों में से जब किसी एक की प्रधान रूप से प्रतीति होती है तो वहाँ वह भी भाव ही कहलाता है।

जहाँ आलम्बन-स्वरूप देवता, ऋषि, मुनि, गुरुजन, राजा, पुत्र, आदि में भक्ति, श्रद्धा, प्रेम, पूज्य-भाव, वात्सल्य, स्नेह आदि ध्वनित हों वहाँ वे रति भाव—भक्ति आदि—भाव कहे जाते हैं।

जहाँ स्थायी भावों की संचारी भाव आदि के अभाव में यथोचित परिपुष्टि न होती हो, केवल उद्बुद्धमात्र होकर ही वे रह जाते हों, वहाँ स्थायी भाव केवल 'भाव' संज्ञा से ही अभिहित होते हैं। अभिप्राय यह कि अपरिपक्वावस्था में वे केवल 'भाव' मात्र रह जाते हैं, रस रूप में परिणत नहीं होते।

अतः भाव के ये मुख्य तीन भेद हुए—

(१) देवादिविषयक रति, (२) केवल उद्बुद्धमात्र स्थायी भाव और (३) प्रधानतया ध्वनित होने वाले संचारी भाव[1]।

यद्यपि रसध्वनि और भाव-ध्वनि दोनों असंलक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्य ही हैं, तथापि इनमें भेद यह है कि रस-ध्वनि में रस का आस्वादन तब होता है जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से परिपुष्ट स्थायी भाव उद्रेकातिशय को पहुँच जाता है। और, जब अपने अनुभावों से व्यक्त होने वाले संचारी के उद्रेक से आस्वाद उत्पन्न होता है तब भाव-ध्वनि होती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।

१ देवता-विषयक रति-भाव

'अबकी राखि लेहु भगवान।
हम अनाथ बैठे द्रुम डरिया पारिधि साधे बान॥
याके डर भागन चाहत हौं ऊपर ढुक्यो सचान।
दुवो भाँति दुख भयो आनि यह कौन उबारे प्रान॥
सुमिरत ही अहि डस्यो पारिधी सर छूटे संधान।
'सूरदास' सर लग्यो सचानहि जै जै कृपानिधान॥'

यहाँ भगवान् आलम्बन हैं, व्याध का बाणसंधान और ऊपर बाज का उड़ना उद्दीपन है, स्मरण, चिन्ता, विषाद, औत्सुक्य आदि संचारी हैं। यहाँ भगवद्विषयक जो अनुराग ध्वनित होता है वह इसीलिये देव-विषयक रति-भाव या भक्ति कहा जाता है, रस नहीं कहा जाता कि अनुराग एकपक्षीय है। भक्त संकटापन्न होकर भगवान् को पुकारा करता है, पर भगवान् प्रत्यक्ष रूप में कुछ नहीं करते।

---

१ सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥ साहित्यदर्पण
रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तस्तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिताः॥' काव्य-प्रकाश

अब मातृ-भूमि-विषयक रति भी देव-विषयक रति में सम्मिलित मानी जाती है। एक उदाहरण—

बन्दना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो।
बन्दिनी माँ को न भूलो
राग में जब मत्त झूलो
अर्चना के रत्न-कण में एक कण मेरा मिला लो॥
जब हृदय का तार बोले
शृङ्खला के बन्द खोले
हो जहाँ बलि सीस अगनित, एक सिर मेरा मिला लो॥

सोहनलाल द्विवेदी

भारत-माता की वन्दना में यह गीत लिखा गया है।

यहाँ आलम्बन भारत-माता है। उसका बन्धन उद्दीपन विभाव है। वक्ता का अनुनय और कथन अनुभाव हैं। हर्ष, औत्सुक्य आदि संचारी हैं। इनसे भारत-माता के प्रति कवि का रति-भाव परिपुष्ट होकर व्यंजित होता है।

'मानुष हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धरयो कर छत्र पुरंदर धारन॥
जौ पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मंझारन।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब के डारन॥' **रसखान**

यहाँ भी कृष्ण-विषयक रति होने से भाव-ध्वनि है।

देव-विषयक रति शृंगार रस मे सम्मिलित नहीं हो सकती। क्योकि, वह कामियों के मन में काम-रूप से उद्भूत होती है और भक्तों के हृदय में भक्ति-रूप से। भक्ति को एक रस मानना चाहिये, अथवा नहीं, यह एक विचारणीय विषय है।

गुरुजन-विषयक रतिभाव

कारा थी संस्कृति विगत, भित्ति बहु धर्म-जाति-गत रूप-नाम।
वन्दी जगजीवन भू विभक्त, विज्ञान-मूढ़ जन प्रकृति-काम॥
आये तुम मुक्त पुरुष, कहने—मिथ्या जड़बन्धन सत्य राम।
'नानृतं जयति, सत्यं मा भैः' जय ज्ञान ज्योति तुमको प्रणाम॥ **पंत**

यहाँ जगद्वन्द्य महात्मा गाँधी आलम्बन विभाव हैं। उनकी महिमा, तपः-साधना, त्याग आदि उद्दीपन हैं। कवि का स्तवन आदि अनुभाव तथा धृति, औत्सुक्य, स्मरण आदि संचारी भाव हैं। यहाँ

इन सबों से महात्मा-गाँधी-विषयक रतिभाव पुष्ट होता है जिसमें आसक्ति, श्रद्धा, प्रेम, पूज्य भाव आदि ध्वनित होते हैं।

गुरुविषयक रतिभाव

बन्दौं गुरु पद पदुम परागा, सुरुचि सुबास सरस अनुरागा। तुलसी

यहाँ पराग की वन्दना से गुरुविषयक रति-भाव अर्थात् श्रद्धा या पूज्य भाव की ध्वनि होती है।

राजविषयक रतिभाव

'बेद राखे विदित, पुरान राखे सार युत,
रामनाम राख्यो अति रसनाँ सुघर में।
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
कांधे में जनेऊ राख्यो, माली राखी गर में॥' भूषण

यहाँ कवि का शिवाजी-महाराज-विषयक श्रद्धा भाव ध्वनित होने के कारण राजविषयक रति है।

पुत्रविषयक रतिभाव

माता, पिता तथा गुरुजनों के हृदय में जो स्नेह उमड़ता है उसे वात्सल्य कहते हैं। हिन्दी में हरिऔधजी ने पुष्ट प्रमाणों और उदाहरणों से इसे स्वतन्त्र रस सिद्ध किया है। परन्तु कुछ प्राचीनों ने इसे पुत्र-विषयक रति भाव ही माना है। उदाहरण—

कौसल्या जब बोलन जाई, ठुमुकि ठुमुकि प्रभु चलहि पराई।
निगम नीति सिव अन्त न पाई, ताहि धरै जननी हठि धाई॥
धूसर धूरि भरे तनु आये, भूपति विहँसि गोद बैठाये॥ तुलसी

यहाँ कौशल्या-दशरथ का वात्सल्य पुत्रविषयक रति-भाव ही है।

पुत्रीविषयक रतिभाव

'उसका रोना' शीर्षक कविता से—

'मैं हूँ उसकी प्रकृत संगिनी, उसकी जन्म प्रदाता हूँ।
वह मेरी प्यारी बिटिया है, मैं ही उसकी माता हूँ॥
तुमको सुनकर चिढ़ आती है, मुझको होता है अभिमान।
जैसे भक्तों की पुकार सुन, गर्वित होते हैं भगवान॥

सुभद्राकुमारी चौहान

यहाँ बिटिया का रोना सुनकर अभिमान हो आना तथा भक्त और भगवान की उपमा देना आदि बातों से माता का जो वात्सल्य और स्नेह प्रकट है वह पुत्री-विषयक रतिभाव है।

२ उद्बुद्धमात्र स्थायी भाव

'कर कुठार मैं अकरुन कोही, आगे अपराधी गुरु द्रोही।
उतर देत छाड़ौं बिनु मारे, केवल कौसिक सील तुम्हारे॥
न तु यहि काटि कुठार कठोरे, गुरुहिं उरिन होतेउँ श्रम थोरे॥' **तुलसीदास**

धनुष-भंग के बाद लक्ष्मण की व्यंग्यभरी बातों से क्रुद्ध परशुराम ने उपर्युक्त बातें कही हैं। यहाँ आलम्बन, उद्दीपन और अनुभाव आदि के होते हुए भी क्रोध स्थायी भाव की पुष्टि नहीं हो पायी है। क्योंकि कौशिक के शील के आगे क्रोध स्थायी भाव उद्बुद्ध होकर ही रह जाता है, परिपुष्ट नहीं होता। ऐसे स्थलों में सर्वत्र भावध्वनि ही होती है।

रति आदि स्थायी भावों के उक्त उदाहरण उद्बुद्धमात्र स्थायी भावों ही के उदाहरण हैं।

३ प्रधानतया व्यञ्जित व्यभिचारी भाव

सटपटाति सी ससिमुखी, मुख घूंघटपट ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखा झाँकि॥ **बिहारी**

यहाँ नायिका-गत शंका संचारी भाव ही प्रधानतया व्यंजित है। अतः यहाँ भावध्वनि है।

उन्नीसवीं किरण

भावाभास आदि

भाव की व्यञ्जना में, जब किसी अंश में अनौचित्य की झलक रहती है तब वे भाव भावाभास कहलाते हैं। जैसे,

दरपन में निज छाँह सँग लखि प्रीतम की छाँह।
खरी ललाई रोस की, ल्याई अँखियन माँह॥ **प्राचीन**

यहाँ क्रोध का भाव वर्णित है। पर सामान्य कारण होने के कारण भावाभास है।

तेहि अवसर कुबरी तँह आई बसन विभूखन विविध बनाई।
लखि रिसि भरेउ लखन लघु भाई बरत अनल घृत आहुति पाई॥
हुमकि लात तकि कूबर मारा परि मुँह भरि महि करत पुकारा।
कूबर टूटेउ फूट कपारा दलित दसन मुख रुधिर प्रचारा॥ **तुलसी**

यहाँ आश्रय के अनुभाव और आलम्बन की दुर्गति से सफल क्रोध की व्यञ्जना तो है पर आश्रय की महत्ता और आलम्बन की हीनता के कारण क्रोध की अपुष्टि ही नहीं है, उसमें उपहसनीयता भी आ गयी है। अतः यह भावाभास है। यद्यपि 'रिसि' शब्द के प्रयोग से रोष की अभिधा हो गयी है पर अन्य व्यापारों से उसकी व्यञ्जना हो जाने से स्वशब्दवाच्यत्व दोष का अवकाश नहीं है।

जो व्यभिचारी भाव प्रधानता से प्रतीत होते हुए रसाभास का अङ्ग हो जाता है उसे भी भावाभास कहते हैं। जैसे,

सबै विषय बिसरे गई विद्या हू बिल्लात।
हिय ते वह अधिदेवि सम हरिननैनि ना जात॥ **पु. श. चतुर्वेदी**

यह उस प्रवासी पुरुष की उक्ति है जो पूज्य गुरुकन्या में पहले अनुरक्त था। माला, चंदन आदि आनन्ददायक इन्द्रियभोग्य विषयों से विराग, परिश्रम से पढ़े हुए शास्त्रों का परित्याग हो जाने पर भी हरिणनयनी का कभी विस्मरण न होना पद्य में वर्णित है। यहाँ स्मृति संचारी ही प्रधान है। अधिदेवता की उपमा. उसकी हृदय में उपस्थिति सर्वदा स्मृति भाव को ही पुष्ट करती हैं। पर अनुचित आलम्बन—गुरु-कन्या, में होने के कारण भावाभास है। एकाङ्गी होने के कारण अर्थात् केवल नायक से सम्बद्ध होने के कारण भी भावाभास है। यहाँ प्रधान स्मृति भाव अनूढानिष्ठ शृंगाररसाभास का अङ्ग हो गया है। अतः भावा-भास है। यदि यह हरिणनयनी के नायक की उक्ति हो तो इसके 'भाव ध्वनि' होने में कोई सन्देह नहीं।

दर्पणकार वेश्या आदि में लज्जा आदि दीख पड़ने को भी भावा-भास बताते हैं।

भावशान्ति

जहाँ एक भाव दूसरे विरुद्ध भाव के उदय होने से शान्त होता हुआ भी चमत्कार-कारक प्रतीत होता है, वहाँ भाव-शान्ति होती है। जैसे—

कितौ मनावत पीय तउ मानत नाहिं रिसात।
अरुनचूड़ धुनि सुनत ही तिय पिय हिय लपटात॥ **प्राचीन**

यहाँ प्रियतम के प्रति नायिका का मान (गर्व) प्रकट है। कुक्कुट ध्वनि सुनने से औत्सुक्य भाव के उदित होने पर पहला भाव

(गर्व) शान्त हो गया है। इस भावशान्ति में ही काव्य का पूर्ण चमत्कार है। अतः यह भाव-शान्ति है।

अतीव उत्कंठित ग्वाल बाल हो, सवेग आते रथ के समीप थे।
परन्तु होते अति ही मलीन थे, न देखते थे जब वे मुकुन्द को ॥ हरिऔध

यहाँ ग्वाल-बालों के औत्सुक्य की विषाद भाव से शान्ति है।

भावोदय

जहाँ एक भाव की शान्ति के बाद दूसरे भाव का उदय हो और उदय हुए भाव में ही चमत्कार का पर्यवसान हो वहाँ भावोदय होता है।

यह ठीक भाव शान्ति के विपरीत है।

पिय को पाँव परावती मानवती रिसियाति।
ह्वै निरास पिय जात लखि पुनि पाछे पछिताति ॥ प्राचीन

यहाँ मानिनी नायिका के मान में जो ईर्ष्या भाव है वह प्रियतम के लाख मनाने पर भी नहीं मिटता, परन्तु जब प्रियतम निराश होकर चला जाता है तब नायिका का ईर्ष्या भाव शान्त हो जाता है और उसके बाद विषाद भाव का उदय होता है। कविता का चमत्कार इसी भावोदय में ही है।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि 'भाव शान्ति' में चमत्कार का आस्वादन भाव की शान्ति में होता है, दूसरे भाव के उदय में नहीं। इसके ठीक विपरीत 'भावोदय' में भाव के उदय में ही चमत्कार रहता है, भाव की शान्ति में नहीं। भावोदय में पहले भाव की शान्ति और भावशान्ति में पिछले भाव का उदय होता है।

हाथ जोड़ बोला साश्रुनयन महीप यों—
मातृभूमि इस तुच्छ जन को क्षमा करो।
आज तक खेयी तरी मैंने पापसिन्धु में,
अब खेऊँगा उसे धार में कृपाण की ॥ आर्यावर्त

जयचन्द की इस उक्ति में विषाद भाव की शान्ति है और उत्साह भाव का उदय है। विषाद के व्यञ्जक 'साश्रुनयन' और 'क्षमा करो' पद हैं। उत्साह अन्तिम चरण से व्यक्त है।

भावसन्धि

जहाँ एक साथ तुल्यबल एवं सम चमत्कारकारक दो भावों की सन्धि हो वहाँ भावसन्धि होती है। जैसे—

छुटै न लाज न लालचौ प्यौ लखि नैहर गेह।
सटपटात लोचन खरे भरे सँकोच सनेह॥ **बिहारी**

नायिका अपने नैहर मे है। नायिका के पतिदेव अपनी ससुराल आये हैं। नायिका पति से मिलना चाहती है—परन्तु गुरुजनों के बीच लज्जा और संकोच से ऐसा नहीं कर सकती। इसलिये उसके नयन (गुरुजनों के) संकोच और (प्रियतम के) स्नेह दोनों से भरे हैं। इसलिये यहाँ स्नेह और लज्जा दोनों भाव सम कोटि का चमत्कार उत्पन्न करते हैं। अतः भाव-सन्धि है।

पिय बिछुरन को दुसह दुख हरषि जात प्यौसार।
दुरजोधन लौ देखियत तजत प्रान इहिं बार॥ **बिहारी**

यहाँ भी नायिका के मन में नैहर जाने का हर्ष तथा पति के वियोग का विषाद दोनों भाव समान रूप में चमत्कारक हैं।

उत रणभेरी बजत इत रंगमहल के रंग।
अभिमन्यू मन ठिठकिगो जुस उतंग नभ चंग॥ **प्राचीन**

यहाँ भी अभिमन्यु की रण-यात्रा के समय एक ओर रंगमहल की रँग-रेलियों का स्मरण और दूसरी ओर रणभेरी बजने का उत्साह—ये दोनों भाव समान रूप से चमत्कारक हैं। अतः यह भी भाव-सन्धि का ही उदाहरण है।

भावशबलता

जहाँ एक के बाद दूसरा और फिर तीसरा—इसी प्रकार कई समान चमत्कारक भावों का सम्मेलन हो, वहाँ भावशबलता होती है। जैसे,

कौन सा दिखाऊँ दृश्य वन का बता मैं आज,
हो रही है आलि! मुझे चित्र रचना की चाह!
नाला पड़ा पथ में किनारे जेठ जीजी खड़े,
अम्बु अवगाह आर्यपुत्र ले रहे हैं थाह॥
किंवा वे खड़ी हों घूम प्रभु के सहारे आह!
तलवे से कंटक निकालते हों ये कराह!
अथवा झुकाये खड़े हों ये लता और जीजी,
फूल ले रही हों, प्रभु दे रहे हों वाह वाह!॥ **गुप्तजी**

विरह में ऊर्मिला की उक्ति सखी से है कि आज मैं चित्र बनाना चाहती हूँ जिसमें यह दृश्य रहेगा।

'कौन सा दिखाऊँ दृश्य' में वितर्क भाव है। 'चित्र रचना की चाह' में उत्कण्ठा है। 'कराह कर कंटक निकालने' में विषाद है एवं 'जीजी के फूल लेने पर प्रभु के शाबासी देने' में हर्ष भाव व्यञ्जित हैं। इस प्रकार यहाँ कई भावों के सम्मिलित होने के कारण भाव-शबलता है।

सीताहरण के बाद रामचन्द्र ने वियोग में जो प्रलाप किया है वह भी इसका उदाहरण है। जैसे—

'मम मन सीता आश्रम नाहीं।' **शंका**
'हा गुणखानि जानकी सीता।' **विषाद**
'सुनु जानकी तोहि बिनु आजू।
हर्षे सकल पाइ जनु राजू॥' **वितर्क या प्रलाप**
'किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं। **ईर्ष्या**
प्रिया वेगि प्रकटत कस नाहीं।' **उत्कण्ठा**

आदि अनेक भाव सम-कोटिक हैं और साथ ही चमत्कार-कारक हैं।

उपर्युक्त असंलक्ष्यक्रम के आठ भेदों के अनेक भेद हो सकते हैं, जिनके लक्षण और उदाहरण लिखना सर्वथा दुष्कर है। जैसे, शृंगार के एक भेद संभोग में ही परस्परावलोकन, करस्पर्श, आलिंगन आदि से मनसा, वचसा तथा कर्मणा अनेक भेद हो जायँगे, जिनकी संख्या अगम्य होगी। इसीलिये आचार्यों ने इसका एक ही भेद माना है।

बीसवीं किरण

असंलक्ष्यक्रमध्वनि के भेद

(पद-पदांश-वाक्य-गत)

असंलक्ष्यक्रमध्वनि की अभिव्यक्ति छ प्रकार से होती है। ये ही अभिधामूलक असंलक्ष्यक्रम के छ भेद भी कहलाते हैं। जैसे, पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, रचनागत और प्रबन्धगत।

१ पदगत असंलक्ष्यक्रम ध्वनि

भली लगी उर भावते करै भावती आप।
'कामनसेनी' सी बनी यह बेनी की छाप॥ **मतिराम**

यहाँ छाती पर की बेनी की छाप से, जो 'कामनसेनी' सी लग रही है, नायक का अन्य नायिका से संभोग ध्वनित होता है। इसमें

संभोग-शृंगार की व्यञ्जना विशेष रूप से 'कामनसेनी' पद द्वारा ही होती है। पूर्व उदाहरणों की ही भाँति यहाँ भी दोहे के वाच्यार्थ-बोध के साथ ही संभोग-शृङ्गार की ध्वनि हो जाती है। व्यंग्यबोध के कार्य-कारण का क्रम लक्षित नहीं होता।

पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा।
जीवन मूरि जिमि जुगवति रहऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहऊँ॥
'सो' सिय चलन चहति बन साथा। आयसु काह होइ रघुनाथा॥
तुलसीदास

यहाँ सीता-विषयक जो करुण की रसध्वनि प्रतीति होती है वह अन्तिम पंक्तिं के 'सो' पद से। यहाँ 'सो' सर्वनाम सीता की सुकुमारता, सुख-सौभाग्यशालिता आदि बातों को ध्वनित करता है और साथ ही वन की भयानकता, दुःखदायकता आदि को भी व्यंजित करता है। अतः यहाँ करुणरस पदगत है।

सखी सिखावत मान विधि, सैननि बरजति बाल।
'हरुए' कहु मो हिय बसत सदा बिहारी लाल॥ **बिहारी**

मान की सीख देनेवाली सखी के प्रति नायिका कहती है कि सखी, धीरे से बोल। मेरे हृदय में विहारीलाल बसते हैं। वे कहीं सुन न लें। यहाँ 'हरुए' पद प्रधानता से बिहारीलाल में अनुराग सूचित करता है। इससे सम्भोगशृङ्गार ध्वनित होता है।

'बिहारीलाल' इस एक पद से भी उक्त ध्वनि होती है। क्योंकि जो विहरणशील है वही अपना स्वभाव छोड़ हृदय में निवास कर रहा है। फिर उसके विरुद्ध षड्यन्त्र में प्रत्यक्ष सम्मिलित होना समुचित नहीं। यथार्थतः मान को यहाँ कहाँ अवकाश है।

२ पदांशगत असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य

चिरदग्ध दुखी यह वसुधा, आलोक माँगती तब भी।
तुम तुहिन बरस दो कन कन, यह पगली सोये अब भी॥ **प्रसाद**

यहाँ 'तब भी' पद के 'भी' पदांश में असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य है। इतनी यातना झेलने पर भी पगली 'आलोक' माँगती है। क्योंकि 'उसी आलोक के कारण यह युग युग से दग्ध हुई है, और फिर भी वही चाहती है। इसलिये उस पर दया के तुहिन कण बरसा दो, जिससे पगली कुछ सो ले।' इस वाच्यार्थ में 'भी' पदांश द्वारा करुण-रस ध्वनित होता है। कवि उस पर दया चाहता है—उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करता है।

सिखा दो ना, हे मधुप कुमारि ! मुझे भी अपना मीठा गान—
कुसुम के चुने कटोरो से करा दो ना कुछ कुछ मधु पान । **पंत**

मधुपकुमारी—बाल मधुकरी के मधुर गान पर मुग्ध होकर कवि उसकी मनुहारें करता है जिससे उसकी कविता मे भी गुञ्जार सी मिठास हो । यहाँ के 'ना' निपात पदांश से कवि का आन्तरिक अनुनय विनय प्रकट है, जिससे दैन्य भाव की ध्वनि होती है । 'ना' लिखकर कवि ने अपने अनुरोध का अन्त कर दिया है । 'ना' के प्रयोग से कवि की उक्ति में अनुरोधात्मक बालभाषित की सी मधुरता और सुकुमारता है ।

३ वाक्यगत असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य

'कंधो पर के बड़े बाल वे बने अहो ! आँतो के जाल ।
फूलो की वह वरमाला भी हुई मुण्डमाला सुविशाल ॥
गोल कपोल पलटकर सहसा, बने भिड़ो के छत्तों से ।
हिलने लगे उष्ण साँसों से ओठ लपालप लत्तो से ॥' **गुप्त जी**

शूर्पणखा जब अपने प्रेममय मायाजाल से निराश हो गयी, तब उसने जो उग्र रूप धारण किया उसका यह वर्णन है । यहाँ आँतों के जाल के बाल बने, भिड़ों के छत्तों से गाल बने आदि, प्रत्येक वाक्य से भयानकता की ध्वनि होती है । इसलिये यहाँ वाक्यगत रस-ध्वनि है ।

लरिका लैबे के मिसनि, लंगर मो ढिग आइ ।
गयौ अचानक आँगुरी, छाती छैल छुआइ ॥ **बिहारी**

नायिका की उक्ति अपनी अंतरंग सखी से है । 'गयौ अचानक आँगुरी छाती छैल छुवाइ' इस वाक्य से स्थायी भाव रति की व्यञ्जना होती है । किन्तु यहाँ नायिका परकीया है । अतः यह उदाहरण भावाभास का होगा । उक्त के वाक्य से यह ध्वनित होता है । अतः वाक्यगत है ।

किन्तु, यदि यहाँ नायिका किसी अपनी अन्तरंग सखी से न कह कर किसी ऐसी नायिका से कहती हो जो उस नायक के प्रति स्वयं भी अनुरक्त हो तब यहाँ अन्तिम वाक्य से नायिका का केवल 'गर्व' संचारी भाव ध्वनित होगा और यह उदाहरण वाक्यगत भावाभास का हो जायगा ।

इक्कीसवीं किरण

रचनागत और वर्णगत असंलक्ष्यक्रमध्वनि का विचार

रचना के प्रधानतः तीन भेद होते हैं—(१) वैदर्भी (उपनागरिका वृत्ति) में माधुर्यगुणव्यञ्जक वर्णों की, (२) गौड़ी (परुषा वृत्ति) में ओजोगुणव्यञ्जक वर्णों की और (३) पाञ्चाली (कोमला वृत्ति) में इन दोनों में प्रयुक्त वर्णों की, रचना रहती है। इनसे ही माधुर्य और ओज गुणों की सृष्टि होती है। पर प्रसाद गुण अपने स्वरूप में सर्वत्र वर्त्तमान रह सकता है।

इनके अतिरिक्त रचना की 'लाटी' नाम से एक और भेद है जो वैदर्भी और पाञ्चाली के बीच की वस्तु है।

शृङ्गार रस में वैदर्भी और पाञ्चाली का, करुण, भयानक और अद्भुत रस में लाटी का और रौद्र रस में गौड़ी का और अन्यत्र कवि-रुचि के अनुकूल इनका रचना में प्रयोग होता है। इन्हें रीति भी कहते हैं।

रीतियाँ प्रायः गुण-समानाधिकरण होती हैं। गुणों में वर्णों की प्रधानता रहती है, और गुण रस के सहचारी हैं। अतः वर्ण और रचना की ध्वनि में गुणों की व्यंग्यता के साथ ही रस की व्यंगता होती है। एक की व्यञ्जना के लिये दूसरे की व्यञ्जना अपेक्षित रहती है। इससे इनका एक प्रकार से संकार्य हो जाता है।

रसगंगाधरकार वर्ण और रचना को व्यञ्जक नहीं मानते। वे रागगत और छन्दोगत नामक दो अन्य प्रकार मानते हैं। उनका कहना है कि इनके विषय में सहृदयों का हृदय ही प्रमाण है। यदि इस विषय में उनका यही अनुभव है तो इनमें भी व्यंजना स्वीकार करनी चाहिये।

वर्ण और रचना के सम्बन्ध में पंडितराज का विचार 'हिन्दी रस गंगाधर' से यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"रचना और वर्ण यद्यपि पदों और वाक्यों के अंतर्गत होकर ही व्यंजक होते हैं, क्योंकि पृथक् रचना और वर्ण मात्र तो व्यञ्जक पाये नहीं जाते, तथापि यह कहा जा सकता है कि वैसी रचना और वर्ण से युक्त पद और वाक्य व्यञ्जक होते हैं। सो उनकी व्यंजकता में जो पदार्थ विशेष रूप से रहनेवाले हैं, उन्हींमें इनका भी प्रवेश हो जाता है, अतः इन्हें स्वतन्त्र रूप से व्यञ्जक मानने की आवश्यकता नहीं रहती। तथापि पदों और वाक्यो से युक्त रचना और वर्ण व्यञ्जक हैं अथवा रचना

और वर्ण से युक्त पद और वाक्य, इन दोनों में से एक बात को प्रमाणित करने के लिये कोई साधन नहीं है, इस कारण प्रत्येक की व्यञ्जकता सिद्ध हो जाती है"। × ×

"प्राचीन विद्वानों के इस मत को नवीन विद्वान् नहीं मानते। वे कहते हैं कि "वर्ण और उनकी भिन्न भिन्न प्रकार की वैदर्भी आदि रचनायें माधुर्य आदि गुणों को ही अभिव्यक्त करती हैं, रस को नहीं, क्योंकि ऐसा मानने में एक तो व्यर्थ ही रसादिकों के व्यञ्जकों की संख्या बढ़ती है, दूसरे इसमें कोई प्रमाण भी नहीं।...... सारांश यह कि वर्णों और रचनाओं को रसों का व्यञ्जक मानना ठीक नहीं, उन्हें केवल गुणों का व्यञ्जक मानना चाहिये"।

बाईसवीं किरण

४ रचनागत और ५ वर्णगत असंलक्ष्यक्रम ध्वनि

४ रचनागत असंलक्ष्यक्रम ध्वनि

रचना का अर्थ विशिष्ट पद-संघटन वा ग्रन्थन है।

जागत ओज मनोज के परसि पिया के गात।
पार होत पुरैन के चन्दन पंकिल पात॥ **मतिराम**

प्रिया के गात्र का स्पर्श करके कामदेव की ज्वाला के कारण चन्दनलिप्त पद्म-पत्र भी पापड़ हो जाते हैं। इस वाच्यार्थ-बोध के साथ ही विप्रलंभ शृंगार ध्वनित होता है। यह ध्वनि किसी एक पद से या किसी एक वाक्य से ध्वनित न होकर रसानुकूल असमस्त पदोंवाली साधारण रचना द्वारा होती है। अतः यहाँ रचनागत असंलक्ष्यक्रम ध्वनि है।

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों अपनो देह दह्यो॥
अलिसुत प्रीति करी जलसुत सो संपति हाथ गह्यो।
सारंग प्रीति जु करी नाद सों सन्मुख बान सह्यो॥
हम जो प्रीति करी माधव सों चलत न कछू कह्यो।
'सूरदास' प्रभु बिनु दुख दूनो नैननि नीर बह्यो॥

इस पद्य में ऊपर के कई असमस्त और एक दो समस्त पदोंवाले दृष्टान्तों से पुष्ट हुई अन्तिम दो पंक्तियों में वर्णित गोपियों की दशा से विप्रलम्भ शृंगार ध्वनित होता है।

उपर्युक्त दोनों उदाहरण प्रसाद गुण की रचना के हैं।

रचना का अर्थ रचना-गत नाद-व्यञ्जना भी बतलायी जाती है। अर्थात् जहाँ रचना-वैचित्र्य के कारण ही कोई रस-ध्वनि प्रतीत होती हो वहाँ रचनागत असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है। जैसे,

निकसत म्यान ते मयूखैं प्रलै-भानु कै सी,
फारै तम तोम से गयन्दन के जाल को।
लागत लपटि कंठ वैरिन के नागिनि सी,
रुद्रहिं रिझावै दै दै मुंडन के माल को॥
लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली,
कहाँ लों बखान करौं तेरी करवाल को।
प्रतिभट कटक कटीले केते काटि काटि,
कालिका सी किलकि कलेऊ देत काल को॥ **भूषण**

उपर्युक्त रचना के पढ़ने से ही हृदय के भीतर उत्साह भाव अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाता है और वीर रस का आस्वाद मिलने लगता है। यह आस्वाद रचना की विचित्रता से ही होता है। इसको ओजोगुणमयी रचना कह सकते हैं।

रचना-गत वैचित्र्य में माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुण के व्यञ्जक वर्ण बहुत बड़े सहायक होते हैं। ऐसे वर्णों के द्वारा ही रचना में विचित्रता आती है। तथापि वर्णगत ध्वनि, जो वर्णों की विशेषता के कारण होती है, रचनागत ध्वनि के अन्तर्गत प्रकारान्तर से आ जाती है। अतएव दोनों की पृथक् सत्ता मानना वैसा महत्त्व नहीं रखता।

५—वर्णगत असंलक्ष्यक्रम ध्वनि

कविता के अनेक वर्णों से भी रसध्वनि होती है। जैसे,

रस सिंगार मंजनु किये कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु नैन॥ **बिहारी**

कंजों के भी मानभंजन करने वाले नयन विना अंजन के भी खंजन से बढकर चञ्चल हैं। यहाँ माधुर्यव्यञ्जक वर्णों द्वारा रति भाव की जो ध्वनि है वह वर्णगत है।

'कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥'

यहाँ राम के मानस में सीताविषयक जो रति जाग्रत सी लगती है और उससे जो शृंगार रस का आस्वाद होता है उसके व्यञ्जक प्रथमार्ध के माधुर्यव्यंजक वर्ण भी हैं। अतः यहाँ शृङ्गार रस की ध्वनि वर्णगत है।

भट कटक तनु सत खंड । पुनि रटत करि पाखंड ॥
नभ उड़त बहु भुज मुंड । बिनु मौलि धावत रुंड ॥
खग-कंक-काग सृगाल । कट कटहि कठिन कराल ॥
तब चले बाण कराल । फुंकरत जनु बहु व्याल ॥ **तुलसी**

उक्त पद्य से जो भयानक रस व्यंजित होता है, उसमें पद्य के वर्ण ही सहायक होते हैं। पद्य के सम्पूर्ण वर्ण ओज-गुण-प्रकर्षक हैं। उनके द्वारा भयानक रस का आस्वाद अधिक होता है।

तेइसवीं किरण

प्रबन्धगत का विचार

संस्कृत के प्रधान आचार्यों ने असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम दोनों के तेरह प्रबन्धगत भेद माने हैं। किन्तु, एक भेद के ही लक्षण और उदाहरण दिये हैं। इनका उदाहरण इन आचार्यों के लिये एक विकट समस्या हो गयी थी। क्योंकि प्रबन्ध शब्द का इतना संकुचित अर्थ लिया गया है कि विभिन्न प्रकार के उदाहरण नहीं दिये जा सकते थे। अतः इन आचार्यों ने दिग्दर्शन कराना ही पर्याप्त समझा। पर यह विचारणीय है।

आचार्य आनन्द-वर्धन ने प्रबन्ध-ध्वनि के तीन उदाहरण दिये हैं, जिनमें महाभारत का गृध्र-गोमायु-संवाद ही सर्व-प्रसिद्ध है। आचार्य ने एक प्रकार की और उद्भावना की है। वे प्रबन्ध को कथाश्रित समझकर किसी ऐसे पद्य में प्रबन्ध-ध्वनि की स्थापना करते हैं जिसमें वर्णित किसी कथा का कोई अंश समस्त कथा का अनुसन्धान करने पर असंलक्ष्यक्रम रस या भावादि की व्यञ्जना करता हो। यह भी प्रबन्ध-ध्वनि का एक प्रकार हो सकता है।

काव्यप्रकाश में भी उक्त गृध्र-गोमायु-प्रसंग ही प्रबन्ध-ध्वनि के उदाहरण में उद्धृत किया गया है। वही साहित्य-दर्पण में भी उद्धृत है। रामायण, महाभारत, तथा पुराणों में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनसे प्रबन्धगत उदाहरण दिये जा सकते थे। किन्तु ऐसा इसमें क्या रहस्य है कि ऐसे आचार्यों ने भी नया उदाहरण नहीं दिया। दुर्लभता से तो

ध्वनिकार ने ऐसा नहीं लिखा कि यह ध्वनि विशेष-विशेष प्रबन्धों ही में मिल सकती है, सर्वत्र नहीं ?

काव्य-प्रकाश की प्रदीप टीका में प्रबन्ध का ऐसा लक्षण लिखा है—'परस्पर-सम्बद्ध अनेक वाक्यों वा विविध-वाक्यों का समुदाय ही प्रबन्ध है। वह ग्रन्थरूप भी हो सकता है और उसका अवान्तर प्रकरण-रूप भी'। प्रदीपकार ने इस प्रकार संघटित-नाना-वाक्य-समुदाय को प्रबन्ध बताकर लगे हाथ उसके दो भेद भी कर डाले हैं। उनके मत से संघटित नाना-वाक्य-समुदाय या तो ग्रन्थ होगा या उसके अन्तर्गत उसका कोई प्रकरण। जैसे समस्त महाभारत शान्त रस का और उसका एक प्रकरण गृध्र-गोमायु-संवाद वस्तु का व्यञ्जक है। साहित्य-दर्पण में प्रबन्ध को महावाक्य कहा है। इसका भी वही अर्थ है—सङ्घटित-नाना-वाक्य-कदम्ब-स्वरूप।

जिस समय ये काव्य-शास्त्र बने उस समय वर्तमान काल के समान लघुकाय प्रबन्धकाव्यों या गीतिकाव्यों की न तो पृथक् रचना होती थी और न उनपर दृष्टि रखकर किसी भेद की कल्पना की गयी थी। यही कारण है कि आचार्यों ने भेद तो किये किन्तु उदाहरण न दे सके। विविध-अनेक-वाक्यों का समुदाय लक्षण होने से उदाहरण-स्वरूप प्रबन्ध बड़ा भी हो सकता है, छोटा भी। एक से अधिक वाक्य भी तो अनेक हो सकता है। इससे एक पद्य भी प्रबन्ध कहा जा सकता है। किन्तु प्रबन्ध को इतने संकुचित क्षेत्र में मानना प्रबन्ध का महत्त्व नष्ट करना है।

रसगंगाधरकार संलक्ष्यक्रम के प्रबन्धगत भेद नहीं मानते। वे संभवतः अनेक वाक्यों से व्यक्त होने वाले व्यंग्य को भी वाक्यगत ही मानते हों और बड़े बड़े प्रबन्धों से या ग्रन्थों से किसी एक ही वस्तु या अलङ्कार की प्रतीति का समर्थन करना वर्णित विषयों का महत्त्व नष्ट करना समझते हों।

काव्यकल्पद्रुमकार को भी प्रकाश या दर्पण में उद्धृत श्लोकों का अनुवाद उदाहरण में देना था। अतएव उन ग्रन्थों का स्वसंमत आशय लेकर यह लक्षण भी दे दिया कि 'यह प्रबन्ध-ध्वनि एक वाक्य या

१ अनुस्वानोपमात्माऽपि प्रभेदो य उदाहृतः।
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते येषु केषुचित्॥ ध्वन्यालोक

२ प्रबन्धश्च संघटित-नाना-वाक्य-समुदायः।
स च ग्रन्थरूपस्तदवान्तरप्रकरणरूपश्च॥ काव्य-प्रदीप

एक पद्य में नहीं होती, किन्तु ग्रन्थ-प्रबन्ध के कई पद्यों में हुआ करती है।' ऐसा क्यों ? स्वतन्त्र पृथक् प्रबन्ध में क्यों नहीं होती ? छोटे से एक पद्य-प्रबन्ध में भी तो अनेकों पद्य होते हैं। लघुकाय पद्य-प्रबन्ध की सत्ता पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं जब कि अमरुक[1] का एक एक पद्य एक एक प्रबन्ध क्या सौ सौ प्रबन्ध के समान होता था। इसलिये ग्रन्थावान्तर-प्रकरण रूप जो उक्ति है वह पृथक् प्रबन्ध की सत्ता और उसकी ध्वनि की बाधक नहीं हो सकती।

हिन्दी के आचार्य कविवर भिखारीदास प्रबन्धध्वनि के सम्बन्ध में लिखते हैं—

एक हि शब्द प्रकाश में उभयशक्ति न लखाइ।
अस सुनि होत प्रबन्ध ध्वनि कथाप्रसङ्ग हि पाइ॥

इसका आशय यह है कि कथा-प्रसंग से जहाँ ध्वनि निकले वहाँ प्रबन्धध्वनि होती है। उनके इस उदाहरण से यह ज्ञात होता है।

बहिर कढ़ि कर जोरि के रवि को करो प्रणाम।
मन इच्छित फल पाइके तब जइयो निज धाम॥

इससे चीरहरण की कथा सामने आती है और उससे हास्य की ध्वनि होती है।

दास के आधार पर लाला भगवानदीन जी भी कहते हैं कि 'कथा-प्रसंग के जोर से जहाँ कोई रस-भावादि व्यंजित होते हैं उसे प्रबन्ध-ध्वनि कहते हैं और दास के समान ही उदाहरण दे कर छुट्टी पा जाते हैं। संभवतः गृध्र-गोमायु-प्रसंग की कथा को लेकर ही इन हिन्दी के विद्वानों के मस्तिष्क में यह विचार उठ खड़ा हुआ है। यथार्थतः वहाँ प्रबन्ध कथा के रूप में है और उसके पद्यों से गृद्धगोमायु की अभिप्रेत ध्वनियाँ निकलती हैं।

अथवा यह भी संभव है कि ध्वनिकार की उक्त उद्भावना पर ही ये लक्षण-उदाहरण दिये गये हों।

अब विचारणीय विषय यह है कि प्रबन्ध का उपर्युक्त अर्थ ही लिया जाय अथवा लक्ष्यों के अनुरोध से उसके अर्थ में कुछ व्यापकता लायी जाय। जब परस्परान्वित वाक्यों के समुदाय को ही प्रबन्ध कहना है तो क्यों न किसी एक विषय को लेकर विरचित एक भावाभि-

---

१ अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते।

व्यञ्जक वाक्य-कदम्ब-रूप लघुकाय आधुनिक कृति को प्रबन्ध-काव्य कहा जाय। यद्यपि वर्तमान रूढ़ि के अनुसार ऐसी छोटी कृति को प्रबन्ध कहना आधुनिक समीक्षक की प्रथा के विपरीत होगा, पर हमें आधुनिक समीक्षा की रूढ़ि से क्या प्रयोजन। हम तो ये भेदोप-भेद प्राचीन प्रथा के अनुसार ही स्थापित कर रहे हैं। प्राचीन रूढ़ि से इसका कोई विरोध नहीं है। जिस कृति को आज 'प्रबन्धकाव्य' के नाम से व्यवहृत करते हैं उसे प्राचीन आचार्य प्रबन्धकाव्य नहीं 'महा-काव्य' कहते थे। अतः उपर्युक्त लघुकाय कृति को प्रबन्ध कहने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती।

हम छोटे छोटे निबन्ध काव्यों को, गीतियों और गीतों को, बड़े २ अनेक पद्यों को, जिनमें अनेक वाक्य आये हों, गद्य-गीतों को, अनेक वाक्यों में वर्णित किसी प्रसंग को, हम उक्त लक्षणानुसार 'प्रबन्ध' मानते हैं।

चौबीसवीं किरण

६ प्रबन्धगत असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य

प्रबन्ध का तात्पर्य है—परस्परान्वित वाक्यों का समूह अर्थात् महावाक्य। इसकी ध्वनि को प्रबंधध्वनि कहते हैं। जैसे,

दलित कुसुम

अहह अहह आँधी आ गयी तू कहाँ से ?
प्रलय घनघटा सी छा गयी तू कहाँ से ?
पर-दुख-सुख तू ने हा ! न देखा न भाला।
कुसुम अधखिला ही हाय ! यों तोड़ डाला ॥ १ ॥
तड़प तड़प माली अश्रुधारा बहाता।
मलिन मलिनिया का दुःख देखा न जाता।
निठुर ! फल मिला क्या व्यर्थ पीड़ा दिये से।
इस नव लतिका की गोद सूनी किये से ॥ २ ॥
यह कुसुम अभी तो डालियों में धरा था।
अगणित अभिलाषा और आशा भरा था ॥
दलित कर इसे तू काल, पा क्या गया रे !
कण भर तुझ में क्या हा ! नहीं है दया रे ॥ ३ ॥

सहृदय जन के जो कण्ठ का हार होता।
मुदित मधुकरी का जीवनाधार होता॥
वह कुसुम रँगीला धूल में जा पड़ा है।
नियति ! नियम तेरा भी बडा ही कडा है॥ ४॥

रूपनारायण पाण्डेय

इसमें आलम्बन विभाव दलित कुसुम है। उद्दीपन हैं उसका धूल मे पड़ना, लतिका की गोद सूनी होना। अनुभाव हैं माली का तड़पना, आँसू का बहाना, मालिन का दुःख। संचारी हैं दैन्य, मोह, चिन्ता, विषाद आदि। इनसे स्थायी भाव शोक परिपुष्ट होता है जिससे करुण रस ध्वनित होता है।

शरणागत

क्षुद्र-सी हमारी नाव चारो ओर है समुद्र,
वायु के झकोरे उग्र रुद्र रूप धारे है।
शीघ्र निगल जाने को नौका के चारों ओर
सिन्धु की तरंगें सौ सौ जिह्वायें पसारे है॥
हारे सभी भाँति हम अब तो तुम्हारे विना
झूठे ज्ञात होते और सब के सहारे है।
और क्या करें अहो! डुबा दो या लगा दो प्यार,
चाहो जो करो शरण्य ! शरण तुम्हारे है॥
सुनसान कानन भयावह है चारो ओर,
दूर दूर साथी सभी हो रहे हमारे है।
काँटे बिखरे है, कहाँ जावे जहाँ पावे ठौर,
छूट रहे पैरो से रुधिर के फुहारे है।
आ गया कराल रात्रि-काल है अकेले यहाँ,
हिंस्र जन्तुओ के चिह्न जा रहे निहारे है।
किसको पुकारे यहाँ रोकर अरण्य बीच
चाहे जो करो शरण्य ! शरण तुम्हारे है॥

सि० रा० श० गुप्त

इस प्रबन्ध मे 'दैन्य' संचारी ध्वनित है।

ऊपर यह भी लिखा गया है कि प्रबन्ध का अभिप्राय ग्रन्थ से भी है। इसलिये प्रबन्धगत उदाहरण में करुण-रस-प्रधान रामायण, शान्त-रस-प्रधान महाभारत, वीर-रस-प्रधान शिवराजभूषण आदि, विप्रलम्भ-

शृङ्गार प्रधान प्रिय-प्रवास आदि काव्य आते हैं। इनमें उक्त रसों की ध्वनि है।

पचीसवीं किरण

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि

जहाँ अभिधा द्वारा वाच्यार्थ का स्पष्ट बोध होने पर क्रम से व्यंग्यार्थ संलक्षित हो, वहाँ संलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि होती है।

यहाँ भी व्यंग्यार्थ-बोध के लिये वाच्यार्थ की विवक्षा रहती है, अतः यह विवक्षितान्यपर-वाच्य का दूसरा भेद है।

ध्वनि का उत्थान कहीं शब्द से, कहीं अर्थ से और कहीं दोनों की सम्मिलित शक्ति से होता है। ध्वनित होने वाले पदार्थ रस, अलंकार और वस्तु—ये तीन हैं जिनका संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया जा चुका है। इनमें रस-ध्वनि का अर्थ से उसी प्रकार संबन्ध है जिस प्रकार गन्ध का गन्धवाह से। इसमें अर्थ-प्रतीति के बाद प्रतीत होने वाली अन्यान्य ध्वनियों के जैसा क्रम नहीं लक्षित होता। इसीलिये इस रस-ध्वनि को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहा जाता है, जैसा कि इसके बारे में पहले पर्याप्त लिखा जा चुका है।

अलंकार और वस्तु को ध्वनन करने वाली ध्वनि इससे भिन्न है। उसमें शब्द से अर्थ की प्रतीति के अनन्तर अनुसन्धान करने पर व्यंग्य का बोध होता है। जिस प्रकार घंटा ठोकने पर मूल शब्द के बाद एक प्रकार का अनुगामी जो गुंजन उठता है, प्रथम महान् शब्द के अनन्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम रूप से जो मधुर झंकार प्रतीत होती है, उसी प्रकार साधारण अर्थ के अनन्तर जो अलंकार और वस्तु रूप से व्यंग्य प्रतीत होता है उसे 'अनुरणनध्वनि' कहते हैं। अनुरणन का अर्थ है पीछे से होनेवाली गूँज। अलंकार और वस्तु की ध्वनि इसी प्रकार की होती है और इसमें पूर्वापर का क्रम लक्षित होता रहता है। इसीलिये इसे 'संलक्ष्यक्रम व्यंग्य' कहा गया है। जैसे—बाल काटने के समय नाई जो कैंची चलाता है और उससे जो केश कटते हैं उनका कार्य अत्यन्त सम्मिलित होने पर भी संचालन और केशच्छेदन का क्रमिक ज्ञान परिलक्षित होता रहता है।

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के तीन भेद होते हैं—शब्द-शक्त्युद्भव-अनुरणन-ध्वनि, अर्थशक्त्युद्भव-अनुरणन-ध्वनि और शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव-अनुरणन-ध्वनि ।

१—शब्दशक्त्युद्भव अनुरणन-ध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ-बोध होने के बाद व्यंग्यार्थ का बोध जिस शब्द द्वारा होता है उसके बोध कराने की शक्ति केवल उसी शब्द में हो, उसके पर्यायवाची शब्द में नहीं, वहीं यह ध्वनि होती है ।

इसके चार भेद हैं—१—पदगत वस्तुध्वनि, २—वाक्यगत वस्तुध्वनि. ३—पदगत अलंकार-ध्वनि और वाक्यगत अलंकार-ध्वनि ।

१—पदगत शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम वस्तुध्वनि

वस्तु-ध्वनि उसे कहते हैं जहाँ व्यञ्जना किसी वस्तु अर्थात् बात की होती हो । अलंकार के अतिरिक्त सब व्यङ्ग्य-विषय वस्तुध्वनि में ही सम्मिलित हैं । जब यह वस्तु-विषयक ध्वनि किसी पद के द्वारा व्यञ्जित हो तथा उसका क्रम संलक्षित होता हो तब वह 'पदगत' शब्दशक्ति-मूलक संलक्ष्यक्रम वस्तुध्वनि कहलाती है । जैसे,

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर ।
को घटि ये बृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥ **बिहारी**

इस जोड़ी का स्नेह अत्यन्त गंभीर क्यों न हो. जब कि राधिका 'बृषभानु' की लड़की ठहरी और कृष्ण 'हलधर' (बलदेव) के भाई ठहरे । इनमें कोई घटकर नहीं है । इसलिये ऐसी जोड़ी युग-युग जीवे ।

इस वाच्यार्थ के बोध हो जाने पर ही 'बृषभानुज' और 'हलधर' शब्द के श्लेष से यह ध्वनि होती है कि 'वृषभ' (बैल) की 'अनुजा' (बहिन) राधिका और हलधर (बैल) के भाई कृष्ण की जोड़ी खूब बनी है । क्योंकि, दोनों का सम्बन्ध बहुत निकट का है । इसलिये इनकी प्रीति में अत्यंत गंभीरता है । ऐसी जोड़ी युग-युग जीने के लायक है ।

उपर्युक्त वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ-बोध का पूर्वापर-संबन्ध पूर्णरूप से स्पष्ट है । यहाँ वाच्यार्थ के बाद जो व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, वह यदि 'बृषभानुजा' और 'हलधर' शब्दों के स्थान पर इनके पर्याय-वाची शब्द रख दिये जायँ तो श्लेष नष्ट हो जाने के कारण उपर्युक्त

व्यंग्यार्थ का बोध ही नहीं होगा। इसलिये ऐसे व्यंग्य शब्द-शक्त्युद्भव कहलाते हैं। जिस व्यंग्यार्थ का बोध हुआ है, वह 'बैल की बहिन' और 'बैल का भाई' वस्तु रूप ही है; क्योंकि अलंकार से शून्य है। यहाँ बृषभानुजा और हलधर पदों में होने के कारण पदगत है। अतः पदगत-शब्दशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम ध्वनि का यह उदाहरण है।

जो पहाड़ को तोड़-फोड़कर बाहर कढ़ता।
निर्मल जीवन वही सदा जो आगे बढ़ता॥ **राम**

उक्त पंक्तियों का वाच्यार्थ है कि पहाड़ को तोड़-फोड़कर उसके अंतर से निकलनेवाला जीवन (पानी) प्रवाहित होता हुआ ही निर्मल हुआ करता है। इस वाच्यार्थ के बाद 'जीवन' शब्द के श्लेष द्वारा यह व्यंग्यार्थ-बोध होता है कि मनुष्य का वही जीवन पवित्र तथा गतिशील होता है जो पहाड़ जैसी विपत्तियों को भी रौंदकर आगे बढ़ता ही जाता है। यहाँ व्यंग्यार्थ-बोध में 'जीवन' शब्द से मनुष्य के जीवन का जो बोध हुआ. वह वस्तु-रूप ही है। अतः यहाँ भी 'जीवन' पद में होने से उक्त ध्वनि पदगत ही है।

कुमुदिनि हिय प्रमुदित भई, साँझ कलानिधि जोय। **प्राचीन**

संध्यासमय चन्द्रमा को देखकर कुमुदिनी प्रसन्न हुई। यह वाच्यार्थ हुआ। इसमें 'कलानिधि' शब्द के श्लेष से कलाकुशल नायक को देखकर कुमुदिनी-रूपिणी वियोगिनी नायिका प्रसन्न हुई। यह वस्तु-रूप ध्वनि होती है।

२. वाक्यगत शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम वस्तुध्वनि

यह जो बन तरुण सु रुचिर,
पी पर पा कर पूर्ण। **प्राचीन**

यह उक्ति उस नायिका की है जिसके निकट ही उसका उपनायक खड़ा है और वह अपनी सखियों से कह रही है। यह पीपर, पाकर के वृक्षों से परिपूर्ण जो जंगल है वह कितना सुन्दर है! इस वाच्यार्थ के द्वारा सखियों ने इसका व्यंग्यार्थ समझा कि नायिका कह रही है कि विहार के लिये यह स्थान रमणीय और उपयुक्त है।

मगर बोद्धव्य की विभिन्नता से उस उपनायक ने इस पद्य के वाच्यार्थ से नायिका के कथन का यह व्यंग्यार्थ, जो नायिका का वास्तविक व्यंग्यार्थ था, समझा कि 'हे तरुण और सुन्दर पीपर (परपी =

पराये प्रियतम) तुम्हें 'पाकर' (प्राप्त कर) यह जीवन (हमारा यौवन) आज पूर्ण (परिपूर्ण) हो गया।

दूसरा व्यंग्यार्थ भी यहाँ वस्तुरूप ही है और वाच्यार्थबोध के बाद श्लिष्ट शब्दों की शक्ति द्वारा ही उसका बोध होता है। यहाँ व्यंग्यार्थ-बोध वाक्य के द्वारा हुआ है, किसी एक शब्द से नहीं। अतः यह वाक्यगत शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम का उदाहरण है।

बाल-बेलि सूखी सुखद, यहि रूखे रुख घाम।
फेरि डहडही कीजिये सुरस सींच घनश्याम॥

यहाँ भी 'घनश्याम' सुरस' 'बालवेलि' शब्दों के श्लेष से हे कृष्ण, अपने सरस स्नेह से मुरझाई हुई बाला को आप्यायित कीजिये, इस वाच्यार्थ द्वारा यह वस्तु ध्वनित होती है कि हे जलधर, सूखी नवल लता को पानी बरसा कर हरी-भरी कीजिये। यहाँ भी समस्त वाक्य द्वारा ही व्यंग्यार्थबोध होता है।

३. पदगत शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम अलंकारध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर किसी पद की शक्ति द्वारा अलङ्कार का व्यंग्यार्थरूप में बोध होता हो वहाँ उक्त ध्वनि होती है।

इस ध्वनि में व्यंग्यार्थरूप में आया अलङ्कार स्वयं अलङ्कार न रहकर अलङ्करणीय हो जाता है अर्थात् यह दूसरे का शोभाधायक न रहकर दूसरे से ही शोभित होता है। जैसे,

चढ़ मृत्यु-तरणि पर तूर्ण चरण
कह—पितः पूर्ण आलोक वरण
करती हूँ मै, यह नहीं मरण
'सरोज' का ज्योतिः शरण—तरण। **निराला**

'सरोज' नाम की लड़की ने क्षिप्र चरणों से मृत्यु की तरणि पर चढ़ कर और यह कहकर अपनी जीवन-लीला समाप्त की कि—हे पितः, मैं पूर्ण प्रकाश का ही वरण करती हूँ, मेरा यह मरण नहीं है। यह तो 'सरोज' का ज्योति में (प्रकाशमय ब्रह्म में) मिलना है—यह मेरा तरण है।

कविता की सूक्ष्म बारीकियों को न दिखाकर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उपर्युक्त वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर एक 'सरोज'

पद द्वारा यह व्यंग्यार्थ-बोध होता है कि—'सूर्य की किरणों से जीने वाला सरोज (कमल) उस जीवन देनेवाली महाकिरणों में मिल जाय तो उसका नाश—मरण नहीं कहना चाहिये। उसी तरह परब्रह्म से उद्भूत यह मेरा जीवात्मा आज उसी परम प्रकाशमय अपने ब्रह्म में मिल रहा है।' यहाँ व्यंग्यार्थ अपने वाच्यार्थ के द्वारा दृष्टान्तालंकार के रूप में परिणत होकर प्रतीत हो रहा है। इस दृष्टान्त अलङ्कार-ध्वनि का एकमात्र आविर्भावक शब्द है—सरोज। अतः यह पदगत शब्द-शक्ति-मूलक संलक्ष्यक्रम अलंकार-ध्वनि का उदाहरण है।

४—वाक्यगत शब्द-शक्ति-मूलक संलक्ष्यक्रम अलंकारध्वनि

चरन धरत चिंता करत भोर न भावे सोर।
सुबरन को ढूँढ़त फिरत कवि, व्यभिचारी, चोर॥ **प्राचीन**

इस पद्य के चरन, चिंता, भोर, सोर और सुबरन श्लिष्ट हैं और कवि, व्यभिचारी और चोर, इन तीनों के क्रियायुक्त होकर विशेषण होते हैं। जैसे, सुबरन का अर्थ कवि के पक्ष में सुन्दर वर्ण, व्यभिचारी के पक्ष में सुन्दर रंग और चोर के पक्ष में सोना, तीनों ढूँढ़ते रहते हैं। इससे एक दूसरे के समान होने के कारण उपमा अलङ्कार की ध्वनि निकलती है।

धरणी धारण के लिये तुम्ही आजकल शेष। **प्राचीन**

हे राजन् आजकल तुम्हीं पृथ्वी की रक्षा करने के लिये शेष रह गये हो। अर्थात्—सम्पूर्ण पृथ्वी के रक्षक तुम्हीं बच रहे हो।

इस वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर पृथ्वी के धारण करने के लिये तुम्हीं आजकल शेषनाग हो, यह भी एक अर्थ भासित होता है। यहाँ 'धरणीधारण', 'शेष' शब्द वाले सम्पूर्ण वाक्य से यह उपमा-ध्वनि होती है कि शेषनाग की तरह तुम्हीं इस कराल काल में भी पृथ्वी की रक्षा कर रहे हो।

जहाँ वारुणी की करी रंचक रुचि द्विजराज।
तहाँ कियो भगवंत बिन संपति शोभा साज॥ **प्राचीन**

जैसे ही चन्द्रमा ने पश्चिम (वारुणी) दिशा की ओर जाने का रुख किया वैसेही भगवान् सूर्य ने उसे वैभवहीन तथा शोभा-सज्जा-हीन बना दिया। इस प्रस्तुत वर्णनात्मक वाच्यार्थ से 'द्विजराज', 'भगवंत', 'वारुणी' आदि श्लिष्ट शब्दों से युक्त वाक्य के द्वारा अप्रस्तुत ब्राह्मण-विषयक

यह अर्थ भी ध्वनित होता है कि—द्विजराज (ब्राह्मण) ने ज्योंही वारुणी (मदिरा) पीने की इच्छा की त्योंही भगवान् ने उसकी मर्यादा तथा तेज का अपहरण कर लिया। यहाँ प्रकृत चन्द्रमा और अप्रकृत ब्राह्मण के एक धर्म में सन्निविष्ट होने से दीपकालंकार व्यंग्य है। वाच्यार्थ-बोध के अनन्तर अनुरणनात्मक रूप में श्लेषात्मक शब्दों के वाक्य द्वारा ही यह अलंकार व्यंग्य है।

शब्दशक्ति-उद्भव अलंकारध्वनि और श्लेषालंकार में यही अन्तर है कि पहले में वाच्यार्थ वस्तुरूप और व्यंग्यार्थ अलंकाररूप में रहता है। दूसरे में शब्दशक्ति द्वारा एक से अधिक अर्थ वाच्यार्थरूप में ही होते हैं. ध्वनिरूप में नहीं।

छब्बीसवीं किरण

२ *अर्थ-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि*

(स्वतःसंभवी)

जहाँ शब्द-परिवर्तन के बाद भी—अर्थात् उन शब्दों के पर्यायवाची शब्दों के द्वारा भी व्यंग्यार्थ का बोध होता रहे, वहाँ अर्थशक्ति-उद्भव ध्वनि होती है।

इसके मुख्य तीन भेद होते हैं—स्वतःसंभवी, कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध और कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध। इन तीनों भेदों मे कहीं वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ, दोनों ही वस्तुरूप में या अलंकाररूप में होते हैं और कहीं दोनों में एक वस्तुरूप में या अलंकाररूप में होता है। अतः प्रत्येक के (१) वस्तु से वस्तुध्वनि, (२) वस्तु से अलंकारध्वनि, (३) अलंकार से वस्तुध्वनि और (४) अलंकार से अलंकारध्वनि के भेद से चार-चार भेद होते हैं। पुनः ये चारो भी पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत के भेद से बारह-बारह हो जाते हैं।

१ पदगत स्वतःसंभवी अर्थमूलक वस्तु से वस्तुध्वनि

जो वर्णित विषय संभव हो, केवल कवि-कल्पित न हो वह स्वतः-संभवी है। अर्थात् जो काव्य के अतिरिक्त लोकव्यवहार में भी देखा जा सकता हो।

जहाँ पद से स्वतःसंभवी वस्तु के द्वारा वस्तुरूप व्यंग्य का बोध होता हो, वहाँ उपर्युक्त ध्वनि होती है। जैसे—

मान करत बरजति न हौ, उलटि दिवावति सौह।
करी रिसौंहीं, जाइगी सहज हँसौंहीं भौंह॥ **बिहारी**

यहाँ केवल 'हँसौंहीं' शब्द ही अपने स्वाभाविक अर्थ द्वारा नायिका की सुशीलता, प्रेमपरायणता, रसिकता आदि वस्तुरूप व्यंग्य सूचित करता है। यहाँ 'हँसौंहीं'—हँसनेवाला वस्तुरूप वाच्यार्थ में और उससे प्रतीत होनेवाली रसिकता आदि ध्वनि में कोई अलंकार नहीं है। भौंह का विशेषण 'हँसौंहीं'-कवि कल्पित नहीं, बल्कि व्यावहारिक और स्वाभाविक भी है। अतः इस हँसनेवाली स्वतःसंभवी वस्तु से नायिका की सुशीलता आदि वस्तुरूप व्यंग्य है। केवल 'हँसौंहीं' एक पद से इस वस्तुरूप ध्वनि की प्रतीति होती है। अतः उक्त ध्वनि का स्पष्ट उदाहरण है। यहाँ 'हँसौंहीं' शब्द ऐसा नहीं कि इसके पर्यायवाची शब्द देने पर उक्त व्यंग्य का बोध नहीं हो। अतः अर्थशक्तिमूलक है।

सुनि सुनि प्रीतम आलसी, धूर्त, सूम, धनवन्त।
नवल बाल हिय में हरख बाढ़त जात अनंत॥ **दास**

यहाँ जिन बातों को सुनकर नायिका के हृदय में अनन्त हर्ष होता है, वे सब बातें उक्त शब्दों के साधारण अर्थरूप में वस्तु हैं। नायिका अपने पति के 'आलसी' होने से इस वस्तुरूप व्यंग्यार्थ को समझती है कि वह कभी विदेश न जायगा और न कभी वियोग होगा। 'धूर्त्त' होने से यह वस्तु व्यञ्जित है कि वह कभी किसी के बहकाने में नहीं आयेगा। धनी होने पर भी 'सूम' है, इस वस्तु से वह इस वस्तुरूप व्यंग्यार्थ पर पहुँचती है कि हमें कभी धन का अभाव नहीं होगा। इन्हीं व्यंग्यार्थों के बोध से उसे अत्यन्त हर्ष होना समुचित है। इन सब जगहों में कहीं कोई अलंकार नहीं। केवल प्रत्येक पदगम्य वस्तु से व्यंग्य रूप में एक-एक वस्तु का बोध होता है। अतः यह भी पदगत अर्थशक्तिमूलक का ही उदाहरण है। यहाँ भी शब्दों की शक्ति से उक्त व्यंग्य नहीं निकलते; बल्कि अर्थशक्ति के कारण ही। ये सब बातें स्वतः संभवी भी हैं।

२–वाक्यगत स्वतःसंभवी अर्थमूलक वस्तु से वस्तुध्वनि

कोटि मनोज लजावन हारे, सुमुखि ! कहहु को अहहि तुम्हारे।
सुनि सनेहमय मंजुल बानी, सकुचि सीय मन महँ मुसकानी॥ **तुलसी**

ग्राम-वधुओं के प्रश्न को सुनकर 'सीता का संकोच करना और अन्दर ही अन्दर मुसकाना, इस वाक्यगत वाच्यार्थ द्वारा 'रामचन्द्र' का पति होना व्यंजित है। पति-बोध का व्यंग्य किसी एक पद द्वारा नहीं होता, बल्कि 'सकुचि सीय मन महँ मुसकानी' इस वाक्य के अर्थ द्वारा। वाच्य और व्यंग्य दोनों निरलंकार हैं और वाच्य स्वतः संभवी है। अतः यह उदाहरण वस्तु से वस्तुव्यंग्य का है।

नित प्रति एकत ही रहत बैस बरन मन एक।
चहियत जुगल किसोर लखि लोचन जुगल अनेक॥ **बिहारी**

राधा, कृष्ण, दोनों सदा एक साथ रहते हैं। दोनों की अवस्था रूप, रंग और मन एक से हैं। ऐसी युगल जोड़ी को देखने के लिये आँखों के असंख्य जोड़े चाहियें।

इस वर्णन रूप वस्तु से जो सौन्दर्यातिशय ध्वनित होता है वह दोहे के उत्तरार्द्ध के संपूर्ण वाक्य से है। यहाँ शोभाधिक्य के व्यंजक केवल 'अनेक' शब्द को ही मानें तो यह पदगत का भी उदाहरण हो जायगा।

३ प्रबन्धगत स्वतःसंभवी अर्थमूलक वस्तु से वस्तु ध्वनि

थूके, मुझपर त्रैलोक्य भले ही थूके। जो कोई कुछ कह सके, कहे, क्यों चूके?
छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझसे। हे राम, दुहाई करूँ आज क्या तुझसे!
कहते आते थे यही अभी नर देही। माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही।
अब कहे सभी यह हाय! विरुद्ध विधाता। हे पुत्र पुत्र ही रहे कुमाता माता।

साकेत में अनुतप्ता कैकयी की ये उक्तियाँ हैं

यहाँ प्रबन्धगत जो वाच्यार्थ है, वह वस्तुरूप है। इससे यह वस्तु-रूप व्यंग्य निकलता है कि मैंने जो कुछ किया वह पुत्र की हितकामना से किया, अपना कर्तव्य समझ कर किया। लोकनिन्दा की मुझे परवाह नहीं। यदि परवाह है तो इसकी ही की भरत की माता बनी रहूँ। सो बनी ही रहूँगी, क्योंकि मेरे मातृपद को कोई छीन नहीं सकता। यह भरत की नासमझी है जो मुझे कुमाता समझता है। अच्छा, वह पाक-साफ बना रहे। मैं कुमाता ही सही। इसमें कोई बात कवि-कल्पित नहीं, स्वतःसंभवी है।

४ पदगत स्वतःसंभवी अर्थमूलक वस्तु से अलंकार-ध्वनि

मनसा बाचा कर्मना करि कान्हर से प्रीति।
पारबती सीता सती रीति लई तुम जीति ॥ **दास**

अर्थ स्पष्ट है। 'कान्हर' से प्रीति करना बड़ा काम है। जो उनसे न हुआ वह तुमने किया। यह व्यतिरेक आलंबन के चुनाव में ही है. अतः 'कान्हर' पद बड़ा सजीव व्यंजक है। उसीसे व्यतिरेकालङ्कार ध्वनित है।

तुअ वल्लभ अधरा रह्यो मलिन कमल दल प्रात।
नवल बधू सुनिकै कियो नमित बदन जल जात ॥ **अनुवाद**

एक सखी नवोढ़ा नायिका से कहती है कि प्रातःकाल तेरे पति का अधर मुरझाये कमल-दल सा होगया था। यह सुनकर नवोढ़ा नायिका ने लज्जा से अपना मुख-कमल नीचा कर लिया।

यहाँ मलिन कमल-दल के रूपकालङ्कार द्वारा जो यह अर्थ प्रकट होता है कि तुमने अपने पति का बारंबार इस प्रकार से अधर चूमा कि वह मलिन होगया, उससे 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार ध्वनित होता है।

५ वाक्यगत स्वतःसंभवी अर्थशक्तिमूलक वस्तु से अलङ्कारध्वनि

बलि बोई कीरति लता कर्ण करी द्वै पात।
सींची मान महीपजू जब देखी कुम्हिलात ॥ **प्राचीन**

बलि ने कीर्तिलता का वपन किया और कर्ण ने उसमें दो पत्र लगा दिये। उस कीर्तिलता को मान महीप ने जब कुम्हलाती देखा तब सींच कर हरी-भरी कर दिया। इन तीनों की दानशीलता एक समान सुप्रसिद्ध है। अतः यहाँ उपमालङ्कार ध्वनित होता है जो वाक्य से है।

लिख पढ़ पद पायो बड़ो, भयो भोग लवलीन।
जग जस बाढ्यो तो कहा, जो न देस-रति कीन ॥ **प्राचीन**

इस दोहे में 'पद पाना' आदि वस्तुरूप वाच्यार्थ द्वारा इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है कि देश-भक्ति के विना ये सब उन्नतियाँ व्यर्थ हैं। इसलिये यहाँ वाक्य द्वारा वस्तुरूप से 'विनोक्ति' अलंकार व्यंग्य है।

इसी तरह 'मन ना रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा' आदि पंक्तियों में भी यही "विनोक्ति" अलंकार वस्तु से व्यंग्य है। यहाँ भी यही व्यक्त होता है कि मन के रँगाये बिना कपड़े आदि को रँगाना वाह्याडम्बरों की रचना व्यर्थ है। यहाँ वाक्य से अलङ्कार-ध्वनि है।

सखि, तेरे प्यारो भलो दिन न्यारो ह्वै जात।
मोते नहिं बलवीर को पल बिलगाव सोहात ॥ **दास**

यहाँ स्वतःसंभवी वाच्यार्थ से 'मैं तुमसे अधिक भाग्यशालिनी हूँ। क्योंकि मेरा पति तुम्हारे पति से अधिक प्रेमी है' यह 'व्यतिरेकालंकार' ध्वनित होता है। यहाँ भी वाक्यगत वस्तुरूप से अलंकार-ध्वनि है।

उक्त 'नित प्रति एकत ही रहत' दोहे की वर्णित वस्तु से 'सम' अलंकार की ध्वनि है। क्योंकि यथायोग्य का संग है। और, उत्तरार्द्ध की वर्णित वस्तु से 'विशेषोक्ति' अलंकार की ध्वनि है। क्योंकि नेत्रयुगल कारण से युगल मूर्ति का दर्शन संभव नहीं। उभयत्र वाक्यों द्वारा अलङ्कारों की ध्वनि है।

६—प्रबन्धगत स्वतःसंभवी अर्थशक्तिमूलक वस्तु से अलंकारध्वनि

रहिये-रहिये उचित नहीं उत्थान यह
देते हैं श्रीमान किसे बहुमान यह।
मैं अनुगत हूँ, भूल पड़े कहिये कहाँ?
अपना मृगयावास समझ रहिये यहाँ।
कुशलमूल इस मधुर हास पर भूल सब,
वारूँ मैं निज नील-विपिन के फूल सब।
सहसा ऐसे अतिथि मिलेंगे कब किसे,
क्यों न कहूँ मैं अहो-भाग्य अपना इसे।
पाकर यह आनन्द-सम्मिलन-लीनता
भूल रही है आज मुझे निज हीनता॥ **साकेत**

बन में राम का आगमन सुनकर निषाद बहुत-सी भेंट लेकर मिलने आया। उसके आते ही मर्यादापुरुषोत्तम राम ने स्वयं उठकर उसका सम्मान किया। इसी पर निषाद की उपर्युक्त उक्ति है। भगवन् आप क्या कर रहे हैं? आप किसको इतना सम्मान दे रहे हैं? मैं तो आपका अनुगत हूँ। आपके समान अतिथि मुझे कब मिलेंगे? मैं इसे अपना अहोभाग्य क्यों न मानूँ। आपके आगमन से जो आनन्द हुआ है उससे मैं अपनी तुच्छता को आज भूल रहा हूँ। यह स्वतःसंभवी वस्तु-रूप वाच्यार्थ है। इस वस्तुरूप वाच्यार्थ से यहाँ 'विषमालंकार' व्यंग्य है। कहाँ राम की वह महत्ता और कहाँ निषाद की यह तुच्छता! सम्पूर्ण प्रबन्ध से निषाद अपना यही भाव व्यक्त कर रहा है कि आप जैसे महान् और मुझ जैसे तुच्छ का सम्मिलन नितान्त विषम है। यहाँ कहीं भी शब्दतः या वाक्यतः विषमालंकार प्रकट नहीं है। अतः प्रबन्धगत है।

७ पदगत स्वतःसंभवी अर्थशक्तिमूलक अलंकार से वस्तु ध्वनि

किस तापस की तपती हो तुम कन्या ?
मदनभस्म से रचित कौन हो धन्या ?
होम-शिखा-सम उजली कौन अनन्या ! **इलाचन्द्र जोशी**

यह पद्य वाणभट्टरचित गद्य-काव्य 'कादम्बरी' की एक नायिका 'महाश्वेता' शीर्षक कविता का है। यहाँ 'होमशिखासम' पदगत जो 'महाश्वेता' की उपमा है, उससे अग्नि-परितप्त-विशुद्धता, तेजोमयता, पवित्रता, आदि वस्तु-रूप व्यंग्य है। इसलिये यह पदगत अलंकार से वस्तुध्वनि का उदाहरण है।

लें चम्पक को फूल कर पिय दीन्हों मुसुकाय।
समुझि सुघरि मन में दियो किंसुक फूल चलाय ॥ **प्राचीन**

पति ने मुस्कुराकर अपनी पत्नी को चंपा का फूल दिया —अर्थात् उसने फूल देकर यह प्रकट किया कि तुम्हारा रुष्ट होना उचित नहीं है। क्योंकि भौंरा जिस तरह चम्पा के फूल के पास नहीं जाता, उसी तरह मैं किसी अन्य नायिका के पास कभी नहीं जाता। इस गूढ़ आशय को नायिका ने समझ कर पलाश का फूल उसपर फेंक दिया— अर्थात् नायिका ने भी यह आशय प्रकट किया कि तुम्हारी लाल-लाल आँखें ही इस बात का साक्ष्य दे रही हैं कि तुम कहीं अन्यत्र रात में अवश्य रमण करके आये हो, निर्दोष नहीं हो। यह वस्तुरूप व्यंग्य यहाँ 'सूक्ष्मालंकार' से ही निकलता है और 'चंपकफूल' तथा 'पलाशफूल' से ही। अतः पदगत अलंकार से वस्तुरूप व्यंग्य का यह उदाहरण है। ऐसी घटना स्वाभाविक तथा व्यावहारिक है—कोरी कवि-कल्पित नहीं। अतः स्वतःसंभवी और अर्थमूलक भी है।

८ वाक्यगत स्वतःसंभवी अर्थशक्तिमूलक अलंकार से वस्तु व्यंग्य

७ प्रिय, तुम भूले मैं क्या गाऊँ !
जुही-सुरभि की एक लहर से निशा बह गयी, डूबे तारे।
अश्रु-बिन्दु में डूब-डूबकर दृग-तारे ये कभी न हारे ॥

रामकुमार वर्मा

इस पद्य में 'व्यतिरेक' अलंकार है। क्योंकि, उपमानभूत आकाश के तारों से दृग के उपमेयभूत तारों में विशेष गुण का कथन है। इस अलंकार से यहाँ आराधक की वियोग-दशा तथा प्रेम की अति-

शयता रूप वस्तु ध्वनित होती है। यह अलंकार-जन्य वस्तु-ध्वनन किसी एक पद द्वारा नहीं, बल्कि समूचे वाक्य द्वारा होता है। साथ ही आँसुओं में निरन्तर डूबते रहना और कभी हारना नहीं, यह स्वाभाविक तथा लौकिक है। इसी तरह यहाँ वस्तुध्वनन 'अर्थ-शक्ति' से ही होता है, न कि शब्दशक्ति से। अतः उपर्युक्त भेद का यह उदाहरण हुआ।

ज्ञान-योग से हमे हमारा यही वियोग भला है।
जिसमें आकृति, प्रकृति, रूप, गुण, नाट्य, कवित्व, कला है॥ **गुप्तजी**

यहाँ इन पंक्तियों में अनेक गुणों के कारण वियोग को ज्ञान-योग से कवि ने श्रेष्ठ बतलाया है। अतः यहाँ भी व्यतिरेकालंकार है। इस अलंकार से वियोग की मनोरमता और सरसता तथा योग की शुष्कता वस्तु व्यंजित होती है। अतः यहाँ भी अलंकार से वस्तु व्यंग्य है।

झर पड़ता जीवन-डाली से मै पतझड़ का-सा जीर्ण पात।
केवल-केवल जग-आँगन में लाने फिर से मधु का प्रभात॥ **पन्त**

यहाँ उपमा और रूपक की संसृष्टि द्वारा 'मरण नव जीवन लाता है; क्योंकि पुनर्जन्म निश्चित है।' यह वस्तुरूप व्यंग्य वाक्य से निकलता है। अतः यहाँ भी वाक्यगत अलंकार से वस्तुध्वनि है।

९ प्रबन्धगत, स्वतःसंभवी, अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार से वस्तुव्यंग्य

बोली वह—'किन्तु क्या यही है धर्म?
पीड़ितों का पीड़न यही है कर्म?
राक्षसो के गेह रही बद्ध श्रीजनकजा,
तौ भी नहीं राम ने उसे तजा'।
उत्तर मिला कि—'आदि शक्ति' जानकी थीं आप,
कैसे उन्हें छूता पाप?
आग में भी आँच उन्हें नेक नहीं आई थी;
वह्नि ने विशुद्धता बताई थी'।
सहसा सुभद्रा के प्रदीप्त नेत्र जल के
हो गये प्रपूरित अनल से!
सजला घटा में उठी विद्युदग्नि एक संग,
करके तिमिर-भंग!
देख सके किन्तु न वे स्पष्ट उस अग्नि ओर,
दोषी चोर—

तुल्य निज नेत्र नत करके !
बोली वह वाणी में ज्वलन्त रोष भरके—
अच्छी बात ! वैसी ही परीक्षा अभी दूँगी मैं,
पीछे नहीं हूँगी मै,—
मुझ पर जैसा क्रूर तुमने प्रहार किया,
नारकियों ने भी नहीं वैसा घोर वार किया !

सियारामशरणजी के इतिवृत्तात्मक 'अग्निपरीक्षा' नामक काव्य का यह एक अंश है। इसमें दृष्टान्तालङ्कार है। इससे सुभद्रा की सहिष्णुता, तेजस्विता और सतीत्व ध्वनित होते हैं जो स्वतः-संभवी और वस्तुरूप हैं।

१० पदगत स्वतःसंभवी अर्थशक्तिमूलक अलंकार से अलंकारव्यंग्य

सब अँग करि राखी सुघर नायक नेह सिखाय।
रसजुत लेति अनन्त गति पुतरी पातुरराय ॥ **बिहारी**

नायक (नृत्यशिक्षक) नेह ने सिखा-पढ़ाकर सब अङ्गों को नृत्यकला-निपुण कर दिया है। इसीसे पतुरियों की सरदार पुतरी सरस अनन्त गतियाँ ले रही है, चंचल चालें दिखा रही है, थिरक रही है।

यहाँ पुतरी-पातुरराय में रूपकालङ्कार है। अर्थ है पातुरराय रूपी पुतली। इससे उपमा अलङ्कार की यह ध्वनि आती है कि उत्तम कोटि की वाराङ्गना जैसे सरस गति से थिरकती है, नाचती है, वैसे ही नायिका के नेत्र की पुतली भी रस में सराबोर हुई नाच रही है, थिरक रही है।

इसमें 'पुतरी-पातुरराय' पद के अलङ्कार से ही अलङ्कार व्यंग्य है और नेहभरी पुतली तथा पतुरिया का नाचना स्वतःसंभवी है। इससे यह उपर्युक्त भेद का उदाहरण हुआ।

दमकत दरपन-दरप दरि दीप-सिखा-दुतिं देह।
वह दृढ़ इक दिसि दिपत, यह मृदु दस दिसनि, सनेह ॥ **दु. ला. भार्गव**

दर्पण का दर्प दूर करके दीप-शिखा-द्युति वाली देह दमकती है अर्थात् दीप्ति फैला रही है। वह कठोर दर्पण एक दिशा में ही चमकता है, पर यह कोमल शरीर दूसरी दिशाओं में भी चमकता है। यहाँ 'दीप-सिखादुति' में उपमालङ्कार है और यही उत्तरार्द्ध में आये हुए व्यतिरेकालङ्कार का द्योतक है। क्योंकि द्युति को दीप-शिखा के औपम्य से न

बाँधा जाता तो दर्पण से इसमें विशेषता न आती और न व्यतिरेक को प्रश्रय मिलता।

११ वाक्यगत स्वतःसंभवी अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार से अलङ्कारव्यंग्य

देह दुलहिया की बढ़ै ज्यों ज्यों जोबन जोति।
त्यों त्यों लखि सौतैं सबै बदन मलिन दुति होति॥ **बिहारी**

इसमें एक के गुण से दूसरे का दोष दिखलाया गया है। क्योंकि दुलहिन की यौवनज्योति के बढ़ने से सौतों का मलिन-मुख होना वर्णित है। इससे 'उल्लास' अलंकार है। इससे विभावना अलंकार ध्वनित है। क्योंकि अकारण 'जोवन-जोति' से 'मलिन-दुति' कार्य की उत्पत्ति है अथवा ज्योति-रूप विरुद्ध कारण से मलिन्य-रूप कार्य वर्णित है।

यहाँ संपूर्ण वाक्य से अलंकार व्यंग्य है और नवयौवना सौत की सौन्दर्यवृद्धि से पुरानी सौतों का मुख मलिन होना भी स्वतःसंभवी है।

मोहन चखु पुतरीन में कीन्हो अचल निबास।
कढ़त न बलि उपचार हू मिल्यो रंग सबिलास॥ **प्राचीन**

मोहन आँखों की पुतलियों में निश्चल रूप से बस गये हैं। किसी उपाय से बाहर नहीं कढ़ते। सुन्दर ढंग से दोनों का रंग मिल गया है।

तीसरे चरण में विशेषोक्ति है। क्योंकि किसी प्रकार न कढ़ने की विशेषता कही गयी है। यहाँ सम अलंकार से मीलित अलंकार ध्वनित होता है। क्योंकि काले कृष्ण और काली पुतली की समता है और एक रंग का उसी रंग में मिल जाना मीलन है। अतः यहाँ वाक्यगत अलङ्कार से अलङ्कार व्यंग्य है।

१२ प्रबन्धगत स्वतःसंभवी अर्थशक्तिमूलक अलंकार से अलंकार ध्वनि

शिशु ने दुनिया में आकर रो-रोकर हँसना सीखा,
लघु होकर बढ़ना सीखा गिर-गिर कर चलना सीखा।
वीरों ने इस वसुधा में मर-मर कर जीना सीखा,
प्रेमी ने आँसू पी-पी अधरामृत पीना सीखा॥
कितने ही चक्कर खाकर चंगों ने चढ़ना सीखा,
भूखे-प्यासे रह-रहकर विहगों ने उड़ना सीखा।
उर छेद-छेद कर अपना मुरली ने गाना सीखा,
मिट-मिट कर वारिधरों ने पानी बरसाना सीखा॥

गोपालशरणसिंह

उपर्युक्त पद्यों में सर्वत्र विरोध अलंकार है। यह अलंकार प्रबन्ध भर में है। इस विरोध से यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार व्यंग्य है। स्वभावोक्ति के व्यंग्यबोध से विरोध का परिहार होता है। स्वभावोक्ति होने के कारण ही स्वतःसंभवी भी है। इसलिये यहाँ अलंकार से अलंकार ध्वनित है।

सत्ताइसवीं किरण

(कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र-सिद्ध)

१—पदगत कवि-प्रौढोक्ति-मात्र सिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि

जो वस्तु केवल कवियों की कल्पना-मात्र से ही सिद्ध होती हो, व्यावहारिक रूप से उसकी प्रत्यक्ष सिद्धि न हो, उसीको कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र-सिद्ध कहते हैं। जैसे. कामदेव के फूलों का बाण होना, यश का उज्ज्वल होना, कलंक को काला तथा राग को लाल मानना, विरह से जलना, मधु का सागर लहराना आदि।

इनके भी स्वतःसंभवी के समान प्रागुक्तानुसार बारह भेद होते हैं।

जाता मिलिन्द देकर अन्तिम अधीर चुम्बन लोहितनयन कुसुम को।
क्रन्दनविनीत कातर आरक्त पद्मलोचन सखि कौन शोक तुमको॥ **आरसी**

यहाँ लोहितनयन (लाल नेत्र वाला) यह विशेषण वस्तुरूप पद है और कवि-प्रौढ़ोक्तिमात्र-सिद्ध है। क्योंकि 'लोहितनयन' फूल नहीं हो सकता। अतः यहाँ कविकल्पित वस्तुरूप पद 'लोहितनयन' से विकसित फूल की वियोग दशा ध्वनित होती है। वियोग काल में रोने के कारण नेत्रों का लाल होना स्वाभाविक है। अतः यहाँ कविप्रौढ़ोक्ति-मात्र-सिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि है।

कचभार कुचभार, सहज सकुचभार
लचकि लचकि जात कटितट बाल के। **केशव**

'सकुच-भार'—संकोच के बोझ से बाला के कटितट का लचकना रूप वस्तु से नायिका की शालीनता तथा कुलीनता रूप वस्तु की ध्वनि होती है। संकोच के भार से कटिप्रदेश का लचकना कवि-प्रौढोक्ति-मात्र-सिद्ध है। उक्त वस्तु व्यङ्ग्य केवल 'सकुच-भार' पद से

ही है। कच और कुच के भार से नायिका के सौन्दर्य और सौकुमार्य की अतिशयता भी व्यंग्य है।

२—वाक्यगत कवि-प्रौढोक्ति-मात्र-सिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि

मै जीवन में कुछ कर न सका
अपनी ही आग बुझा लेता
तो जी को धैर्य बँधा देता।
मधु का सागर लहराता था, लघु प्याला भी मै भर न सका।
मै जीवन में कुछ कर न सका। **बच्चन**

यहाँ मधु का सागर लहराना (अपार सुख-राशि का भरा रहना) और उसमें अपना छोटा-सा प्याला भी न भरना (सुख-राशि से थोड़ी भी सामग्री अपने उपभोग में न लाना) आदि कवि-प्रौढोक्ति-मात्र-सिद्ध वस्तु है। इस वस्तुरूप क्रिया से अपनी अकर्मण्यता के ऊपर ग्लानि का अनुभव भी वस्तुरूप व्यंग्य है। मगर जो वस्तुरूप ग्लानि यहाँ व्यंजित है, वह किसी एक पद द्वारा नहीं, पूर्ण वाक्य द्वारा। अत: यह उदाहरण वाक्यगत वस्तु से वस्तुध्वनि का है।

सिय-वियोग-दुख केहि बिघि कहउँ बखानि।
फूल बान ते मनसिज बेधत आनि॥
सरद - चाँदनी सँचरत चहुँ दिसि आनि।
बिधुहि जोरि कर बिनवत कुल गुरु जानि॥ **तुलसी**

यहाँ कामदेव का अपने फूल के बाणों से सीता को बेधना; शरद-चाँदनी का चारों दिशाओं में फैलकर जलाना और चन्द्रमा को कुलगुरु मानकर सीता का प्रार्थना करना आदि कवि-प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु है। मगर इन्हीं कवि-कल्पित वस्तुओं से सीता की वियोग-दशा तथा प्रेमाधिक्य वस्तु ध्वनित होती है जो वाक्य से है। इसलिये यह वाक्यगत वस्तु से वस्तुध्वनि का उदाहरण हुआ।

करत प्रदच्छिन बाड़वहि आवत दच्छिन पौन।
बिरहिन बपु बारत बरहि बरजनवारो कौन॥ **दास**

दक्खिनी वायु बड़वानल की प्रदक्षिणा करती आ रही है और बिरहिणी नायिका के शरीर को जला रही है। इसे मना करनेवाला कोई नहीं है? विरहाधिक्य से विरहिणी को मलयानिल भी बड़वानल सी दाहक प्रतीत होती है। यह कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध वाक्य है। इस

वाक्यगत वस्तु से यह वस्तु ध्वनित होती है कि तुम्हारे वियोग में वह नायिका विरह-ज्वाला से झुलस सी रही है। इस वसन्त में विरहानल से सन्तप्त होती हुई नायिका से क्यों नहीं मिलते ? यहाँ भी वाक्यगत वस्तु से वस्तु ध्वनि है।

३ प्रबन्धगत कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि

तन में ताकत हो तो आओ
पथ पर पड़ी हुई चट्टानें,
ढहता है वीरों की आनें,
पहले सी अब कठिन कहाँ हैं—ठोकर एक लगाओ।
तन में ताकत हो तो आओ।
राह रोक है खड़ा हिमालय,
यदि तुममें दम, यदि तुम निर्भय,
खिसक जायगा कुछ निश्चय है—घूँसा एक लगाओ।
तन में ताकत हो तो आओ।
रस की कमी नहीं है जग में,
बहता नहीं मिलेगा मग में,
लोहे के पंजे से जीवन की यह लता दबाओ।
तन में ताकत हो तो आओ॥ **बच्चन**

कठोर तपस्वियों के लिये संसार में कुछ भी असंभव नहीं, यह वस्तु वर्णित वस्तु से ध्वनित होती है।

४ पदगत कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से अलङ्कार व्यंग्य

बास चहत हर सयन हरि तापस चाहत न्हान।
जस लखि श्री रघुबीर को जग अभिलाषावान॥ **प्राचीन**

यश को स्वच्छ—उज्ज्वल बताना कविप्रौढोक्ति है। यश को देखकर शिव उसे कैलास समझते हैं और वहाँ बसना चाहते हैं। विष्णु उसे क्षीरसागर समझ उसमें सोना चाहते हैं और तपस्वी गंगा जानकर उसमें स्नान करना चाहते हैं। श्रीरघुवीर के यश को देखकर संसार इसी प्रकार की अभिलाषायें करता है। इस वर्णनीय वस्तु से भ्रांति अलंकार की ध्वनि होती है। यहाँ यश ही एक ऐसा पद है जो इस ध्वनि का व्यञ्जक है। अतः उक्त भेद का यह पदगत उदाहरण हुआ।

५—वाक्यगत कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य

परमपुरुष के परम दृग दोनों एजु
भनत पुरान बेद बानी औ पढ़ गई।
कवि 'मतिराम' द्योसपति ये निसापति ये
काहू की निकाई कहूँ नैक न बढ़ गई॥
सूरज के सुतन करन महादानी भयो
वाही के विचार मति चिन्ता में मढ़ गई।
तोहि पाट बैठत कमाऊँ के उद्योतचन्द्र।
चन्द्रमा की करज करेजे सो कढ़ गई॥

शास्त्रों मे यह उक्त है कि सूर्य-चन्द्र दोनो विराट् रूप परमात्मा के नेत्र हैं। दोनो मे किसी प्रकार की न्यूनता नही। किन्तु सूर्य के महादानी पुत्र कर्ण के होने से चन्द्रमा को इस बात की कसक थी कि वे एक बात में बढ़ गये। पर कमाऊँ के उद्योतचन्द्र, चन्द्रवंशी आपके सिंहासनारूढ़ होने से चन्द्रमा की वह कसक भी मिट गयी।

यहाँ कर्ण के समान उद्योतचन्द्र के भी महादानी होने की उपमा ध्वनि से ही प्रकट होती है।

निज गुमान को मान दै धीरज किय हिय थापु।
सु तो स्याम छबि देखतहिं पहिले भाग्यो आपु॥ **दास**

मानिनी नायिका के मान करने पर नायिका को मनाने के लिये नायक जाता है, यह कवि-प्रौढ़ोक्ति है। नायिका हृदय में गुमान किये बैठी तो रही पर श्याम की सुन्दर छवि देखते ही विना मनाये ही मान गयी। इस वस्तु से विभावना अलङ्कार की ध्वनि है। क्योंकि विना कारण के कार्य होना वर्णित है। यहाँ वाक्यगत वस्तु से अलङ्कार-ध्वनि है। सखि की उक्ति होने से कवि-निबद्ध-पात्रा-की प्रौढोक्ति का उदाहरण हो जायगा।

हम खूब तरह से जान गये जैसा आनँद का कंद किया,
नव रूप सील गुन तेज पुंज तेरे ही तन में बंद किया।
तुम हुस्न प्रभा की बाकी लै फिर विधि ने यह फरफंद किया,
चम्पक दल सोनजुही नरगिस चामीकर चपला मंद किया।

सीतलसहाय दास महंथ

इसमें चम्पकदल आदि की अपेक्षा अंगों का सौन्दर्याधिक्य सूचित ाता है। अतः वर्णित वस्तु से व्यतिरेकालङ्कार ध्वनित है। नायिका की प-रचना से बची सामग्री द्वारा चम्पकदल आदि की रचना की उक्ति वि-प्रौढोक्ति-मात्र-सिद्ध है।

६ प्रबन्धगत कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से अलङ्कार व्यंग्य

कैसे कोमल कुसुम प्रेम का रहे स्वर्ण की झोली में ?
कैसे सहूँ भार वैभव का प्रियतम की मृदु बोली में ?
कैसे आज भिखारिन 'राधा' महलों का देखे सपना ?
सोते हो सुवर्ण-शय्या पर, कैसे तुम्हें कहूँ अपना ?
वेश बना धनहीन कृषक का, सरल श्रमिक से प्रेमी बन,
महलों का वैभव ठुकराकर, नंगे पावों जीवन-धन,
मेरी जीर्ण कुटी तक आवो अधरों पर मुरली साधे;
मैं कह दूँ मेरे 'मनमोहन' तुम कह दो मेरी 'राधे'! **मिलिन्द**

अर्थ स्पष्ट है। प्रबन्धगत वर्णित वस्तु से विषम अलङ्कार की ध्वनि । इसमें 'स्वर्ण की झोली' 'भिखारिन राधा' 'सुवर्ण-शय्या' 'कृष्ण का ो पावों आना' राधा की 'कुटी का जीर्ण' होना आदि वर्णन कवि-ढ़ोक्ति-सिद्ध है। अनमिल वस्तुओं के वर्णन से विषम है।

७—पदगत कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकार से वस्तु ध्वनि

सकल शास्त्र-संयुक्त आपकी उक्ति सही है।
सरस सरल है कहीं, कठिन भी कहीं-कहीं है॥
अद्भुत है श्रीहर्ष आपकी वर्णन-शैली।
वसुधा पर कलकीर्त्ति-चन्द्रिका-सी है फैली॥
पर चम्पक-कलिका—तुल्य है, अज्ञ रसिक अलि के लिये।
पर कण्ठ-लग्न रस मधु वही बुध-रसिकावलि के लिये॥

रामचरित उपाध्याय

भौंरा चंपक के फूल के पास नहीं जाता, यह कवि-प्रौढोक्तिमात्र-द्ध वस्तु है। भ्रमर जैसे चम्पककलिका के पास नहीं जाता वैसे ंपककलिका के समान जो सर्वांगसुन्दर कविता रसिकों का कंठहार वही अज्ञ साहित्यिकों के लिये बेकार है। 'चम्पक-कलिका-तुल्य' उपमालंकार है। यहाँ इस अलंकार के द्वारा यह वस्तु ध्वनित होती कि सहृदय ही कविता के सहज मर्मज्ञ हैं। यह वस्तुध्वनि 'चम्पक-

कलिका-तुल्य' पद से ही है। अतः यहाँ पदगत कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तु ध्वनि है।

खड़ी चन्द्र बिलोकति चौतरे पै भट्ट भौंह-कमान चढ़ाय रही ॥

इसमें भौंह को कमान बनाना कवि-प्रौढोक्ति है। यहाँ भौंह-कमान में रूपकालंकार है। इस रूपक द्वारा नायिका का सौंदर्य तथा गर्वरूप वस्तु ध्वनित होती है। इसलिये पदगत अलंकार से यह वस्तु ध्वनि है।

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीपशिखा सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन,
दलित भारत की ही विधवा है। **निराला**

इस पद्य में अनेक उपमायें हैं। सभी एक-पदगत या अनेक-पदगत हैं। प्रत्येक पदगत उपमा से पृथक् पृथक् भारतीय विधवा की पवित्रता, तेजस्विता, दयनीय दशा तथा असहायावस्था रूप वस्तु की ध्वनि होती है।

८ वाक्यगत कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकार से वस्तु व्यंग्य

रामनाम मणि-दीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरो जो चाहसि उजियार ॥ **तुलसी**

यहाँ 'राम-नाम-मणि-दीप' और 'जीह-देहरी' में रूपकालंकार है। इस अलंकार से यह वस्तु ध्वनित होती है कि लौकिक और पार-लौकिक—बाह्य और आभ्यन्तर ज्ञान के लिये रामनाम जपना अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ वाक्यगत ध्वनि है।

"सियमुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह निसि दिन यह विगसाइ ॥ **तुलसी**

सीता के मुख की उपमा शरत्कालीन कमल से कैसे दी जाय। क्योंकि वह तो केवल दिन में ही खिलता है; पर सीता का मुख रात-दिन विकसित रहता है। यह वाच्यार्थ कवि-प्रौढोक्तिमात्र-सिद्ध है। यहाँ उपमान से उपमेय में अधिक गुण बतलाने के कारण 'व्यतिरेक' अलंकार है और इस वाक्यगत व्यतिरेकालंकार से 'सीता के मुख का अतिशय सौन्दर्य तथा सौकुमार्य' वस्तु व्यंग्य है।

आनन है अरबिन्द न फूले, अलीगन भूले कहाँ मड़रात हौ ?
कीर तुम्हें कहाँ बायु लगी, भ्रम बिंब से ओठन को ललचात हौ ?

'दास' जू ब्याली न, बेनी रची तुम पापी कलापी! कहा इतरात हौ ?
बोलती बाल, न बाजती बीन कहा सिगरे मृग घेरत जात हौ।

कविता का अर्थ स्पष्ट है। सच्ची बात कह कर भ्रम को दूर करने से यहाँ निश्चय अलङ्कार है। इससे नायिका के सौन्दर्यातिशय वस्तु की ध्वनि है।

प्रबन्धगत कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध अलङ्कार से वस्तु व्यंग्य

राजसूय यज्ञ

राजसूय यह यज्ञ विभीषण!
संसृति के विशाल मण्डप में यह भीषण विराट आयोजन
समिधि बने हैं, आज राष्ट्र ये हिंसा का जल रहा हुताशन!
वसुन्धरा की महावेदिका धधक उठी है हवनकुंड बन!
पहन प्रौढ़ दुर्भेद्य लौह के वसन रक्तरंजित दानवगण!
मानव के शोणित का घृत ले नरमुण्डों के ले अक्षतकण!
विध्वंसों पर अट्टहास भर-भर कर-कर स्वाहा उच्चारण!
होम कर रहे लक्ष करों में लिये स्रुवा शस्त्रों के भीषण!
करता है साम्राज्यवाद का विजयघोष अम्बर में गर्जन!
तुमुल नादकारी विस्फोटक करते साममन्त्र का गायन!
आग्नेयों का धूम पुञ्ज कर रहा निरन्तर गगन-विकम्पन!
अवभृथ इन्हें कराने आये क्यों न प्रलय ही सिन्धुलहर बन!
राजसूय यह यज्ञ विभीषण! **मिलिन्द**

इस प्रबन्ध के साङ्गरूपक अलङ्कार से विश्वव्यापी महायुद्ध की भीषणता और योद्धाओं की तन्मयता वस्तु ध्वनित होती है।

१० पदगत कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य

मेघमाल करवाल की जलधारा जु घनीन।
बुझयो जँसवत देव ने अग्नि प्रताप अरीन॥ **प्राचीन**

जसवन्त देव ने मेघमाला-रूपी करवाल की जलधारा से शत्रुओं के प्रताप रूपी अग्नि को बुझा दिया। इसमें साङ्ग रूपक अलङ्कार है। यहाँ 'देव' पद व्यञ्जक है। इससे यह उपमा ध्वनित होती है कि जैसे इन्द्रदेव अपनी मेघमाला की जलधारा से फैली हुई अग्नि को बुझा देते हैं वैसे ही जसवंत देव भी अरिकी प्रतापाग्नि बुझाने वाले हैं।

बाल-बिलोचन बाल तें रहे चन्द्रमुख संग।
विष-बगारिबे को सिख्यो कहो कहाँ ते ढंग॥ **दास**

मुख को चन्द्रमा कहना कवि-प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध है। चन्द्रमुख में रूपकालंकार है। इस सुधाधर चन्द्र से विष उड़ेलने की बात कहने से 'विषम' अलंकार की ध्वनि है। यहाँ विषमालंकार वाच्य इसलिये नहीं है कि उक्त विष उड़ेलने पर आस्था नहीं, बल्कि आश्चर्य है। यहाँ पदगत रूपक के द्वारा ही 'विष बगारिबे' में विषम अलंकार है। अत: यह उक्त कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकार से अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण है।

११ वाक्यगत कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य

नाहिन ये पावक प्रबल लुवै चलै चहुँ पास।
मानहु विरह वसन्त के ग्रीसम लेत उसास ॥ **बिहारी**

चारों ओर आग के समान जलनेवाली यह लू नहीं चल रही है बल्कि वसन्त के विरह में ग्रीष्म ऋतु उष्ण उसासें ले रही है। ग्रीष्म ऋतु का गर्म साँस लेना कवि-प्रौढ़ोक्ति है। इसमे सापह्नव उत्प्रेक्षा अलंकार है। इससे जब ग्रीष्म की यह दयनीय दशा है तब मनुष्य आदि अन्यान्य प्राणियो की दशा की क्या कहना, यह अर्थापत्ति अलङ्कार ध्वनित होता है।

लिखे रजनी ने जो, उर खोल, विविध नव-नव छंदो में गान।
पंक्तियाँ तारो की बन, चमक उठे नभ में जगमग द्युतिमान ॥ **मिलिंद**

रात्रि का नवनव छंदो में गान लिखना कवि-प्रौढ़ोक्ति है। यहाँ गानों में तारों की पंक्तियों के आरोप से रूपक अलंकार है। इससे उत्प्रेक्षालङ्कार की ध्वनि होती है। क्योंकि तारों को पंक्तियो मे छन्दों की पंक्तियों की संभावना है जो उक्त नहीं, ध्वनित है। वाक्यगत होने से उक्त भेद का यह उदाहरण हुआ।

प्रतिदिन भर्त्सना के संग
निर्दय अनादरों से भंग कर अन्तरङ्ग,
क्रूर कटु बातों में मिलाके विष है दिया,
कन्या ने सदैव चुपचाप उसे है पी लिया।
राजकन्या कृष्णा ने पिया था विष एक बार,
मेरी जानकी ने पिया रातदिन लगातार। **सि. रा. श. गुप्त**

वाक्यगत वर्णन में व्यतिरेक अलङ्कार स्पष्ट है। इससे कन्या जानकी की पितृभक्ति, सहिष्णुता आदि वस्तु व्यञ्जित है। बातों मे विष मिलाना, बातों को पी जाना आदि कवि-प्रौढ़ोक्ति है।

आरसी से अम्बर में, आभा-सी उज्यारी लगै।
प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब सो लगत चन्द॥ देव

नायिका के रूप की प्रशंसा में कवि की प्रौढ उक्ति है। यहाँ उपमानुप्राणित उत्प्रेक्षालंकार है। अंबर को आरसी, राधिका की आभा को चाँदनी और राधिका के प्रतिबिम्ब को चन्द्रमा माना गया है। अतः यहाँ उपमानुप्राणित उत्प्रेक्षा से अतिशयोक्ति स्पष्ट है। मगर इस अतिशयोक्ति के द्वारा उपमान चन्द्र से उपमेय राधिका के मुख का गुण उत्कृष्ट कहा गया है। अतः यहाँ व्यतिरेकालंकार व्यंग्य है। उह उदाहरण वाक्यगत का है।

करै 'दास' दया वह बानी सदा कबि आनन-कौंल जु बैठी लसै।
महिमा जग छाई नवौ रस की तन पोषक नाम धरैं छ रसै॥
जग जाके प्रसाद लता पर सैल, ससी पर कंज सप्रेम लसै।
करि भाँति अनेकन यों रचना जो बिरंचिहु की रचना को हँसै॥ दास

कवि की रचना की महिमा के वर्णन में यह सवैया लिखा गया है। 'आनन-कौंल' में मुख को कमल बनाना कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध है। इसमें रूपकालंकार है। सवैये के तीसरे चरण में 'लता पर सैल' और 'ससी पर कंज' में रूपकातिशयोक्ति भी स्पष्ट है। क्योंकि 'लता' उपमान का उपमेय 'नायिका का शरीर' और 'सैल' उपमान के उपमेय 'स्तन' तथा इसी प्रकार 'ससी' का उपमेय 'मुँह' और 'कंज' के उपमेय 'नयन' ये सब छिपा लिये गये हैं। इन दोनों अलंकारों के द्वारा ब्रह्मदेव-रचित सृष्टि से कवि-रचित सृष्टि की विशेषता तथा अद्भुतता दिखलाने से यहाँ व्यक्तिरेकालंकार व्यंग्य है। इसलिये कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध अलंकारों से यहाँ अलंकार ध्वनि है।

१२ प्रबन्धगत कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार ध्वनि

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त, ता पर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग॥
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ताहू पर अमरित फल लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पालव, ता पर सुक, पिक, मृगमद काग॥
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर यक मनिधर नाग।
अंगअंग प्रति और और छवि उपमा ताको करत न त्याग।
'सूरदास' प्रभु पियहु सुधारस मानहु अधरन को बड़ भाग॥

सूरदास ने उपर्युक्त गीत में राधिका के अंगों का वर्णन किया है। उनके सारे शरीर को एक बाग माना है। उस बाग में राधिका के दोनों चरण कमल माने गये हैं। क्योंकि चरणों की उपमा कमल से दी जाती है। इसी तरह दोनों जाँघों को हाथी निश्चित किया है। क्योंकि स्त्रियों की चाल की उपमा हाथी की चाल से दी जाती है। इसी तरह अनेक वाक्यात्मक इस प्रबन्ध में सर्वत्र उपमान ही उक्त हैं और उपमेय अनुक्त। यहाँ कमल पर गजवर का खेलना, हाथी पर सिंह का अनुराग करना, आदि वर्णन विरोधग्रस्त है। इस प्रकार यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार से विरोध अलङ्कार की व्यञ्जना है।

दूसरा उदाहरण

खंजन शुक कपोत मृग मीना, मधुप निकर कोकिला प्रबीना।
कुंद-कली दाड़िम सुदामिनी, शरद कमल ससि उरग भामिनी।
वरुण पाश मनोज धनु हंसा, गज केहरि निज सुनत प्रशंसा।
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं, नेकु न शंक सकुच मनमाँहीं।
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू, हर्षे सकल पाइ जनु राजू। तुलसी

जानकी-हरण के कथा-प्रसंग में राम की ये उक्तियाँ हैं। यहाँ अंगों के उपमानों का ही केवल निर्देश है। किसी नायिका के अंगों के उपमान खंजन, शुक, कपोत आदि को बताना कवि-प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध है। अतः यहाँ केवल उपमानों के ही कथन से रूपकातिशयोक्ति अलंकार है और 'नेकु न शंक सकुच मन माँही' और 'तोहि बिनु आजू हर्षे सकल पाइ जनु राजू' से स्पष्ट ही इन उपमानों से उपमेय का आधिक्य सूचित होता है जो कवि का अभिप्रेत है। अतः यहाँ रूपकातिशयोक्ति से व्यतिरेकालंकार की ध्वनि है। इसलिये प्रबन्धगत अलंकार से अलंकार ध्वनि का यह भी उदाहरण है।

अट्ठाइसवीं किरण

(कवि-निबद्ध-पात्र-प्रौढोक्ति-मात्र-सिद्ध)

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अर्थ-शक्ति-उद्भव का यह तीसरा भेद है। यह ध्वनि वहीं होती है जहाँ कवि-कल्पित-पात्र की प्रौढ (कल्पित)

उक्ति द्वारा किसी वस्तु या अलंकार का व्यंग्य बोध होता है। कवि-प्रौढोक्तिमात्र सिद्ध से इसका इतना ही भेद है कि वहाँ केवल कवि-कल्पित वस्तु या अलंकार से अलंकार या वस्तु की ध्वनि होती है; किन्तु यहाँ कवि-कल्पित पात्र की प्रौढ उक्ति से। इसके भी उपर्युक्त ध्वनियों की तरह बारह भेद होते हैं। रसगंगाधर-कार इस भेद को नहीं मानते। संभवतः उनकी दृष्टि में कवि-प्रौढोक्ति और कवि-निबद्ध-पात्र-प्रौढ़ोक्ति में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। पर, 'प्रिय प्रवास' और 'साकेत' में कवि-निबद्ध-पात्र यशोदा और ऊर्मिला की उक्तियों में जो मार्मिकता और कारुणिकता है वे कभी कवि-प्रौढोक्ति में संभव नहीं थीं। इसकी विशेषता के सहृदय ही प्रमाण हैं।

१—पदगत कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य

मेरे सुख की किरन अमर !
मेरी आँखों के आँसू के विन्दु बने नीरव निर्झर।
तब तुम उस धारा पर गिरना प्रतिविम्बित होकर मृदुतर ॥

रामकुमार वर्मा

यहाँ निर्झर का विशेषण है—नीरव। कवि-निबद्ध-पात्र की याचना है कि मेरे आँसुओं के विन्दुओं का निर्झर तो बने पर हो वह नीरव। चाहे उसके भीतर कितना हूँ आहों का हाहाकार हो। यहाँ नीरव (कोलाहल-हीन) पदगत वस्तु से चाहे मुझे कितना भी रोना-चिल्लाना पड़े पर दुनियाँ जाने तक नहीं, आदि वस्तु रूप व्यंग्य का बोध होता है। अतः यह पद्य पदगत वस्तु से वस्तु व्यंग्य का उदाहरण है। निर्झर को नीरव बनाना कविपात्रप्रौढ़ोक्ति है।

२—वाक्यगत कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य

धूम धुआँरे काजर कारे हम ही विकरारे बादर।
मदनराज के वीर बहादुर पावस के उड़ते फणधर॥ **पन्त**

यहाँ बादल के 'मदनराज के वीर बहादुर' 'पावस के उड़ते फण-धर' आदि वाक्य कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिसिद्ध हैं। इस कल्पित वस्तुरूप वाच्यार्थ से बादलों का अपने को 'कामोद्दीपक' 'वियोगियों के संताप-कारक' कहना आदि वस्तु रूप व्यंग का बोध हो रहा है। उक्त व्यंग्यार्थ वाक्यों से निकलता है। इससे उक्त भेद का यह उदाहरण है।

करी बिरह ऐसी तऊ गैल न छाड़त नीच।
दीन्हे हू चसमा चखनि चाहत लखै न मीच ॥ **विहारी**

नायिका के प्रियतम से कविनिबद्धपात्र नायिका की सखी कहती है कि विरह ने उसकी ऐसी बुरी हालत कर दी है, फिर भी वह उसका पिंड नहीं छोड़ता। वह चाहता है कि मौत आँखों में चश्मा लगाकर भी देख न पावे और मैं उसे यों सताया करूँ। इस वाच्यार्थ में 'मौत का चसमा लगाकर देखना' कवि-निबद्ध-पात्र की प्रौढोक्ति है और इस वाच्यार्थरूप वस्तु से द्वितीय वस्तुरूप व्यंग्य होता है कि तुम्हारे वियोग में वह मृत्यु-शय्या पर पड़ी है. उसकी दशा अत्यन्त दयनीय है। यहाँ भी वाक्यगत वस्तु से वस्तु व्यंग्य है। नीच विरह के ऐसी दशा करने पर भी नायिका गैल नहीं छोड़ती अर्थात् प्रेमपथ से नहीं डिगती, इस अन्य वाच्यार्थ वस्तु से उसका प्रेमाधिक्य वस्तु की ध्वनि है।

मै न बुझूँगी, अमर दीप की ज्वाला हूँ, बाला हूँ।
पल-भर किसी कंठ से लग कर छिन्न हुई माला हूँ॥

जानकीवल्लभ शास्त्री

यहाँ कवि-निबद्ध-पात्र 'विधवा' अपने को 'अमर दीप की ज्वाला हूँ, इसलिये कभी बुझ नहीं सकती' कह रही है। इस वस्तुरूप उक्ति से 'निरन्तर दुःख-संताप से जलने वाली हूँ' इस वस्तुरूप व्यंग्य का बोध होता है। अतः यह उदाहरण भी वाक्यगत उपर्युक्त भेद का ही है।

३ प्रबन्धगत कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य

प्यारो, जब हेमन्त अन्त कर नव वसन्त इतराता,
विकल कंठ से कल-कोकिल तब पुलक-विधुर हो गाता।
अरुणोदय में तुम लोगो के अंगन में; अलि गुंजन
आकुल तान सहित करता है मानवती-मन भंजन।
मृदुल मंजरी माधविका तब दिन प्रतिदिन है बढ़ती,
नव रसाल को प्रेम-पाश में वह सोल्लास जकड़ती
सरस स्नेह रस से सरसा कर। ऐसे ही नव वर्षा
सिंचन करती है करुणा-जल निखिल जगत मन हर्षा—
फैला तुम लोगों के तप्त गृहों में शीतल छाया—
विस्तारित करता है घन आषाढ़ मेघ क्या माया
हाय! तुम्हारे विकसित, उत्सुक नयनों में! शरदाभा
धरणी के कण-कण में कैसी ला देती है शोभा!
अणु-अणु में संचारित करती है क्या पुण्य सुशीतल!
स्वर्ण-वर्ण से रँग जाता है, पावनतम जगतीतल।

हाय ! किन्तु अच्छेद्य वज्र की दारुण अविचल जड़ता
जकड़े है मम हृदय, भीम पाषाण-भार की दृढ़ता
प्रबल भूत-सी दबा रही है मुझको। विकल पड़ा हूँ
स्रोत-हीन इस पंक-कुंड में; होकर बद्ध सड़ा हूँ !
स्तर-स्तर में दुस्तर प्रस्तर है इस गह्वर के ऊपर;
कैसे इनको लंघन करके आ सकता हूँ भू पर—
मुक्तालोकित पवन-राज्य में ?

इलाचन्द्र जोशी

कवि-कल्पित-पात्र 'नरक-निवासी' अपनी अवस्था पर तरस खाकर कहता है कि—ओ प्यारे मानवो ! तुम्हारे यहाँ जब वसन्त आता है तब तुम्हारी कौन कहे, कोकिल (पक्षी) भी आनन्द के मारे मस्त होकर गाने लगते हैं। भौंरों की गुंजार मानिनियों के मान को भंग करने लगती है। माधविका अपने बाहु-पाश में रसाल को बाँध लेती है। शरद् अपनी शोभा से संसार को भर देती है। सारी पृथ्वी के कण-कण में आभा फूटने लगती हैं। पर, मैं निरन्तर इस नरक-कुंड में सड़ रहा हूँ, जिसमें जरा भी प्रवाह नहीं है, आदि।

उपर्युक्त पद्य के उक्त वाच्याथ में कोयलों का गाना, भौंरों की गुंजार से मानिनियों का मान भंग होना, माधविका का रसाल को आलिंगन-करना, आदि कविनिवद्ध पात्र की प्रौढोक्ति है। यह प्रौढोक्ति नरक-निवासी' अपनी अवस्था के वर्णन में करता है और प्रबन्ध भर में करता है। अत: प्रबन्धगत है। उक्त वाच्यार्थ वस्तु से वक्ता की परवशता, दुःखकातरता, सुखलिप्सा, संसार की अनुकम्पा पाने की इच्छा आदि वस्तु रूप व्यंग्य का बोध होता है। अत: यह उदाहरण प्रबन्धगत वस्तु से वस्तु ध्वनि का हुआ।

४ पद्गत कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य

जाड़ा है, रात अँधेरी है, सन्नाटा है, जग सोया है।
फिर इन काँटों की टहनी है, कैसे मुसका उट्ठी आली॥

एक भारतीय आत्मा

कविनिबद्धपात्र अस्फुटित कली की दूसरी अर्धस्फुटित कली के प्रति यह प्रौढोक्ति है। इस प्रतिकूल परिस्थिति में—जब कि कठिन शीत है, अँधेरी रात है, संसार निस्तब्ध है, स्थान काँटों से भरा है

तब भी 'मुस्कुराना' विना अनुकूल कारण के कार्य का उत्पन्न होना है। इसलिये 'मुस्कुराना' रूप वस्तु से विभावना अलंकार व्यंग्य है। यह व्यंग्य मुस्कुराना पद से ही है और यही प्रौढ़ोक्ति है।

अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी!
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी॥ **गुप्तजी**

यहाँ 'कुसुमादपि सुकुमारी' और 'वज्रादपि कठोर' दोनों प्रौढ़ उक्तियाँ कवि-निबद्ध-पात्र 'यशोधरा' की हैं। उक्तियाँ दोनों ही वस्तु रूप हैं। प्रौढोक्ति इस लिये है कि फूल से भी सुकुमार और वज्र से भी कठोर होना असंभव है। इसलिये पदगत कवि-निबद्ध-पात्र-प्रौढोक्तिमात्र-सिद्ध वस्तु से अतिशयोक्ति अलंकार व्यंग्य है। अतः उपर्युक्त भेद का यह उदाहरण है।

दियो अरघ नीचे चलौ संकट भानै जाइ।
सुचती ह्वै औरैं सबै ससिहि बिलोकैं आइ॥ **बिहारी**

सखी नायिका से कहती है कि तुम अब नीचे चलो जिससे निश्चिन्त हो, अन्य सभी स्त्रियाँ चन्द्रमा को देखें। क्योंकि वे समझ नहीं पा रही हैं कि असल में चन्द्रमा कौन है—तुम्हारा मुख या उदित चन्द्रमा। यहाँ नायिका के मुख में चन्द्रमा के आरोप से रूपक अलङ्कार ध्वनित है। शशि में होने से पदगत है।

बचन कहत मुख बाल के बन्यो रहत नहिं गेहु।
जरत बाँचि आई ललन बाँचि पातिं ही लेहु॥ **दास**

बाला के बोलने के समय घर में रहना असंभव है। मैं तो जलने से बँच आयी, यही बड़ा भाग्य है। आप पत्र ही पढ़ लीजिये। यह पात्र-प्रौढोक्ति है। इसमें 'जरत' पद व्यञ्जक है, जिससे आक्षेपालङ्कार ध्वनित है। क्योंकि घर में 'जरत' पद कहकर बँच आने की दूसरी बात कही गयी है जो उक्ताक्षेप है। यदि 'जरत बाँचि आई' इसको व्यञ्जक मानें तो यह वाक्यगत का उदाहरण होगा।

५ वाक्यगत कविनिबद्धपात्रप्रोढोक्तिसिद्ध वस्तु से अलङ्कार व्यंग्य

तजि पंचत्व असंख्य भे कामबान मधु पाय।
सुभगे रहि अब पंचता बिरहिन माँहिं समाय॥ **प्राचीन**

साहित्यदर्पण के उदाहरण का यह अनुवाद है। काम के पाँच कुसुम-शर हैं, यह प्रसिद्ध है। कवि-निबद्ध-पात्र नायिका कहती है कि

वसन्त ऋतु में काम के बाण अपनी पंचता को, पाँच होने की संख्या को छोड़कर अनन्त हो गये हैं। अब यह पंचता—पंच तत्वों को प्राप्त करना अर्थात् मृत्यु, विरहिनियों में ही पैठ गयी है। पाँच के स्थान में अनन्त होना, विरहिनियों में मृत्यु का पैठना, कवि-निबद्ध-पात्रप्रौढोक्तिरूप वस्तु है। इससे बाणों की पंचता वहाँ से हट कर मानो विरहिनियों में समा गयी है, यह उत्प्रेक्षा अलंकार ध्वनित है।

हँस देता जब प्रात सुनहरे अंचल में बिखरा रोली,
लहरों की बिछलन पर जब मचली पड़तीं किरणें भोली।
तब कलियाँ चुपचाप उठाकर पल्लव के घूँघुट सुकुमार,
छलकी पलकों से कहती हैं—कितना है मादक संसार ॥ **म० दे० वर्म्मा**

यहाँ प्रातःकाल में 'कलियों का अपने कोमल घूँघुट उठाकर खुली पलकों से संसार की मादकता का माप करना आदि कवि-निबद्ध-पात्र-प्रौढ़ोक्ति-मात्र और वस्तु रूप वाच्य है। क्योंकि जब कलियाँ प्रभात को हँसते और सुनहरे अंचल में रोली बिखराते हुए और भोली किरणों को लहरों पर मचलती देखती हैं तो अपनी शालीनता को छोड़कर तुरंत कह उठती हैं कि संसार कितना मादक है। इसमें कोई अलंकार नहीं, केवल वस्तु का कथन है। किन्तु इसी वस्तु रूप वाच्यार्थ से काव्यलिंग अलंकार ध्वनित होता है। क्योंकि स्पष्टतः प्रभात का हँसकर रोली बिखराना और किरणों का मचलना संसार की मादकता का ज्ञापन नहीं करता।

उनका यह कुञ्ज-कुटीर वही झड़ता उड़ अंशु-अंबीर जहाँ,
अलि, कोकिल, कीर, शिखी सब हैं सुन चातक की रट पीय कहाँ,
अब भी सब साज समाज वही, तब भी सब आज अनाथ यहाँ,
सखि! जा पहुँचे सुध-संग कहीं यह अंध सुगन्ध समीर वहाँ। **गुप्तजी**

यशोधरा का कथन है कि सब साज-समाज वही है तथापि आज सब अनाथ है। यहाँ विना शब्द के न रहने पर भी वस्तु से (स्वामी के विना) अलंकार की ध्वनि है।

अनेक आलङ्कारिक 'विना' के निषेधार्थक 'न' आदि के रहने पर 'विनोक्ति' को वाच्य ही मानते हैं और कितने 'न' के रहने पर 'विनोक्ति' को ध्वनि मानते हैं।

६—प्रबन्धगत कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु से अलङ्कार व्यंग्य

श्याम मेघ-सा मुझे देखकर चातक दल इठलाता है।
फूलों की बाँसुरी बजाकर भृंग पराग उड़ाता है।

कलियों की मजलिस में बैठा हूँ मै बादशाह बनकर।
चम्पा घूँघट खोल खड़ी है कांत कुञ्ज मुख दर्शन कर।
जुही पिलाती मुझे सोम-रस लता फूल बरसाती है।
मौलसिरी के साथ मालती, नाच-नाचकर गाती है।
प्रकृति सभा में हँसता हूँ मै सोने के सिंहासन पर।
मेरे चरणों पर गिरती हैं कुसुम मालिनी झर-झरकर॥

गुलाबरत्न बाजपेयी

पथिक 'वन-प्रदेश' की अपनी यात्रा के समय की कहानी कहता है जहाँ उसे सम्राट् के समान सम्मान मिला था। उक्त पद्य की सारी बातें कविनिबद्धपात्र पथिक की प्रौढोक्तियाँ हैं—जैसे लताओं का फूल बरसाना, भौरों का बाँसुरी बजाना और पराग उड़ाना, कलियों की मजलिस लगना, जुही का साकी बनना, मालती का नृत्य करना आदि। कई पद्यों में सम्राट् के अनुरूप सम्मान का वर्णन किया गया है। उससे पथिक अपने को सम्राट् समझता है। अतः यहाँ प्रबन्धगत कवि-निबद्ध-पात्र की प्रौढोक्तिमय वांच्यार्थ रूप वस्तु से 'उपमा अलंकार' की ध्वनि है।

× × × आप आर्यपुत्र हैं,
फिर भी अनार्यों को बढ़ावा दिया आपने
रौंदने में आर्यजननी को, महा शोक है।
पातक अनेक हैं भयानक तथापि यह
देशद्रोह ऐसा घोर पाप है कि जिससे
काँपता है नरक—अधीरा धरा होती है।
देशद्रोहियों को अधिकार है न जीने का।
इनसे घिनाता है मरण भी इसीलिये
अबतक घृणित शरीर यह आपका
जीवित है, जीवित पिशाचवत्—खेद है! आर्यावर्त

महारानी संयोगिता ने अपने पिता जयचन्द को जो पत्र लिखा था उसका यह एक अंश है। इस वर्णित वस्तु से विशेषोक्ति अलङ्कार की ध्वनि है। क्योंकि मरण का कारण रहते उस कार्य का अभाव है।

७ पदगत कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलङ्कार से वस्तु ध्वनि

जीवन-निशीथ का अन्धकार।
भग रहा क्षितिज के अंचल में मुख आवृत कर तुमको निहार॥ प्रसाद

यह 'इड़ा' के प्रति मनु का कथन है। 'जीवन-निशीथ' के अन्धकार का क्षितिज में भागना कवि-निबद्ध-पात्र 'मनु' की प्रौढोक्ति है। तुम्हारे (इड़ा के) दर्शन से जीवन-निशीथ का अन्धकार अपना मुख ढँक कर (मारे क्षोभ के) भाग रहा है। इस वाच्यार्थ के मुख्य अंश 'जीवन-निशीथ' पद में 'रूपक' अलंकार है। इस रूपक द्वारा तुम्हारे दर्शन से (ज्ञान-प्रसार से) हमारे अन्दर का घोर अन्धकार (अज्ञान, आलस्य आदि) भाग रहा है—अर्थात् जीवन कर्मण्य बन रहा है, यह वस्तु व्यंग्यतया अवगत होती है। अतः यहाँ पद-गत अलंकार से वस्तु व्यंग्य है।

८—वाक्यगत कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तु व्यंग्य

कहाँ ललाई ले रही अँखिया बेमरजाद।
लाल भाल नखचन्दद्युति दीन्हों यह परसाद ॥ **दास**

नायक के नायिका की आँखें लाल होने का कारण पूछने पर नायिका कहती है कि ललाट के नखचन्द का यह प्रसाद है। नखक्षत को चन्द्रमा मानना पात्र-प्रौढ़ोक्ति है। 'नखचन्द' एक पद में रूपकालंकार है। इससे यह ध्वनित होता है कि तुम कहीं अन्यत्र रमण कर आये हो। अर्थात् नायक का दोषी होना वस्तु व्यञ्जित है।

तरुन कोकनद बरन बर, भए अरुन निशि जागि।
वाही के अनुराग दृग रहे मनौ अनुरागि ॥ **बिहारी**

खण्डिता नायिका अपने पति की लाल-लाल आँखों को देखकर कहती है कि तुम्हारी गुप्त प्रेमिका का अनुराग ही मानो तुम्हारे नयनों में छा गया है। इसीलिये ये लाल-लाल हो गये हैं। यहाँ कवि-निबद्ध-पात्र खंडिता नायिका का अनुराग का रंग लाल बतलाना और उसका आँखों में छा जाना, प्रौढोक्ति है। नायिका 'उत्प्रेक्षा' अलंकार द्वारा अपने पति की आँखों में परकीया का अनुराग छा जाने की कल्पना करती है और इसी के द्वारा पति के प्रति अपना अत्यन्त रोष प्रकट करती है जो वस्तु रूप व्यंग्य है। यह व्यंग्य सम्पूर्ण वाक्य से प्रकट होता है। अतः उपर्युक्त भेद का यह उदाहरण है।

मरवै को साहस कियौ, बढ़ी बिरह की पीर।
दौरतिं है समुहै ससी, सरसिज, सुरभि-समीर ॥ **बिहारी**

यहाँ कवि-निबद्ध-पात्र दूती है और उसका यह कहना कि विरहाधिक्य से मरने के लिये वह सरसिज, शशी तथा सुरभि समीर के

सम्मुख दौड़ती है। यह प्रौढोक्ति-मात्र से सिद्ध है। प्रौढोक्ति समस्त वाक्य में है। मरने के लिये उक्त वस्तुओं की ओर दौड़ पड़ना प्रकृति-विरुद्ध प्रयत्न है। इससे यहाँ विचित्र अलंकार है। उससे नायिका के विरह का सन्तापाधिक्य वस्तु ध्वनित है। अत: वाक्यगत अलंकार से यहाँ वस्तुध्वनि है।

९ प्रबन्धगत कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकार से वस्तु व्यंग्य

लिखे रजनी ने जो, उर खोल, विविध नव-नव छंदो में गान,
पंक्तियाँ तारों की बन चमक उठे नभ में जगमग द्युतिमान।
शशि-किरणों से धुले जुही की कलियों के मृदु प्राण,
उमड़ पड़ी कुंजों की कविता बन वंशी की तान।
छिटक छन छिद्र-पथों से रुद्ध कुटीरों के दीपों के प्राण।
मुक्त-नभ-छाया-पथ में चले कौमुदी में करने को स्नान।
कण-कण बना उदार, हुआ उर-उर का हलका भार,
गिरि से हृदय कठोर बह गये बन निर्झर सकुमार।
चतुर्दिक उत्कंठा उठ पड़ी, प्रेम का उमड़ा पारावार;
खुली नभ के गोपन की गाँठ चाँदनी में डूबा संसार।
न खोला फिर भी, प्राणाधार, अभी तक तुम ने अपना द्वार!

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'

यह उक्ति प्रियतम के प्रति आराधिका की है। उसका कहना है कि आसमान से लेकर पृथ्वी तक प्रेम का पारावार उमड़ रहा है। रजनी भावमय गीत सिखाती है। तारे उन गीतों की पंक्तियाँ ही तो हैं। कलियों के प्राण चाँदनी से धुल रहे हैं। कुञ्ज-कुञ्ज से वंशी की तान फूट चली है। कुटियों के दीपक के प्राण भी छिद्रों से छिटक कर चाँदनी की गंगा में स्नान करने चल पड़े हैं। पर्वत के कठोर हृदय आज निर्मल निर्झर बनकर बह चले हैं। चारों दिशाओं में उत्कंठा उमड़ रही है—पर हाय! प्रियतम! अभीतक तुमने अपना द्वार तक नहीं खोला। यहाँ इतनी प्रेरणाओं के रहते भी प्रियतम का द्वार न खोलना 'विशेषोक्ति' अलंकार है। इससे यहाँ कविनिबद्धपात्र आराधिका का प्रियतम के प्रति तीव्र उपालम्भ व्यंजित होता है। समस्त प्रबन्ध से विशेषोक्ति अलंकार निकलता है और उससे वस्तु व्यंग्य होता है। अत: प्रबन्धगत अलंकार से वस्तु व्यंग्य है।

पदगत कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य

करे चाह सौं चुटकि कै खरैं उड़ौहैं मैन।
लाज नवाये तरफरत, करत खूँद-सो नैन॥ **बिहारी**

मध्या नायिका की कविनिबद्धपात्र प्रिय सखी उसकी आँखों का वर्णन अपनी प्रौढ़ोक्ति द्वारा एक दूसरी सखी से करती है।

कामदेव ने चाह से चुटक कर भलीभाँति उड़ने के लिये उद्यत तो किया पर लाज की लगाम से नवाये जाने पर खूँद सी करते हैं, नायिका के नयन झुककर तड़फड़ाते मानो जमैती कर रहे हैं। भावार्थ यह कि वह अपने प्रिय नायक को देखना तो चाहती है; पर लाज के मारे देख नहीं सकती और न उसकी दर्शन की अभिलाषा ही मिटती है। 'यहाँ खूँद-सी' में उत्प्रेक्षा का वाचक सी है। इसी के द्वारा नैन में घोड़े का, चाह में चाबुक का, लाज में लगाम का और कामदेव में सवार का आरोप व्यंग्यतया प्रतीत होता है। यहाँ खूँद-सी में यदि पदगत उत्प्रेक्षा अलंकार नहीं होता तो कहीं भी उक्त आरोप का प्रसंग न आता। इसलिये पदगत कवि-निबद्ध-पात्र-प्रौढोक्ति-मात्रसिद्ध उत्प्रेक्षा अलंकार से रूपकालंकार व्यंग्य है।

वाक्यगत कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य

नित संसौ हंसौ बचत मनहुँ सु यहि अनुमान।
बिरह अगिनि लपटन सकत झपटि न मीचु सचान॥ **बिहारी**

निरन्तर सन्देह बना रहता है कि इस वियोगिनी का हंस अर्थात् जीव कैसे बचा हुआ है? सो यही अनुमान होता है कि मृत्यु रूपी बाज बिरहाग्नि की लपटों के कारण हंस—जीव पर झपट नहीं सकता।

सखी की उक्ति। 'विरह अगिनि' 'मीचु सचान' पात्र-प्रौढ़ोक्ति है और दोनों में रूपक है। न मरने के समर्थन से काव्यलिङ्ग भी है। इन दोनों से विशेषोक्ति की ध्वनि है। क्योंकि कारण रहते भी कार्य नहीं होता।

मैंने सुना काफिरों का एक देश है,
होती है फसल जहाँ मोतियों की खेत में।
लाल और पन्ने फलते हैं सभी वृक्षों में,
सोने के पहाड़ और भूमि मखमल की।
खेलते हैं बच्चे वहाँ अंटे बना हीरे के,
दूध मधु घी की नदियाँ हैं—ढार खाते हैं।

मेवे और दूध मधु पी के रह जाते हैं,
पानी तो फकत मरतों को दिया जाता है।
आँगन बुहारती हैं परियाँ बहिश्त की,
शेरनी के दूध पीते बच्चे छीन लेते हैं
घुसकर माँद में—हैं बच्चे उस देश के,
ऐसे निर्भय वीर, सोचो जरा तुम भी। आर्यावर्त

गजनी के बड़े-बूढ़ों की भारत के सम्बन्ध में यह उक्ति है। इसमें अतिशयोक्ति अलंकार है जिससे सर्वत्र उपमा की ध्वनि निकलती है। क्योंकि खेत के दाने मोतियों के से ही तो होते हैं, इत्यादि। भारत का ऐसा ही अद्भुत ऐश्वर्य है। ऐसी सुजला, सुफला, शस्यश्यामला भूमि कहीं की नहीं है।

उन्तीसवीं किरण

शब्दार्थोभयशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यंग्य

जिस जगह कुछ पद ऐसे हों जो अपने पर्यायवाची शब्दों से अपना व्यंग्यार्थ प्रकट कर सकते हों और कुछ ऐसे भी हों जो अपने पर्यायवाची शब्दों से व्यंग्यार्थ प्रकट करने में असमर्थ हों, पर हों दोनों विवक्षित व्यंग्यार्थ के बोधन में प्रधान रूप से अपेक्षित, वहाँ शब्दार्थोभयशक्तिमूलक अनुरणन ध्वनि होती है।

इसका केवल एक ही वाक्यगत भेद होता है। वह भी वाक्यगत वस्तु से केवल अलङ्कार ध्वनि, वाक्यगत वस्तु से वस्तु ध्वनि नहीं।

इसका पदगत भेद नहीं होता। क्योंकि एक ही पद में परिवर्तन-सहत्वासहत्व, दो विरुद्ध धर्म्म कभी रह ही नहीं सकते। अर्थात् ऐसा एक पद मिल ही नहीं सकता जो अपने पर्यायवाची शब्द से शब्द-शक्ति और अर्थशक्ति दोनों का सहारा लेकर व्यंग्यार्थ प्रकट भी करे और पर्यायवाची शब्द रखने पर व्यंग्यार्थ को प्रकट करने में असमर्थ भी हो जाय। क्योंकि पर्याय शब्द से व्यंग्यार्थ प्रकट करने में पद की केवल अर्थशक्ति काम देगी, शब्दशक्ति नहीं। और, व्यंग्यार्थ के न प्रकट करने में केवल शब्द-शक्ति का अभाव बाधक होगा, अर्थशक्ति का अभाव नहीं। अतः एक पद में दोनों शक्तियों का संमिलित व्यापार या अव्यापार एक समय संभव नहीं है।

प्रबन्धगत यह भेद इसलिये नहीं होता कि वहाँ ध्वनि का आश्रय संम्पूर्ण प्रबन्ध ही होता है जो केवल अर्थशक्ति को ही लेकर अपना काम करता है। कतिपय श्लिष्ट शब्दों का वहाँ कोई विशेष उपयोग नहीं होता। उपयोग होने पर भी—प्रबन्धार्थ के उभयशक्तिमूलक होने पर भी—प्रायः वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रधानता तुल्य रहती है। अतः ऐसे स्थलों में ध्वनि नहीं, तुल्यप्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य माना जाता है।

इसी प्रकार उभयशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि भी संभव नहीं। क्योंकि वस्तु ध्वनि के स्थलों में कवि अनेकार्थक शब्द का प्रयोग करके शब्द-शक्ति से तभी काम लेता है जब उसे कोई गोपनीय या रहस्य बात ऐसे ढंग से व्यक्त करनी होती है कि वह साधारण लोगों के लिये तो अगम्य रहे पर केवल विदग्धों के लिये गम्य हो। ऐसी अवस्था में वहाँ शब्द और अर्थ दोनों की शक्तियाँ समान रूप से मिलकर वस्तु को नहीं व्यक्त करतीं। अर्थशक्ति से एक ऐसा मामूली अर्थ निकल जाता है जो साधारण शाब्दबोध कराकर साधारण श्रोता की आकांक्षा शान्त कर देता है। वहाँ शब्दशक्ति विदग्धों के लिये रक्षित रहती है जो उसके सहारे कवि का गूढ़ अर्थ ग्रहण करते हैं। जैसे, शब्दशक्ति-मूलक वस्तु ध्वनि के उदाहरण "को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर।" में पर्यायवाची शब्द को न सहन करनेवाले 'वृषभानुजा' और 'हलधर के वीर' शब्दों के साधारण अर्थ में वह शक्ति नहीं है जो 'बैल की बहन' और 'बैल के भाई' रूप वस्तु को सबके लिये व्यक्त कर दे। यह अर्थ तो विदग्धों के लिये सुरक्षित है। यहाँ तो शब्द के व्यञ्जकत्व में अर्थ सहायक होता है और अर्थ के व्यञ्जकत्व में उसका शब्द—दोनों का साहाय्य परस्पर नितान्त अपेक्षित होता है। ऐसी अवस्था में अलङ्कार ही की ध्वनि हो सकती है। जैसे,

चरन धरत चिन्ता करत भोर न भावे सोर।
सुबरन को ढूँढ़त फिरत अर्थचोर चहुँ ओर॥ **प्राचीन**

इस पद्य के दो अर्थ ऐसे हैं जो वाच्यार्थ से हैं। कौन अर्थ मुख्य है और कौन अमुख्य, इसका पता नहीं चलता। इन दोनों का पारस्परिक उपमान-उपमेय-भाव है। एक अर्थ है—अर्थचोर (धन का चोर) चरन (पैर) धरता हुआ चिन्ता करता है कि (किसी को खटका न हो। भोर (सबेरा) उसे नहीं भाता अर्थात् वह रात्रि ही चाहता है।

शोर (कोलाहल) उसे अच्छा नहीं लगता। वह चारों ओर सुबरन (सोना) ढूँढ़ता-फिरता। दूसरा अर्थ है—अर्थचोर (भावापहरण करनेवाला कवि) प्रत्येक चरण (छन्द का पाद) बड़ी निपुणता से धरता है (बैठाता है)। चिन्ता करता है अर्थात् भावों को सोचता रहता है। उसे भी शोर-गुल पसन्द नहीं। भोर (विस्मृति) भी उसे पसन्द नहीं। चारों ओर (सर्वत्र) सुबरन (सुन्दर और मधुर वर्णों) को ढूँढ़ता रहता है।

इस उदाहरण के दोनों अर्थों में से जिसको प्रासंगिक अर्थ समझेंगे वह उपमेय और जिसको अप्रासंगिक मानेंगे वह उपमान होगा। यहाँ दोनों वाच्यार्थ वस्तु रूप है। इनसे कवि और धन चुराने वाले की समता व्यक्त होती है। कवि की तरह धनचोर होते हैं और धनचोर की तरह कवि। यही व्यंग्यार्थ है। इसलिये यहाँ उपमा अलंकार की ध्वनि है।

चरन, भोर, सुबरन, अर्थचोर शब्द ऐसे हैं जो बदले नहीं जा सकते। इनके पर्यायवाची शब्द रख देने पर ये अपना अभिप्राय नहीं प्रकट कर सकते। अतः शब्दशक्तिमूलकता सिद्ध होती है। साथ ही चिन्ता करना, शोर, ढूँढ़त आदि ऐसे शब्द हैं जो अपने पर्यायवाची शब्द से भी अपना भावार्थ प्रकट कर सकते हैं। इससे अर्थशक्तिमूलकता सिद्ध हुई। इन दोनों के सहारे ही यहाँ ऐसी ध्वनि निकलती है। अतः यह उदाहरण शब्दार्थोभयशक्तिमूलक का ही है।

यदि यहाँ श्लेष, अर्थावृत्ति और अभिधामूला व्यञ्जना का विषय-विभाग कर दिया जाय तो आधुनिक काव्य-शास्त्रियों के द्वारा फैलाये हुए भ्रम का बहुत कुछ निराकरण हो जाय और फिर किसी को यह कहने का अवकाश न मिले कि शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि में श्लेष से उपमा व्यंग्य है, इत्यादि। अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग होने पर जहाँ अनेक अर्थों में वक्ता का तात्पर्य-ग्राहक प्रकरणादि एक साथ ही उपस्थित हों वहाँ श्लेष समझना चाहिये। जहाँ क्रम से उपस्थित हों, वहाँ अर्थावृत्ति 'जैसे बटोही प्यासा क्यों? गधा उदासा क्यों? लोटा न था'। यहाँ क्रम से लोटा का अर्थ जलपात्र और लोटना क्रिया का भूत काल है। और जहाँ अनेक अर्थों में से केवल एक ही अर्थ में प्रकरणादि तात्पर्यग्राहक हों वहाँ व्यञ्जना समझनी चाहिये।

उभयशक्तिमूलक ध्वनि में केवल वस्तु से अलङ्कार व्यंग्य होता है, अलङ्कार से अलङ्कार नहीं व्यंग्य होता। इसीलिये इसका एक ही भेद माना गया है। जब व्यंजना में व्यंजक की शब्दशक्ति और अर्थ-शक्ति दोनों से साथ ही काम लिया जायगा तो वह व्यंजक वस्तु रूप ही ठहरेगा, अलङ्कार रूप कदापि न होगा। क्योंकि पुनरुक्तवदाभास को छोड़कर कोई ऐसा अलंकार ही नहीं है जो चमगादड़ की तरह दोनों श्रेणियों में परिगणित हो सके। इसीलिये उक्त ध्वनि के उदाहरणों में अलंकार से अलंकार की व्यंजना माननेवाले भारी भ्रम में हैं।

एक अन्य उदाहरण—

बहुरि शक्र सम बिनवौं तेही।
संतत सुरानीक हित जेही॥ **तुलसी**

इसमें सुरानीक पद श्लिष्ट है। एक अर्थ है सुर = देवता, अनीक = सेना का समूह और दूसरा अर्थ है सुरा = मदिरा नीक = अच्छी। अर्थ होता है कि शक्र अर्थात् इन्द्र के समान उन दुर्जनों का भी विनय करता हूँ जिन्हें सुरानीक हित है। 'सुरानीक' शब्द की शक्ति से और अन्यान्य शब्दों की अर्थशक्ति से खल और शक्र की समता वर्णित है। अतः वाक्यगत शब्दार्थोभयशक्ति द्वारा उपमालंकार व्यंजित है। सुरानीक शब्द बदलने योग्य नहीं पर शक्र आदि शब्दों के स्थान पर तदर्थबोधक अन्य शब्द रखने पर भी यह व्यंग्यबोध होगा। यही इनकी शब्दार्थोभयशक्तिमूलककता है।

तीसवीं किरण

ध्वनियों का संकर और संसृष्टि

जहाँ एक ध्वनि में दूसरी ध्वनि दूध और पानी की तरह मिलकर रहती है, वहाँ ध्वनि-संकर तथा जहाँ एक में दूसरी ध्वनि मिलकर भी तिल और चावल के समान पृथक् पृथक् परिलक्षित रहती है वहाँ ध्वनि-संसृष्टि होती है।

ध्वनिसंकर के मुख्य तीन भेद होते हैं—(१) संशयास्पद संकर (२) अनुग्राह्यानुग्राहक संकर और (३) एकव्यंजकानुप्रवेश संकार

जहाँ अनेक ध्वनियों में किसी एक के निश्चय का न कोई साधक हो न बाधक वहाँ संशयास्पद संकर होता है।

पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा॥
जिअन मूरि जिमि जुगवत रहेऊँ। दीप-बाति नहिं टारन कहेऊँ॥
सो सिय चलन चहति बन साथा। आयसु काह होइ रघुनाथा॥ **तुलसी**

पहले ही ध्वनि-प्रकरण में असंलक्ष्यक्रम का यह उदाहरण दिया गया है। उस प्रकरण से ही आप को यह मालूम हो गया होगा कि यहाँ किस तरह करुण रस की पुष्टि होती है और किस तरह यहाँ असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य है। साथ ही यह अभिधामूलक ध्वनि के दूसरे भेद—संलक्ष्यक्रम—की अर्थशक्तिभव अनुरणन ध्वनि का भी उदाहरण है।

कौसल्या ने कहा—वही सीता, जिसने पलंग, पटा, पीढ़ा हिंडोला या गोद को छोड़कर कभी कठोर पृथ्वी पर पैर नहीं रक्खे—तुम्हारे साथ वन जाना चाहती है। रघुनाथ, तुम्हारी क्या आज्ञा है? यहाँ राम के सामने जानकी के सुखद लालन और उसकी सुकुमारता का जो चित्रण कौसल्या ने किया है वह केवल इसलिये कि राम ऐसी सीता को वन जाने की अनुमति कदापि न देंगे और तब सीता मेरे पास ही रह जायगी। यहाँ इतना कहने पर और सारे वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर उसी वाच्यार्थ के द्वारा ऐसा व्यंग्यबोध होता है कि ऐसी जानकी को तुम जंगल में जाने की आज्ञा न दो। यह व्यंग्यार्थ संलक्ष्यक्रम का अर्थशक्तिभव अनुरणन है। वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर ही दूसरे व्यंग्य का बोध होता है। अतः इसका क्रम लक्षित है। अर्थगत इसलिये है कि उपसंहारात्मक अंतिम पंक्ति के किसी शब्द के अर्थ का पर्यायवाची शब्द के द्वारा प्रकट करने पर भी वही अर्थ और उसी व्यंग्य का बोध बना रहता है। इसलिये यह उदाहरण असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम दोनों के मिश्रण से संकर का है। दोनों का मिश्रण इस तरह हुआ है कि पता नहीं चलता कि 'ऐसी सीता को वन जाने की आज्ञा मत दो' यह व्यंग्यार्थ असंलक्ष्यक्रम द्वारा व्यक्त होता है या संलक्ष्यक्रम द्वारा। क्योंकि असंलक्ष्यक्रम से जिस करुणा की व्यंजना होती है, उसके द्वारा भी कौसल्या का यही भाव व्यक्त होता है कि जानकी को वन जाने से राम रोक दें। इसलिये यह संकर का उदाहरण है।

घाम घरीक निवारिये कलित-ललित अलिपुंज।
जमुना तीर तमाल तरु, मिलत मालती कुञ्ज ॥ **बिहारी**

इसमें 'जमुनातीर तमालतरु मिलत मालती कुञ्ज' वाक्य इनके सुंदर संयोग जैसा हमारा तुम्हारा भी सुन्दर संयोग होगा, इस अर्थान्तर में संक्रमण करता है। इससे अविवक्षित वाच्य अर्थान्तर-संक्रमित ध्वनि है और इसीसे 'यह अत्यन्त रमणीय और निर्जन स्थान है,' यह विवक्षितान्यपरवाच्य अर्थशक्तिमूलक दूसरी ध्वनि भी है। अब यहाँ यह संशय होता है कि इनमें से कौन सी ध्वनि मानी जाय। क्योंकि दोनों की समानता स्पष्ट है। इससे यहाँ संशयास्पद संकर ध्वनि है।

मोर मुकुट की चन्द्रिकन, यों राजत नँदनंद।
मनु ससिसेखर के अकस, किय सेखर सत चन्द ॥ **बिहारी**

भक्त की उक्ति होने से देवविषयक रति भाव की, नायिका के प्रति दूती की उक्ति होने से शृङ्गार रस की, और सखी की उक्ति सखी के प्रति होने से कृष्ण-विषयक रतिभाव की ध्वनि है। अत: एक प्रकार की यह भी वक्तृबोद्धव्य की बिलक्षणता से संशयास्पद संकर ध्वनि है।

अनुग्राह्यानुग्राहक संकर

जहाँ अनेक ध्वनियों में एक ध्वनि दूसरी ध्वनि की समर्थक हो—अर्थात् एक दूसरी का अंग हो वहाँ उक्त संकर होता है।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जहाँ एक व्यंग्य दूसरे व्यंग्य का अंग होता है उसे गुणीभूत अपरांग व्यंग्य के नाम से पुकारते है। फिर यह ध्वनि का भेद कैसे हो सकता है। किन्तु, यह धूलि-प्रक्षेप इस भेद को मिटा नहीं सकता। यथार्थ बात तो यह है कि गुणीभूत अपरांग व्यंग्य में एक व्यंग्य बिल्कुल दूसरे का अङ्ग होकर आता है अर्थात् अपनी कुछ भी स्वतन्त्र स्थिति न रखते हुए दूसरे का उत्कर्षक-मात्र होता है। किन्तु यहाँ एक ध्वनि अपनी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखते हुए दूसरी ध्वनि का भी उपकार कर देती है और अपनी प्रधानता में वैसे ही कुछ भी आँच नहीं आने देती, जैसे कि चन्दन अपने में अपनी सुगन्ध रखते हुए अपने से लिपटी वस्तु को भी सुरभित कर देता है। उदाहरण से समझिये—

पड़ा सूखा काठ
ठोकरें खाते-खिलाते पहर जाते आठ।

× × × ×

ठेस देकर काठ कहता—सुनो लोगो और।
यही फल भोगो, चलो या जमीं पर कर गौर॥
काठ किसको काटता ?—मत चीखते जाओ।
घर अगर जाना तुम्हें कुछ सीखते जाओ॥
नया कर लो याद मत भूलो पुराना पाठ।
पड़ा सूखा काठ॥ जानकीवल्लभ शास्त्री

ठेस देकर काठ का उपदेश देना जो मुख्य पद का वाच्यार्थ है उसका बाध इसलिये है कि ठेस देने की प्रवृत्ति और उपदेश देने की क्षमता चेतनगत धर्म है, शुष्ककाष्ठगत नहीं। अतः वाच्यार्थ का बाध हो जाने से लक्ष्यार्थ होता है कि काठ सा क्षुद्र भी सदुपदेश देने का अधिकारी है। इससे व्यंग्यार्थ का बोध होता है कि संसार का कोई व्यक्ति तिरस्कार्य नहीं; ठोकर खाकर यह समझ लो। यहाँ अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य ध्वनि है। आगे की पंक्ति से अपनी असावधानी से दुःख पाकर लोग व्यर्थ ही भाग्य को कोसा करते हैं, यह व्यंग्यार्थ विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि का रूप खड़ा करता है। अतः यहाँ दो ध्वनियाँ हुईं—एक लक्षणामूला और दूसरी अभिधामूला। और, उक्त पद्य में जो यह वाक्य है कि 'काठ किसको काटता' ? इसमें जो काठ शब्द है, वह अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य ध्वनि द्वारा अपने में असमर्थता, निर्जीवता, उपेक्षणीयता आदि का बोध कराता है और तब जो 'मत चीखते जाओ' कहता है उससे अपने ऐसे तुच्छ में भी अपमान होने पर प्रतीकार-समर्थता रूप व्यंग्य प्रकट करता है। इससे जो सारे व्यंग्यार्थ का बोध होता है वह यह कि 'समय पा कर एक तुच्छ पददलित भी अपना बदला सधा सकता है। एक तिनके को भी कमजोर न समझो। एक तिनका भी तुम्हें कुछ सबक सिखा सकता है—आदि'। इस व्यंग्यार्थ के बोध कराने में काठ की अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि मुख्य है। पहलेवाली दो ध्वनियाँ अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनियाँ सहायक होती हैं और तब उपर्युक्त व्यंग्य प्रकट होता है। अतः यह अनुग्राह्य अनुग्राहक का उदाहरण है।

एकव्यंजकानुप्रवेश संकर

जहाँ एक से अधिक ध्वनियाँ एक ही पद या वाक्य में होती हैं वहीं यह भेद होता है।

मैं नीर-भरी दुख की बदली !
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना।
परिचय इतना इतिहास यही,
उमड़ी कल थी मिट आज चली।
मैं नीरभरी दुख की बदली॥ म० दे० वर्मा

हूँ तो मैं नीरभरो दुख की बदली, पर बदली का सा मेरा भाग्य कहाँ ? बदली को विस्तृत नभ में छा जाने का अवसर भी मिलता है, पर मुझे तो इस घर के कोने में ही बैठकर अपने दुख के दिन काटने पड़ते हैं। इस प्रकार उपमान से उपमेय की न्यूनता बताने से व्यतिरेक अलंकार स्पष्ट है। यहाँ बदली और विरहिणी की समानता न वाच्य है न लक्ष्य, अपितु साफ व्यंग्य है। बदली सही सही आज उमड़ती और कल मिटती है, नीरभरी तो है ही; पर विरहिणी ठीक वैसी नहीं। भले ही वह क्षणभर के लिये उल्लसित होकर फिर उदासीन हो जाती हो और आँसुओं से डबडबायी रहती हो। अतः समता की व्यंजना ही है जो संलक्ष्यक्रम है। इसी प्रकार समस्त गीत के वाच्यार्थ से करुण रस की भी व्यंजना होती है जो असंलक्ष्यक्रम है। अतः एक व्यञ्जकानुप्रवेश का यह उदाहरण है।

कहता जग दुख को प्यार न कर।
अनबिंधे मोती यह दृग के बँध पाये बंधन में किसके ?
पल-पल बिनते पल-पल मिटते तूँ निष्फल गुँथ-गुँथ हार न कर।
कहता जग दुख को प्यार न कर। म० दे० वर्मा

प्रियतम के विरह में दुःख का जीवन काटनेवाले प्रेमी की तन्मय आराधना का मर्म न समझनेवाला कहता है कि तू दुख को प्यार मत कर। तू चाहता है कि अनबिधे दृग की मोतियों का हार बनाकर प्रियतम के मिलने पर अपनी विरह-व्यथा का उपहारस्वरूप यह हार उनके गले में डाले, पर तेरा यह व्यवहार नितान्त व्यर्थ है। क्योंकि आँसुओं का हार बनाना असम्भव, अतएव व्यर्थ चेष्टा है। पद्य के

'जग कहता है' इस वाक्य में जग का लक्ष्यार्थ होता है केवल आदान-प्रदान के व्यापार में लिप्त, प्रेमकला से अनभिज्ञ, हृदयहीन आदि। इससे प्रेमी की दृष्टि में जग की बातों का कोई मूल्य नहीं। इस प्रकार यहाँ जग का यह व्यंग्यार्थ अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि है। इस वर्णन से व्यतिरेकालङ्कार व्यंग्य है। क्योंकि यहाँ उपमेय आँसुओं के यथार्थ वर्णन से उनके हाररूप में बन जाने की असंभाव्यता और उपमान मोतियों की संभाव्यता द्योतित होने से उपमेय की अपेक्षा उपमान का ही प्रकृतोपयोगी उत्कर्ष ध्वनित है। पुनः जिस वाक्य से व्यतिरेकालंकार का व्यंग्यबोध होता है, उसीसे अत्यन्त दुःख-सहिष्णुता और सतत अश्रुवर्षणशीलता की भी व्यंजना है। इससे असंलक्ष्यक्रम प्रवास-विप्रलम्भ का परिपाक होता है। पुनः समस्त वाक्य से व्यक्त संलक्ष्यक्रम ध्वनि द्वारा अर्थतः यह भी व्यंग्य होता है कि इस दुःख के आराधक को निरन्तर दुःख का जीवन व्यतीत करते करते उसीमें अपने को डुबोये रखना अतिप्रिय हो गया है। अतः वह 'जग' की कही बातों को उपहासास्पद और अपने कार्य को उचित और आवश्यक समझता है। इसलिये यहाँ असंलक्ष्यक्रम, संलक्ष्यक्रम, व्यतिरेक अलंकार आदि कई व्यंग्य एक साथ प्रकट हैं। इससे यहाँ एकव्यंजकानुप्रवेश संकर है।

ध्वनियों की संसृष्टि—

ऊपर कहा गया है। कि बिलकुल आपस में मिलकर तादात्म्य जैसा स्थापित कर लेनेवाली ध्वनियों का संकर होता है और बिल्कुल भिन्न भिन्न प्रतीत होनेवाली एक से अधिक ध्वनियों की संसृष्टि होती है। इसलिये अब अवसर संगति से संसृष्टि का वर्णन किया जाता है। जैसे,

मचल-मचल कर उत्कण्ठा ने छोड़ा नीरवता का साथ।
विकट प्रतीक्षा ने धीरे से कहा, निठुर हो तुम तो नाथ॥
नाद ब्रह्म की चिर उपासिका मेरी इच्छा हुई हताश।
बह कर उस निस्तब्ध वायु में चला गया मेरा निःश्वास॥ **नवीन**

१. उत्कंठा का मचल-मचल कर नीरवता का साथ छोड़ना संभव नहीं। इससे लक्षणा द्वारा उत्कंठा की तीव्रता से उत्कण्ठित का चुश्त होकर बोल उठना अर्थ हुआ। प्रयोजन व्यंग्य हुआ उत्कण्ठा का सीमा से पार हो जाना।

२. प्रतीक्षा का धीरे से कहना संभव नहीं। अतः लक्षणा द्वारा अर्थ हुआ—प्रतीक्षक का अधीर होकर उपालम्भ देना। व्यंग्य है प्रतीक्षा की असह्यता।

३. इच्छा के हताश होने का लक्षणा द्वारा अर्थ हुआ इच्छुक की आशाओं पर पानी फिर जाना। व्यंग्य है इच्छा और आशा की अरुन्तुद असफलता।

४. निःश्वास के स्तब्ध वायु में बह जाने का लक्षणा द्वारा अर्थ हुआ सर्द आहों का बेकार होना, कुछ असर न डालना। व्यंग्यार्थ है आश्वासन या समवेदना का नितान्त अभाव।

इन चारों ध्वनियों में से कोई किसी का अंग नहीं। ये पृथक् पृथक् प्रतीत होती हैं।

संकर और संसृष्टि का सम्मेलन

जैसे ध्वनियों के सम्मेलन से संकर और संसृष्टि होती है वैसे काव्य में ऐसे भी उदाहरण पर्याप्त हैं जिनमें संकर और संसृष्टि के सम्मेलन से भी संकर हो जाता है। जैसे—

अंगद दूत बनकर रावण की सभा में जाते हैं। वहाँ बात-चीत के सिलसिले में जब दोनों पक्षों की बातें बहुत बढ़ जाती हैं तब अंगद क्रोध करके कहते हैं—

> कोसल राज के काज हौं आज त्रिकूट उपारि लै बारिधि बोरौं।
> महा भुजदंड द्वै अंडकटाह चपेट की चोट चटाक दै फोरौं॥
> आयसु भंग ते जो न डरौं सब मीजि सभासद स्रोनित खोरौं।
> बालि को बालक जो 'तुलसी' दसहू मुख के रन में रद तोरौं॥

यहाँ अंगद का त्रिकूट पर्वत (जिस पर लंका बसी थी) को उखाड़ कर समुद्र में बोर देने की जो बात है वह अत्युक्ति-सी जान पड़ती है। अतः वाच्यार्थबोध में बाध है। इसका लक्ष्यार्थ यह है कि अंगद अपने स्वामी के लिये शक्ति के बाहर की बात भी करने को तैयार हैं। व्यंग्यार्थ है अंगद का अत्यन्त क्रुद्ध होकर, साहस-प्रदर्शन तथा असाध्य-साधन के लिये तत्पर होना। यह एक ध्वनि हुई। उसी की अगली पंक्ति में भी अंगद का अपने भुजदंड से ब्रह्माण्ड-कटाह को चटाक से फोड़ना आदि का भी बाध है और वहाँ भी उसी प्रकार के लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ का बोध होता है। इन दोनों जगहों में अत्यन्त-

तिरस्कृत-वाच्य ध्वनियाँ स्वतन्त्र हैं। किसी का कोई अंग नहीं है। अतः संसृष्टि का उदाहरण है। आगे 'बालि के बालक' वाक्य के 'बालि' शब्द में अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य ध्वनि है—जिससे बालि की महाबल-शालिता, दशमुख-मान-मर्दन-क्षमता आदि की ध्वनि निकलती है। और, इन सबसे असंलक्ष्यक्रम ध्वनि वीर रस का परिपाक होता है। उससे संकर हो जाता है। इस प्रकार संसृष्टि तथा संकर के संमिश्रण से यह उपर्युक्त सम्मिश्रण का एक उदाहरण है।

इकतीसवीं किरण

गुणीभूत व्यङ्ग्य

वाच्य की अपेक्षा गौण व्यंग्य को गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं।

गौण का अर्थ है अप्रधान—मुख्य न होना और गुणीभूत का अर्थ है अप्रधान बन जाना अर्थात् वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारक न होना।

अभिप्राय यह कि जहाँ व्यंग्य अर्थ वाच्य अर्थ से उत्तम न हो अर्थात् वाच्य अर्थ के समान ही हो या उससे न्यून हो वहाँ, गुणीभूत व्यंग्य होता है[1]।

काव्य में चमत्कार ही का महत्त्व है। यदि वाच्य अर्थ से व्यंग्य अर्थ अल्प चमत्कारी हुआ तो वह गौण हो जाता है—उसकी मुख्यता नष्ट हो जाती है।

प्रधानतः काव्य के दो भेद होते हैं—ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य[1]।

उत्तम काव्यों—ध्वनि काव्यों में ध्वनि की प्रधानता होती है और मध्यम काव्यों—गुणीभूत व्यंग्य काव्यों में वाच्यार्थ का चमत्कार ध्वनि की अपेक्षा अधिक होता है या उसकी समानता में रहता है, यही ध्वनि और गुणीभूत में अन्तर है।

प्राचीन आचार्यों ने सामान्यतः गुणीभूत होने के आठ कारण निर्द्धारित किये हैं। इससे इसके आठ भेद होते हैं—१ अगूढ़

---

१ अपरं तु गुणीभूतव्यंग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यंग्ये। साहित्यदर्पण

१ काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यंग्यश्चेति द्विधा मतम्। साहित्यदर्पण

व्यंग्य २ अपरांग व्यंग्य ३ वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यंग्य ४ अस्फुट व्यंग्य ५ संदिग्ध-प्राधान्य व्यंग्य ६ तुल्य-प्राधान्य व्यंग्य ७ काकाक्षिप्त व्यंग्य और ८ असुन्दर व्यंग्य ।

१ अगूढ़ व्यंग्य

जो व्यंग्य वाच्यार्थ के समान स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है वह अगूढ़ व्यंग्य कहलाता है ।

भाव यह कि जिस व्यंग्य को असहृदय मनुष्य भी सरलता से समझ ले सकता है वह व्यंग्य अगूढ़ है ।

जब व्यंग्य अर्थ गूढ़ होता है तभी सहृदयों का हृदयाह्लादक होता है । वह कामिनी-कुच-कलश के समान गूढ़ होकर ही प्रभावोत्पादक और चमत्कारक होता है[1] । किसी-किसी का कहना है कि व्यंग्यार्थ अर्धगुप्त होना चाहिये[2] ।

यह लक्षणा-मूलक और अभिधा-मूलक, दोनों प्रकार का होता है । अभिधा-मूलक में भी यह संलक्ष्यक्रम ही होता है, असंलक्ष्यक्रम नहीं । क्योंकि उसमें विभाव आदि के द्वारा जो व्यंग्य प्रतीत होता है, वह गूढ़ ही होता है ।

लक्षणामूलक अगूढ़ व्यंग्य

(क) अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य गुणीभूत अगूढ़ व्यंग्य

बीती विभावरी जाग री ।
अंबर पनघट में डुबो रही
तारा-घट ऊषा नागरी ।
खगकुल कुलकुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लायी—
मधु मुकुल नवल रस गागरी । **प्रसाद**

---

१ कामिनीकुचकलशवत् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव । **काव्यप्रकाश**

२ सरब ढके सोहत नहीं उघरै होत कुबेस ।
अरध ढके छवि देत अति कवि-आखर, कुच, केस ॥ **प्राचीन**

इस पद्य की दूसरी तथा तीसरी पंक्तियों का ऊषा के द्वारा आकाश रूपी पनघट में तारात्रों रूपी घड़ों का डुबाना वाच्यार्थ है। लक्ष्यार्थ होता है—ऊषा के आगमन से आकाश के तारों का लुप्त होते जाना। और, इसका जो व्यंग्यार्थ 'रात्रि का बीत जाना' है वह 'ऊषा' और उसके व्यापार से स्पष्ट है। 'बीती विभावरी' से तो वह और भी स्पष्ट हो जाता है। अतः अगूढ़ व्यंग्य है।

अंतिम दो पंक्तियों का वाच्यार्थ है—लतिका भी मुकुल की गागरी मे मधु रूप नवल रस भर लायी। यहाँ लतिका के द्वारा मुकुलों की गागरी में रस भर लाना नितान्त असंभव होने के कारण वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार है। लक्ष्यार्थ होता है कलियों का खिलना और मकरन्द से परिपूर्ण होना। फिर इससे वस्तु रूप इस व्यंग्यार्थ का बोध होता है कि प्रभात हो गया। अतः यहाँ अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य गुणीभूत व्यंग्य है। अगूढ़ व्यंग्य इसलिये है कि 'प्रभात हो गया' यह वस्तु रूप व्यंग्य कवि की प्रथम पंक्ति के कारण स्पष्ट हो जाता है। यदि अन्यान्य पंक्तियाँ न होतीं तो ये पंक्तियाँ शुद्ध अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य ध्वनि का उदाहरण हो जातीं।

वियोगिनि यह विरह की रात।
आँसुओं की बूँद ही में बह गयी अज्ञात ॥ **रा. कु. वर्मा**

यहाँ विरह की रात का आँसुओं की बूँदों में बह जाना, इस अर्थ का बाध है। अतः लक्ष्यार्थ यह हुआ कि वियोग को सारी रात रोते रोते बीत गयी। इससे यह व्यंग्य निकलता है कि वियोग में सारी रात नींद नहीं आती; विरह में दुःखों का अन्त नहीं होता। 'रात बह गयी' के अर्थबाध से उसका सीधा अर्थ होगा 'रात बीत गयी'। यहाँ अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य गुणीभूत व्यंग्य ही है। क्योंकि इसमे 'बहना' के अर्थ का बिल्कुल तिरस्कार है और व्यंग्यार्थ सहज ही समझ में आ जाता है इससे अगूढ़ है। वाच्यार्थ की तरह स्पष्ट होते हुए भी व्यंग्यार्थ अपना शोभाधायक आवरण लिये हुए है।

पानी बाढ़ै नाव में घर में बाढ़े दाम।
दोऊ हाथ उलीचिये यही सयानो काम ॥ **प्राचीन**

'संपत्ति का कोई ठिकाना नहीं। दान-धर्म में खर्च कर डालो।' व्यंग्य और वाच्य दोनों स्पष्ट हैं। यहाँ दाम के उलीचने का अर्थ अत्यन्त तिरस्कृत है।

(ख) अर्थान्तर-संक्रमित गुणीभूत अगूढ़ व्यंग्य

मैं क्या कर सकने में समर्थ ?
निर्जीव पंक्ति में निर्विवेक
क्रंदन रख रचना पद अनेक
क्या यह भी जग का कर्म एक ?
मुझको अब तक निश्चित न हुआ क्या मुझ से होगा सिद्ध अर्थ !
मैं क्या कर सकने में समर्थ ? **बच्चन**

इस पद्य में कवि कहता है कि निर्जीव पंक्तियों में विवेकरहित क्रंदन भरकर अनेक पदों को रचना क्या यह भी जग का एक कर्म है? किन्तु संसार के विविध प्रकार के अनेक कामों में से यह भी एक काम है ही। अतः इसको कर्म न मानने में अर्थ का बाध है। बाधित होकर 'क्या यह भी जग का कर्म एक' इस पद का लक्ष्यार्थ हुआ कि यह काम है तो पर प्रशंसनीय नहीं है। व्यंग्यार्थ हुआ कि यह काम सामान्य लोक की दृष्टि में व्यर्थ है। अतः 'क्या यह भी जग का एक कर्म' वाक्य का अर्थ 'यह मेरा काम लोक में प्रशंसनीय नहीं है' इस अर्थ में संक्रमण कर जाता है। यहाँ व्यंग्य वाच्यार्थ ही की तरह स्पष्ट है, अगूढ़ है। गुणीभूत इसलिये है कि वाच्यार्थ से अधिक चमत्कार इस व्यंग्य में नहीं है।

पुत्रवती जुबती जग सोई।
रामभक्त सुत जाकर होई॥ **तुलसी**

जिसका पुत्र रामभक्त है वही युवती पुत्रवती है। यहाँ अर्थ-बाधा है। क्योंकि ऐसी युवतियाँ पुत्रवती भी हैं जिनके पुत्र रामभक्त नहीं हैं। अतः लक्ष्यार्थ होता है उन युवतियों का पुत्रवती होना न होने के बराबर है जिनके पुत्र रामभक्त नहीं हैं। व्यंग्यार्थ है रामभक्त-पुत्रवाली युवती जगत में प्रशंसनीय है। यह व्यंग्य वाच्यार्थ ही के ऐसा स्पष्ट है और वाच्य का अर्थान्तर में संक्रमण है।

अभिधा-मूलक गुणीभूत अगूढ़ व्यंग्य

अंगद तुही बालि कर बालक। उपजेउ वंश अनल कुलघालक॥
गर्भ न खसेउ वृथा तुम जाये। निज मुख तापस दूत कहाये॥
अब कहु कुसल बालि कहँ अहई। बिहँसि बचन अंगद तब कहई॥ **तुलसी**

अंगद-रावण-संवाद में परिचय पूछने पर अंगद ने जब अपने पिता का और अपना नाम बताया तब रावण ने कहा कि तुझे ही बालि के

वंश में जन्म लेना था ! अच्छा होता कि गर्भ ही गिर जाता । तू न जनमता तो आज तुझे इन तपस्वियों का दूत न बनना पड़ता । अब बतला, आजकल बालि कहाँ है ?

राम के हाथ बालि का मारा जाना प्रसिद्ध था । इससे 'अब कहु कुसल बालि कहँ अहई' का व्यंग्यार्थ हुआ कि बालि का हाल क्या पूछें, वह तो गया ही, पर तुझे लज्जा होनी चाहिये कि जिसने तेरे पिता का बध किया उसीका तू सेवक बना है । यह व्यंग्यार्थ अर्थगत है और वाच्यार्थ की तरह स्पष्ट भी है ।

धनिकों के घोड़ों पर झूलें पड़ती हैं
हम कड़ी ठंढ में वस्त्रहीन रह जाते ।
वर्षा में उनके श्वान छाँह में सोते
हम गीले घर में जगकर रात बिताते । **मिलिन्द**

इस पद्य से यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि कोई शोषितों के सुख-दुख की चिन्ता नहीं करता । उनकी दशा जानवरों से भी गयी-बीती है । यह व्यंग्य अर्थ-शक्ति से हीं निकलता है और वाच्यार्थ ही की तरह अगूढ़ है—स्पष्ट है ।

२ अपराङ्ग व्यंग्य

जो व्यंग्य अर्थ किसी अपर (दूसरे) अर्थ का अङ्ग हो जाता है वह अपराङ्ग व्यंग्य कहलाता है ।

'अपर' के पेटे मे आठ रस, भाव आदि असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के भेद, दो संलक्ष्यक्रम ध्वनि के भेद और वाच्य अर्थ, कुल ग्यारह आते हैं । यहाँ अंग हो जाने का अभिप्राय है गौण हो जाना अर्थात् अंगी का सहायक होकर रहना जिससे अंगी परिपुष्ट हो ।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अन्तर्भूत जो रस, भाव आदि हैं उनसे इन अंग-भूत रसादिकों का यही भेद है कि वे जहाँ प्रधान रहते हैं वहाँ अलंकार्य होकर प्रधान रूप से ध्वनित होते और यहाँ ये अपराङ्ग होकर अर्थात् प्रधान के अङ्ग होकर गौण हो जाने से अंलकार रूप में रहने के कारण गुणीभूत व्यंग्य कहलाते हैं ।

गुणीभूत रस १ रसवत् अलंकार २ गुणीभूत भाव प्रेयस् अलंकार ३ गुणीभूत रसाभास तथा ४ गुणीभूत भावाभास ऊर्जस्वी

अलंकार और ५ गुणीभूत भावशान्ति समाहित अलंकार के नाम से अभिहित होते हैं। ६ भावोदय ७ भावसन्धि और ८ भावशबलता अपने अपने नाम से ही अलंकार कहे जाते हैं जैसे भावोदय अलंकार, भावसन्धि अलंकार आदि।

१ रस में रस की अपराङ्गता

एक रस जहाँ किसी दूसरे रस का अङ्ग हो जाता है वहाँ वह रस अपराङ्ग गुणीभूत व्यंग्य हो जाता है।

रस के अपरांग होने का अभिप्राय उसके स्थायी भाव के अपरांग होने से है। क्योंकि परिपक रस किसी दूसरे का अंग नहीं हो सकता।

सपनो है संसार यह रहत न जाने कोय।
मिलि पिय मनमानी करौ काल कहाँ धौ होय। **प्राचीन**

यहाँ शान्त रस श्रृंगार रस की पुष्टि कर रहा है। अतः श्रृंगार रस का अंग हो जाने से शान्त अपरांग हो गया है। यहाँ एक असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य ही का दूसरा असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य अंग है।

पूर्वोक्त निश्चयानुसार यहाँ शान्त रस से निर्वेद या शम को ही गुणीभूत समझना चाहिये। उसीके गौण होने से यह काव्य गुणीभूत व्यंग्य है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहाँ जहाँ रस की गौणता हो वहाँ वहाँ रस के स्थायी भावों की ही गौणता समझनी चाहिये।

भये क्रुद्ध युद्ध विरुद्ध रघुपति त्रोण सायक कसमसे।
कोदंड धुनि अतिचंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे।
मंदोदरी उर कंप कंपित कमठ भूधर अति त्रसे।
चिक्करहिं दिग्गज दसन गहि महि देखि कौतुक सुर हँसे॥ **तुलसी**

इन पंक्तियों में राम-रावण की लड़ाई का वर्णन है। यहाँ राम के कोदंड की टंकार सुनकर कमठ और भूधर का डरना तथा दिग्गजों को चीत्कार करके दाँत से पृथ्वी पकड़ना आदि भयानक की सामग्री राम के वीरोत्साह की सहायक है। अतः यहाँ भयानक रस वीररस का अंग स्वरूप—अलंकार होकर उद्दीपक है। यहाँ अपरांग भयानक भाव है।

२ भाव में रस की अपरांगता

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ॥

चाह नहीं सम्राटो के शव पर हे हरि! डाला जाऊँ।
चाह नही देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ॥
मुझे तोड़ लेना बनमाली उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक॥ **भा० आत्मा**

इस कविता मे विविध-कामना-हीनता के वर्णन से शांत रस की ध्वनि निकलती है और यह ध्वनि अंत में मातृभूमि के नाम पर मरने वाले वीर-विषयक रति भाव की पुष्टि करती है। अतः यहाँ शांत रस रति भाव का अपरांग हो गया है।

३ भाव मे भाव की अपरागता

जहाँ एक भाव दूसरे भाव का अङ्ग हो जाता है वहाँ भाव से भाव की अपराङ्गता होती है।

मत मेरा संसार मुझे दो।
योग्य नहीं यदि मै जीवन के, जीवन के चेतन लक्षण के,
मुझे खुशी से दो मत जीवन, मरने का अधिकार मुझे दो।
मत मेरा संसार मुझे दो। **बच्चन**

अपने को जीवन के अयोग्य सिद्ध करने से—अधिकारदाता की दृष्टि मे अयोग्य होने से, जीवन के प्रति निर्वेद भाव की व्यञ्जना होती है। अतः माँगनेवाला दाता से संसार नहीं चाहता, मरण चाहता है। इससे उसकी 'धृति' व्यंजित होती है। अतः 'धृति' भाव का यहाँ निर्वेद भाव अङ्ग हो गया है।

डिगत पानि डिगुलात गिरि, लखि सब व्रज बेहाल।
कंपि किशोरी दरसि कै, खरै लजाने लाल॥ **बिहारी**

यहाँ कृष्ण के सात्विक भाव कंप से व्यञ्जित रति भाव का लज्जा भाव अंग है। अतः एक भाव दूसरे भाव का अंग है।

ज्यौं भरिके जल तीर धरी निरख्यौ त्यों अधीर है न्हात कन्हाई।
जानैं नहीं तिहि ताकनि मै 'रतनाकर' कीनी कहा टनुहाई॥
छाई कछू हरुवाई शरीर कै नीर मै आई कछू भरुवाई।
नागरी की नित की जो सधी सोइ गागरी आज उठै न उठाई॥ **रत्नाकर**

अपने ऊपर कन्हाई की दृष्टि पड़ने से नायिका का सुध-बुध खो देना उसका पर्वानुराग (रति भाव) व्यंजित करता है और उस अनुराग का 'जड़ता' संचारी भाव अंग है। इससे भाव में भाव की अपरांगता है।

चना चबैना गंगजल जो पुरवै करतार।
काशी कब हौं सेइहौं, विश्वनाथ दरबार॥ **प्राचीन**

यहाँ निर्वेद भाव चिंता संचारी भाव का अंग है।

४ भाव में भावाभास की अपरांगता—

भावाभास किसी भाव का जहाँ अंग हो जाता है वहाँ यह भेद होता है।

ऊधौ तहाँई चलो लै हमैं, जहँ कूबरी कान्ह बसैं इक ठोरी।
देखिय 'दास' अघाइ-अघाइ तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी॥
कूबरी सों कछु पाइये मंत्र, लगाइये कान्ह सों प्रेम की डोरी।
कूबर भक्ति बढाइये वृन्द चढाइये बंदन चंदन रोरी॥ **दास**

गोपियों का अपनी सपत्नी कूबरी के नजदीक चलने की प्रार्थना करना, अपने प्रिय को सौतिन के साथ देखकर प्रसन्न होना, कूबरी जैसी मूर्खा से कुछ मन्त्र सीखना आदि से परिपुष्ट कूबरी के प्रति भक्ति भाव (रति भाव) के वर्णन में अनौचित्य है। अतः भावाभास है और यह भावाभास 'असूया' भाव का अंग हो गया है।

५ भाव में रसाभास की अपरांगता—

भावाभास की तरह रसाभास भी अंग होता है।

गूजरी ऊजरे जोबन को कछु मोल कहौ दधि को तब दैहौं
'देव' इतों इतराहु नहीं ई नहीं मृदु बोलन मोल बिकैहौं॥
मोल कहौ अनमोल बिकाहुगी ऐंचि जबै अधरारस लैहौं।
कैसी कही फिर तौ कहौ कान्ह अबै कछु हौं हूँ कका कि सौं कैहौं॥

यहाँ परकीया नायिकाकृत जो शृंगार-रस-व्यंजक संभाषण है वह रसाभास का विषय है और वह रसाभास नायिकागत हर्ष, चंचलता तथा औत्सुक्य भाव का अंग होकर आया है। अतः रसाभास अपरांग है।

६ भाव में भावशान्ति की अपरांगता -

जहाँ भावशांति अन्य भाव का अंग होकर रहती है, वहाँ भावशान्ति की अपरांगता होती है।

रावन की रानी जातुधानी बिलखानी कहै,
हा! हा! कोऊ कहै बीस बाहु दस माथ सों।
काहे मेघनाद, काहे काहे रे महोदर तू
धीरज न देत लाइ लेत क्यों न हाथ सों॥

काहे अतिकाय काहे .काहे रे अकंपन
अभागे तिय त्यागे भोंड़े भागे जात साथ सों।
'तुलसी' बढ़ाय बादि साल तें बिशाल बाहैं
याही बल बालिसो! विरोध रघुनाथ सों॥

यहाँ रावण, मेघनाद आदि में जो वीरोत्साह का भाव है उसका त्रास के उदय होने से जो प्रशमन हुआ वह मन्दोदरी की उग्रता संचारी का अंग है। अतः यह उक्त भेद का उदाहरण हुआ।

कौने बिरमाये, कित छाये, अजहूँ न आये,
कैसे सुधि पाऊँ प्यारे मदन गुपाल की।
लोचन जुगल मेरे ता दिन सफल ह्वै हैं,
जा दिन बदन छबि देखौं नंदलाल की।
'सेनापति' जीवन अधार गिरिधर बिनु
और कौन हरै बलि बिथा मो बिहाल की।
इतनी कहत, आँसू बहत, फरक उठी
लहर लहर दृग बाँई ब्रजबाल की।

प्रथम पंक्ति में ब्रजबाला का वितर्क भाव है जिससे पुष्ट होकर तीसरी पंक्ति से विषाद भाव व्यञ्जित होता है। अंतिम पंक्ति में हर्ष की व्यञ्जना से विषाद की शान्ति हो गयी है। इससे भाव-शान्ति में हर्ष भाव की अपराङ्गता है।

७ भाव में भावोदय की अपरांगता

भावोदय जहाँ किसी दूसरे भाव का अंग हो जाय वहाँ भावोदय की अपरांगता होती है।

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा।
सों सब कारन जानु बिधाता। फरकहि सुभग अंग सुनु भ्राता।
रघुवंसिन कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पग धरैं न काऊ। **तुलसी**

जानकी की अलौकिक शोभा से राम के पुनीत मन में विकार उत्पन्न होने से रति भाव का उदय है। और, रघुवंशियों का मन कुपंथ पर कभी नहीं जाता, इस उक्ति से राम की 'मति' की व्यञ्जना होती है जिसका उक्त भावोदय अंग है। अतः यहाँ भावोदय की अपरांगता है।

साजि दल सहज सितारा महाराज चलै
बाजत नगारा पैठ धाराधर साथ से।

राइ उमराइ राना देस देसपति भागे
तजि-तजि गढ़न गढ़ोई दसमाथ से ॥
पैग पैग होत भारी डॉवाडोल भूमि गोल
पैग पैग होत दिग्ग मैगल अनाथ से।
उलटत पलटत गिरत झुकत उझकत
शेषफन वेद पाठिन के हाथ से ॥ **भूषण**

सितारा महाराज की युद्धयात्रा करने पर राजा-महाराजाओं के भागने से त्रास भाव व्यंजित होता है। अतः भावोदय है। यह भावोदय सितारा महाराज की स्तुति का पोषक है। इसलिये यह राज-विषयक रति भाव का अंग है।

८ *भाव में भाव-संधि की अपरांगता*

जहाँ समान चमत्कार-बोधक दो भावों की संधि किसी भाव का अंग होकर रहती है, वहाँ भाव-संधि की अपरांगता होती है।

झपटि लरत, गिरि गिरि परत, पुनि उठि उठि गिर जात।
लगनि-लरनि चख भट चतुर करत परस्पर घात ॥ **दु.ला. भार्गव**

नायिका की आँखों के वर्णन में लज्जा और औत्सुक्य भावों की संधि है। यह संधि प्रिय-विषयक रति भाव का अंग हो गयी है। अतः यहाँ भाव-संधि की अपरांगता है।

छुटै न लाज न लालचौ प्यो लखि नैहर गेह।
सटपटात लोचन खरे भरे सकोच सनेह ॥ **बिहारी**

इसमें प्रिय-मिलन का लालच, (औत्सुक्य और चपलता) तथा नैहर की लाज दोनों भावों की संधि है जो नायक-विषयक रति भाव का अंग है।

९ *भाव में भाव-शबलता की अपरांगता*

जहाँ भाव-शबलता किसी भाव का अंग हो जाती है, वहाँ उसकी अपरांगता होती है।

सुमिरि सकुचि न थिराति संक भासित,
तरकि उग्र बानि सगलानि हरषाति है।
उनिदति अलसाति सोअत सधीर चौंकि,
चाहि चिन्त श्रमित सगर्ब हंरखाति है।
'दास' पियनेह छन-छन भाव बदलति,
स्यामा सबिराग दीन मति कै मखाति है।

जल्पति, जकति, कहँरति कठिनाति मति,
मोहित मरति विललाति विलखाति है।

यहाँ प्रिय के वियोग मे तेंतीसो संचारी भावो का एक साथ प्रतीत होना भाव-शबलता है जो रति भाव का अंग होकर आया है।

रीझि-रीझि, रहसि-रहसि, हँसि-हँसि उठै,
साँसै भरि, आँसू भरि कहत दई-दई।
चौंकि-चौंकि, चकि-चकि, उचकि-उचकि 'देव',
जकि-जकि, बकि-बकि परत बई-बई।
दुहुन को रूप गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात रीति नेह की नई-नई।
मोहि-मोहि मोहन को मन भयो राधिका मै,
राधा मन मोहि-मोहि मोहन मई-मई।

यहाँ भी मोहन के विषय में राधा के और राधा के विषय में मोहन के रति भाव के हर्ष. मोह. विषाद, उत्सुकता आदि पद्योक्त संचारी भाव अंग होकर आये हैं। अतः यहाँ भाव-शबलता की अपरांगता है।

उपर्युक्त सातों रसवत्, प्रेम, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता को कितने आचार्य अलंकार के अन्तर्गत मानते हैं और कितने गुणीभूत व्यंग्य में ही इनकी गणना करते हैं। अपरांग होकर रस, भाव आदि को भूषित करने के कारण ही इनकी गणना अलंकार में की गयी है। यही इनमें नाम मात्र का आलंकारिक धर्म है। यथार्थतः ये गुणीभूत व्यंग्य ही हैं। क्योंकि इनमें विशेषतः गौण रूप से व्यंग्य ही वर्त्तमान हैं। विशिष्ट आचार्य इसीके पक्ष में हैं।

शब्द-शक्ति-मूलक व्यंग्य और अर्थ-शक्ति-मूलक व्यंग्य जहाँ वाच्यार्थ के अंग होकर आते हैं उनके क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं।

वाच्यार्थ में शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम की अपरांगता

धरत धरणि ईस सीस चरणोदकनि,
गावत चतुर मुख सब सुख दानि ये।
कोमल अमल पद कमलाकर कमल
लालित बलित गुण क्यों न उर आनिये।
हिरण कसिपु दानकारी प्रहलाद हित,
द्विजपद उर धारी वेद न बखानिये।

'केशवदास' दारिद-दुरद के बिदारिबे को,
एकै नरसिह कै अमरसिह जानिये।

यह पद्य अमरसिंह की प्रशंसा में लिखा गया है। दारिद्र्य रूपी हाथी को फाड़ने में एक नृसिंह भगवान समर्थ हैं या तद्रूप अमरसिंह। नृसिंह भगवान पृथ्वी को धारण करते हैं और उनके चरणोदक को ईश (महादेव) शीश पर धरते हैं। चतुरमुख (ब्रह्मा) उन्हें सब सुख देनेवाला कहते हैं। उनके कोमल और स्वच्छ चरण निरंतर लक्ष्मी के करकमलों से सेवित होते रहते हैं। वे अनेक गुणयुक्त तो हैं ही। उन्हें हृदय में क्यों न स्थान दिया जाय जो हिरण्यकशिपु के मारनेवाले और प्रह्लाद की रक्षा करनेवाले हैं। जिन्होंने द्विजपद (भृगु-चरण-प्रहार-चिह्न) को हृदय में धारण किया है, जिसे वेदों ने भी बखाना है—वे ही नृसिंह भगवान दारिद्य रूपी हस्ती का नाश करने में समर्थ हैं। क्योंकि, सिंह में ही हस्ती को नष्ट करने की शक्ति है। साथ ही अमर सिंह भी नरसिंह भगवान की ही तरह हैं। यह जो समूचे वर्णन से उपमा व्यंग्य है, वह अंतिम चरण के वांच्यार्थ की शोभा का उपस्कारक है। शब्दश्रित साधर्म्य यों है—अमरसिंह के चरणोदक को भी धरणि-ईश (बड़े-बड़े राजा) अपने शीश पर धारण करते हैं। चतुरों के मुख से उनकी भी प्रशंसा की जाती है, उनके कोमल चरण भी कमल-सरोवर के कमलों से सेवित हैं। वे भी हिरण (हिरण्य = सोना) कशिपु (शय्या) दान करते हैं और प्रह्लाद (प्रकृष्ट आनंद) के हितू हैं। ब्राह्मणों का चरण हृदय से लगाते और वेदों की नयी निधि हैं। इस प्रकार शब्द-शक्ति-भव, जो नृसिंह की समानता का बोधक, व्यंग्यार्थ है, वही अमरसिंह में नरसिंहत्व की विशेषता का द्योतक होता है। अतः उन्हें दारिद्र्यद्विरद का नाश करने में समर्थ जानना चाहिये। इसका वाच्यार्थ तो प्रधान है पर शब्द-शक्ति भव व्यंग्यार्थ उसका उपस्कारक है। शब्द-शक्ति-भव इसलिये है कि अनेकार्थक शब्दों के पर्यायवाची शब्द रखने पर यह व्यंग्यार्थ नहीं प्रकट हो सकेगा। यहाँ शब्द-शक्ति-मूलक अनुरणन से उपमा अलङ्कार की ध्वनि होती है पर इतर कोटि में अमरसिंह की उक्ति से वह प्रधान नहीं रह पाती। इससे गुणीभूत व्यंग्य हो जाती है। वाच्यार्थ के पश्चात् ही व्यंग्यार्थ सूचित होता है। इससे संलक्ष्यक्रम है। यहाँ उपमानोपमेय भाव से जो उपमा

व्यंग्य है वह 'कै अमरसिंह जानियै' वाच्यार्थ का अंग है। अतः अपराङ्ग गुणीभूत व्यंग्य है।

वाच्यार्थ में अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम की अपरांगता

आ रही संध्या धरा में फैलता जाता अँधेरा,
खो गया किस अंध वन में हाय ! जीवन-मार्ग मेरा।
कर रहे विश्राम सुख से जब जगत के जीव सारे,
मैं भटकता खोजता हूँ विश्व में अपना बसेरा।
खा रहा हूँ ठोकरें मैं शांति-सुख से हीन होकर,
उड़ चला तो, पर कहाँ जाऊँ, कहो उड्डीन होकर। **आरसी**

यहाँ आश्रय-हीन विहग की आत्म-चिन्ता के द्वारा घर से भागे हुए किसी भावुक नवयुवक का अच्छा चित्रण किया गया है। संध्या समय जब काफी अँधेरा हो गया है, जब सारे पक्षी अपने-अपने घोंसलों में आकर विश्राम कर रहे हैं तब भी शान्ति और सुख का भिखारी वह अभागा विहग अपना बसेरा ही खोजता फिरता है। वह अपने पूर्व आश्रय-गृह से बड़ी आशा और अभिलाषा लेकर चला था, मगर जब संसार में उसे ठोकरें खानी पड़ीं और भावुकता से कुछ व्यावहारिकता के लोक में आया, तब उसे अपनी गलती पर खेद होने लगा। कवि ने विहग-वृत्तान्त के द्वारा अपने परिजनों को छोड़कर भागे हुए किसी युवक के वृत्तान्त को दृष्टान्त रूप से व्यक्त किया है। यह विहग-वृत्तान्त-वर्णन व्यंग्यार्थ की अपेक्षा न करके भी स्वतःसिद्ध है और व्यंग्यार्थ इसीकी परिपुष्टि करता है। अतः यहाँ संलक्ष्यक्रम व्यंग्य की अपरांगता है। यहाँ का व्यंग्य अर्थशक्त्युद्भव इसलिये है कि पद्य के सब शब्द अपने पर्यायवाची शब्दों से भी यही अर्थ सूचित करेंगे।

बिधुर कमलिनी निकट आ कहूँ बिताकर रात।
लखौ मनावत पाँव पड़ि सहस किरन सखि प्रात॥ **अनुवाद**

अनुनय-विनय के विना ही मानभंग करने वाली मानवती नायिका से उसकी अन्तरंग सखी कहती है कि सखी ! देखो, यह सूर्य सारी रात अन्यत्र बिताकर प्रातःकाल अपनी विरह-विधुरा कमलिनी को प्रणिपात पूर्वक मना रहा है। अर्थात् अपनी किरणों के स्पर्श से मुकुलित कमलिनी को विकसित कर रहा है।

इसमें सूर्य और कमलिनी का जो वृत्तान्त वर्णित है वह प्रासंगिक है। यही वाच्यार्थ है। इस वाच्यार्थ से नायक-नायिका का जो व्यापार प्रतीत होता है वह व्यंग्यार्थ है। इससे शृंगार रस का जो आनन्द उपलब्ध होता है उससे उक्त वाच्यार्थ का उत्कर्ष ही होता है। यहाँ लम्पट नायक और नायिका का जो वृत्तान्त समान व्यापार से अर्थ-शक्तिमूलक व्यंग्यार्थ के रूप में निकलता है वह अप्रासंगिक है। यह अप्रधान होने पर भी वाच्यार्थ के चमत्कार को बढ़ा देता है। अतः व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का अंग है अर्थात् अपरांग गुणीभूत व्यंग्य है। अर्थशक्तिमूलक इसलिये है कि शब्द बदल देने पर भी यह व्यंग्यार्थ प्रतीत हो सकता है।

३ वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यंग्य

जहाँ अपेक्षित व्यंग्य से वाच्यसिद्धि होती है वहाँ वाच्य-सिद्ध्यङ्ग व्यंग्य होता है।

वाच्य-सिद्ध्यंग और अपरांग में यही विभिन्नता है कि अपरांग में वाच्य की सिद्धि के लिये व्यंग्य की अपेक्षा नहीं रहती। व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की थोड़ी बहुत सहायता मात्र कर देता है। पर, वाच्यसिद्ध्यंग में तो व्यंग्यार्थ के विना वाच्यार्थ की सिद्धि ही नहीं हो सकती।

खेलन सिखये अलि भले चतुर अहेरी मार।
कानन चारी नैन मृग नागर नरन सिकार॥ **बिहारी**

यहाँ चतुर शिकारी कामदेव ने बड़े-बड़े चालाक मनुष्यों का अहेर करना काननचारी नयन मृगों को सिखला दिया है।

इस पद्य में कवि ने विरोधालङ्कार का चमत्कार दिखाने के लिये नयनों पर मृगत्व का आरोप किया है, नयनों को मृग मान लिया है। पर जब तक किसी साधारण धर्म की सिद्धि नहीं होती तब तक उक्त आरोप निराधार ही रह जाता है। अतः दोनों का काननचारी होना साधर्म्य है। विचारने से यहाँ यह स्पष्ट है कि कानन शब्द रूढि और आरोप्य माण की प्रधानता के बल से केवल 'वन' का अर्थ दे सकता है 'उभय कान' का नहीं। इसलिये यह श्लेष का विषय न रहा। अब दोनों अर्थों की प्रतीति के लिये अभिधा-मूला व्यञ्जना की शरण लेनी पड़ी, जिससे व्यंग्यार्थ हुआ 'उभय कान'। इस प्रकार व्यंग्यार्थ निकालने से साधारण धर्म की सिद्धि हुई और रूपक की जड़ जमी। जब तक

काननचारी का अर्थ जंगल में विचरने वालों के अतिरिक्त 'कानों तक पहुँचे हुए' नहीं होता, तब तक वाच्य रूपक की सिद्धि ही नहीं हो सकती। ऐसा व्यंग्य 'वाच्यसिद्ध्यंग' कहलाता है।

पँखड़ियों में ही छिपी रह, कर न बातें व्यर्थ।
ढूँढ़ कोषों में न प्रियतम—नाथ का तू अर्थ॥
हटा घूँघट पट न मुख से; मत उझक कर झाँक।
बैठ पर्दे में दिवानिशि मोल अपनी आँक।
कर अभी मत किसी सुन्दर का निवेदन ध्यान;
री सजनि वन की कली नादान! **आरसी**

वन की कली के प्रति यह कवि की उक्ति है। इसमें व्यर्थ बातें करना, कोषों में प्रियतम का अर्थ ढूँढ़ना, मुख से घूँघुट हटाना, उझककर झाँकना, पर्दे में बैठकर रातदिन अपना मूल्य आँकना आदि ऐसा वर्णन है जिससे एक मुग्धा नायिका का भान होता है। यदि यह व्यंग्य न मानें तो कली से जो बातें ऊपर कही गयी हैं उनकी सिद्धि ही नहीं होती। अतः यहाँ मुग्धा नायिका का व्यंग्य वाच्योपस्कारक होने से वाच्य-सिद्ध्यङ्ग गुणीभूत व्यंग्य है।

४ अस्फुट व्यंग्य

जहाँ व्यंग्यार्थ स्फुट रीति से नहीं समझा जाता हो, वहाँ अस्फुट व्यंग्य होता है।

अर्थात् जहाँ व्यंग्य अच्छी तरह सहृदयों को भी न प्रतीत होता हो। बहुत माथापच्ची करने—दिमाग लड़ाने पर ही जो समझ में आ सकता हो वह अस्फुट व्यंग्य है। जैसे,

खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगंध के
प्रथम वसंत में गुच्छ गुच्छ। **निराला**

यहाँ यौवन के पहले चरण में प्रेयसी की नयी-नयी अभिलाषायें उदित हुईं, ऐसा व्यंग्यार्थ-बोध कठिनता से होता है। यह व्यंग्य यहाँ अस्फुट है—बहुत गूढ़ है।

'दास' धनि. ते हैं जे वियाग ही में दुख पावै
देखे प्रान पी के होती जिय में सुखित हैं।
हमैं तो तिहारे नेह एकहू न सुख लाहु
देखेहू दुखित अनदेखेहू दुखित हैं।

वे स्त्रियाँ धन्य हैं जो वियोग ही में दुख पाती हैं और संयोग में सुख पाती हैं। किन्तु, प्यारे! तेरे नेह से मुझे तो किसी तरह से सुख नहीं है। देखने में भी दुख है, न देखने में भी दुख ही है।

इससे दिमाग लड़ाने पर यह व्यंग्य निकलता है कि आप सदैव समीप रहिये, कहीं मत जाइये। क्योंकि दूर रहने पर देखने की उत्कट इच्छा होती है और समीप रहने पर वियोग होने की चिन्ता सताती रहती है। अतः यहाँ अस्फुट व्यंग्य है। यहाँ परकीया होने से निःशङ्क स्थान में एकान्त मिलन की कामना भी व्यंग्य हो सकती है जो अस्फुट है।

५ संदिग्ध-प्राधान्य व्यंग्य

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों में किसकी प्रधानता है इस बात का जहाँ संदेह रहता है वहाँ संदिग्ध-प्राधान्य व्यंग्य होता है।

सुमिरि सीय नारद बचन, उपजी प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि, जनु सिसु मृगी सभीत॥ तुलसी

राम और लक्ष्मण प्रभात समय गुरु की आज्ञा से पूजा के लिये जनक की फुलवारी में फूल लेने गये हैं। उसी समय सीता भी गौरी-पूजन के लिये सखियों के साथ आयी हैं। एक सखी, जिसने दोनों भाइयों को पहले देखा था आकर उनका रूप-वर्णन करती है। उसीके बाद का यह उपर्युक्त दोहा है। दोनों भाइयों का वर्णन सुनकर और नारद के वचन का स्मरण कर, जानकी के हृदय में पवित्र प्रीति उपजी और वे चारों तरफ चकित होकर वैसे देखने लगीं जैसे बाल मृगी भयभीत होकर देखने लगती है। यहाँ सीता का भयभीत बाल मृगी के समान चारों ओर देखना वाच्यार्थ है। जिससे सीता के औत्सुक्य की व्यञ्जना होती है। भयभीत बाल मृगी की उपमा से वाच्यार्थ में भी अत्यन्त चारुता आ गयी है। अतः यहाँ वाच्यार्थ का अधिक चमत्कार है या व्यंग्यार्थ का, यह निश्चय करना कठिन ही है। इसलिये यहाँ संदिग्ध-प्राधान्य व्यंग्य है।

थके नयन रघुपति छबि देखी। पलकनहूँ परिहरी निमेखी।
अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी।

रामचन्द्र की छवि देखते देखते जानकी अत्यन्त स्नेह से वैसे विभोर हो गयीं जैसे शरद के चन्द्रमा को देखकर चकोरी विभोर हो जाती है। यहाँ भी वाच्यार्थ (उपमागत) का चमत्कार अधिक है या 'देह भइ

भोरी' से व्यज्यमान जडता संचारी भाव का। इसमें संदेह रहने के कारण ही यह उदाहरण भी संदिग्ध-प्राधान्य का ही है।

'तुल्य-प्राधान्य' से इसमें इतना ही भेद है कि वहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की समान कोटि में रहता है और यह बात निश्चित रहती है। किन्तु यहाँ दोनों में किसकी प्रधानता है, इसमें संदेह बना रहता है।

जैसे चन्द निहारि के इकटक तकत चकोर।
त्यों मनमोहन तकि रहे तिय बिबाधर ओर॥ दास

नायिका के लाल अधरों को मनमोहन के अपलक देखने से यह व्यंग्य निकलता है कि ओठ बड़े सुन्दर हैं और यह भी व्यंग्य प्रकट होता है कि वे अधरामृत पान के इच्छुक हैं। इन दोनों व्यंग्यों की प्रधानता में सन्देह है। यह भी एक प्रकार का उक्त भेद का उदाहरण हो सकता है।

तुल्यप्राधान्य व्यंग्य

जहाँ व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों की प्रधानता तुल्य हो, समान ही प्रतीत होती हो वहाँ तुल्यप्राधान्य व्यंग्य होता है।

दिन दिन दूनी देखिये भीर साँझ अरु भोर।
प्यारी तेरो बदन लखि दौरत भौंर चकोर॥ प्राचीन

साँझ-सबेरे तेरे मुख को देखकर चकोरों और भौंरों की दिन-दिन दूनी भीड़ लगी दीख पड़ती है। यह वाच्यार्थ है। व्यंग्य है कि तेरा मुख चाँद-सा और कमल-सा सुन्दर है। इन दोनों में चमत्कार एक सा है। इससे इनकी प्रधानता तुल्य है।

आज बचपन का कोमल गात जरा का पीला पात!
चार दिन सुखद चाँदनी रात, और फिर अंधकार अज्ञात॥ पंत

बचपन का कोमल कलेवर बुढ़ापे में पीले पात का सा असुन्दर और निष्प्रभ हो जाता है। चाँदनी रात भी कुछ ही दिनों के लिये होती है। फिर तो अंधकार ही अंधकार है। इससे यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि संसार में सबके सब दिन एक समान नहीं व्यतीत होते। यहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रधानता तुल्य है।

काक्वाक्षिप्त व्यंग्य

जहाँ काकु द्वारा आक्षिप्त होकर व्यंग्य अवगत होता है वहाँ गुणीभूत काक्वाक्षिप्त होता है।

काकु एक प्रकार का कंठरव है जिसके उच्चारण के साथ ही साथ वाच्यार्थ से विपरीत अर्थ निकलता है जो व्यंग्य रूप में रहता है। तत्काल ही व्यक्त हो जाने के कारण इस व्यंग्य में गौणता होती है।

उनके घर में कोलाहल है मेरा सूना है गुफा द्वार।

तुमको ऐसी क्या कमी रही जिसके हित जाते अन्य द्वार। कामायनी

श्रद्धा के सहवास में रहते-रहते जब मनु का मन ऊब गया तब उनको अपने अकर्मण्य जीवन से अरति सी हो गयी। एक दिन जब वे मृगया से लौटे तो श्रद्धा ने नीड़ के चिड़ियों के एक जोड़े की ओर इशारा करके कहा—'देखो, वे अपने बच्चों को चूम रहे हैं। उनके घर में कितना कोलाहल है अर्थात् उनका घर अपने परिवार से भरा-पुरा है, मगर मेरा गुफा-द्वार बिल्कुल सूना-सूना है। तुमको किस चीज की कमी है जो दूसरे के द्वार जाया करते हो?'

यहाँ उक्त पद्य की अंतिम पंक्ति में काकु के द्वारा आक्षिप्त—व्यक्त ऐसा अर्थ होगा कि तुम्हें किसी चीज की कमी नहीं है। इसलिये तुम कभी दूसरों के द्वार पर मत जाया करो। यह व्यंग्यार्थ काकाक्षिप्त है और इसके बाद किसी दूसरे व्यंग्य का बोध नहीं होता। अतः यहाँ काकाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य है।

आर्थी व्यञ्जनागत जो काकाक्षिप्त व्यंग्य होता है, उसीका उदाहरण निम्न लिखित चौपाई है। इस उदाहरण से दोनों की विभिन्नता का पता स्पष्ट चल जायगा।

सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा।

कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा॥ तुलसी

जब रावण ने जानकी से कहा कि एक बार केवल मेरी ओर प्रेम-भरी दृष्टि से देखो तो मंदोदरी आदि सभी रानियों को तुम्हारी दासी बना दूँ। उसीका उत्तर उपर्युक्त चौपाई में है। यहाँ यह वाच्यार्थ है कि ओ दसमुख! सुन, क्या कभी जुगनू के प्रकाश से कमलिनी खिलती है? इसका काकाक्षिप्त अर्थ हुआ कि जुगनू के प्रकाश से कमलिनी का खिलना संभव नहीं। यहाँ तक तो काकाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य है किन्तु इससे भिन्न एक दूसरा जो व्यंग्य है कि मैं यदि तेरी ओर देखूँ भी तो तुझे तृप्ति नहीं होगी, क्योंकि मेरी दृष्टि-कमलिनी सूर्य के प्रकाश से ही खिलती है, खद्योत के प्रकाश से नहीं! राम के दर्शन से उसमें

जो मनोहरता आती है वह तेरे दर्शन से कैसे आयेगी? वह ज्यों कि त्यों उदासीन ही बनी रहेगी। इसलिये यह तेरी प्रार्थना निष्फल है। तू तुच्छ खद्योत होकर सूर्य की बराबरी न कर। यह व्यंग्य काकाक्षिप्त नहीं, काकुवैशिष्ट्य से उत्पन्न काकुध्वनि है। दोनों का स्पष्ट भेद यह है कि जहाँ काकु से घसीटा हुआ विधि का निषेधमात्र या निषेध का विधिमात्र प्रतीत होता है वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है और जहाँ इस विधि-निषेध के अतिरिक्त कुछ गूढ़ और सहृदयों के द्वारा ही बोध्य मनोरम व्यङ्ग्य निकलता है वहाँ काकुध्वनि होती है।

काकाक्षिप्त के कुछ उदाहरण ये हैं—

पंचानन के गुहा द्वार पर रक्षा किसकी?

किसीकी रक्षा नहीं। यह काकु द्वारा आक्षिप्त व्यंग्य है।

नेक कियो न सनेह गुपाल सों देह धरे को कहा फल पायो।

जब गोपाल से कुछ भी नेह का नाता नहीं जोड़ा तो जन्म लेने का क्या फल पाया? कुछ भी नहीं। यह काकाक्षिप्त व्यंग्य है।

हैं दससीस मनुज रघुनायक?
जिनके हनूमान से पायक।

यहाँ काकु से व्यंग्य आक्षिप्त होता है कि राम मनुष्य नहीं, देवता हैं।

असुन्दर व्यंग्य

जहाँ वाच्यार्थ से प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ कुछ भी मनोहर न हो वहाँ असुंदर व्यंग्य होता है। जैसे,

जिस पर पाले का एक पर्त-सा छाया,
हत जिसकी पंकज-पंक्ति अचल-सी काया।
उस सरसी-सी आभरण-रहित सित-वसना,
सिहरे प्रभु माँ को देख, हुई जड़ रसना। **साकेत**

यहाँ उपर्युक्त पद्य की प्रथम तीन पंक्तियों द्वारा जो कौशल्या का वैधव्य अभिव्यंजित होता है, उसमें कोई सौन्दर्य नहीं है, प्रत्युत समस्त पद्य का अर्थचित्र उससे कहीं सुन्दर है। अंतिम पंक्ति के 'सिहरे' और 'जड़ रसना' के वाच्यार्थ में कौशल्या के वैधव्य का जो अतुल हाहाकार निहित है वह तो बहुत ही सुन्दर है। क्योंकि, उसके

कारण भगवान राम जैसे महापुरुष की रसना का जड़ हो जाना और शरीर का सिहर उठना सामान्य नहीं।

बैठी गुरुजन बीच में सुनि मुरली की तान।
मुरझति अति अकुलाय उर परे साँकरे प्रान॥ प्राचीन

मुरली की तान सुनकर गुरुजनों के बीच बैठी हुई बाला मसोस कर मुरझा जाती है; प्राण संकट में पड़ जाते हैं। यह वाच्यार्थ है। व्यंग्यार्थ है मुरली की तान का संकेत पाकर भी गोपिका का कृष्ण से मिलने के लिये जाने में असमर्थ होना। इसमें व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ कहीं अधिक सुन्दर है।

ध्वनि के ५१ भेदों में से निम्नलिखित नौ भेद गुणीभूत नहीं होते—(१) स्वतःसंभवी वस्तु से अलंकार व्यंग्य और इसके पदगत, वाक्यगत और प्रबंधगत भेद। (२) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य—पदगत, वाक्यगत और प्रबंधगत (३) कवि-निवद्ध-पात्र-प्रौढ़ोक्ति सिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य—पदगत, वाक्यगत और प्रबंधगत।

गुणीभूत व्यंग्य की कोटि में वस्तु से अलंकार व्यंग्य के भेद इस लिये नहीं माने जाते कि वस्तुरूप वाच्यार्थ की अपेक्षा वाच्य अलंकार अधिक चमत्कारक होता है। क्योंकि, वाच्यार्थ को अलंकृत करने के लिये ही जब अलंकार की योजना की जाती है तब जहाँ अलंकार व्यंग्य होगा वहाँ उसका क्या कहना! उसमें तो और भी चमत्कार पैदा हो जायगा। वह व्यंग्य गौण नहीं हो सकता। इसीलिये गुणीभूत व्यंग्य में आचार्यों ने उक्त नौ भेदों की गणना नहीं की है। शेष ४२ ध्वनियों के अगूढ़, वाच्यसिद्ध्यंग आदि आठ गुणीभूत व्यंग्य होते हैं। इस प्रकार गुणीभूत व्यंग्य के शुद्ध ४२ भेद हुए।

ध्वनि में जिस तरह सजातीय सजातीय का संकर होता है उसी तरह गुणीभूत व्यंग्य में भी संकर होता है। ऐसे ही विजातीय का विजातीय अर्थात् ध्वनि-गुणीभूत आदि का भी संकर होता है।

ध्वनि के साथ अलङ्कार का भी मिश्रण होता है। जैसे, 'साकेत' से असुंदर व्यंग्य का जो ऊपर उदाहरण दिया गया है उसी पद्य की पंक्तियों में संकर है। उक्त पद्य में कौशल्या का वैधव्य व्यंग्यार्थ है जिससे वाच्यार्थ ही सुन्दर है। इसलिये वहाँ गुणीभूत व्यंग्य तो है ही। साथ ही कौशल्या की अवस्था की तुलना तुषार द्वारा हत श्री कमलिनी वाली

सरसी से की गयी है। इसलिये उस व्यंग्य का अंग यहाँ उपमालंकार है। अतः यहाँ गुणीभूत व्यंग्य और उपमालंकार का अंगागी-भाव संकर है। इसी प्रकार अन्यान्य सजातीय, विजातीय मिश्रित असंख्य भेद होते हैं।

बत्तीसवीं किरण

ध्वनि-भेदों की संख्या

ध्वनि के भेदों में संस्कृत के आचार्य्यों के भिन्न भिन्न मत हैं जिनसे इनकी संख्या में भी भिन्नता आ जाती है। प्रधानतः ध्वनि के १८ भेद बहु-सम्मत हैं। वे ये हैं—

अविवक्षितवाच्य—१ अर्थान्तर-संक्रमित और २ अत्यन्त-तिरस्कृत। विवक्षितान्य पर वाच्य—३ असंलक्ष्यक्रम। संलक्ष्यक्रमान्तर्गत (शब्दशक्ति द्वारा) ४ वस्तु से वस्तु ५ वस्तु से अलंकार तथा (अर्थशक्ति द्वारा) (क) स्वतःसंभवी ६ वस्तु से वस्तु ७ वस्तु से अलंकार ८ अलंकार से वस्तु और ९ अलंकार से अलंकार। इसी प्रकार (ख) कवि-प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध के चार भेद १०–१३ और (ग) कवि-निबद्धपात्र-प्रोढोक्ति के चार भेद १४–१७ तक और १८ शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव।

कई मान्य आचार्यों ने इन्ही अठारह भेदों के उपभेद-स्वरूप ५१ मुख्य भेद माने हैं जो इस प्रकार हैं।

पहले और दूसरे भेद के १ पदगत और २ वाक्यगत होने से दो भेद और हुए। तीसरा १ पदगत २ वाक्यगत ३ प्रबंधगत ४ पदांशगत ५ वर्णगत और ६ रचनागत होने से छः प्रकार का होता है। चौथा और पांचवा १ पदगत और २ वाक्यगत होने से और दो प्रकार का हुआ। छ से सत्रह तक के बारहों भेदों को जब हम वाक्यगत मान लेते हैं तो उनके पदगत १२ और प्रबंधगत १२ भेद करने से २४ भेद और बढ जाते हैं। अब इनका १८ + २ + ६ + २ + २४ = ५२ हुआ। १८ भेदो मे जो तीसरा असंलक्ष्यक्रम भेद है वह अपने छओं भेदों में सम्मिलित है। उस एक को निकाल देने से ५१ भेद हो गये।

'काव्य-प्रकाश' में ५१ को मुख्य भेद मानकर ध्वनि के १०४५५ भेद इस प्रकार माने गये हैं। इन ५१ भेदों के एक दूसरे के साथ मिश्रण करने

पर अर्थात् ५१ से ५१ का गुणा करने पर २६०१ मिश्रित भेद होते हैं। इन २६०१ को उक्त तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की संसृष्टि, इन चारों से गुणा करने पर १०४०४ मिश्रित भेद होते हैं। इनमें शुद्ध ५१ भेद जोड़ देने से कुल १०४५५ भेद हो जाते हैं।

'साहित्यदर्पण'-कार ने मुख्य ५१ भेदों के ५३५५ ही भेद इस प्रकार किये हैं। ५१ भेदों को कारिका के अनुसार तीन संकर और एक संसृष्टि, इनकी ४ संख्या से गुणा करने पर २०४ ही भेद होते हैं। किन्तु यह गणनाक्रम ठीक नहीं। पहला भेद अपने सजातीय के साथ संसृष्ट हो सकता है और ५० विजातीयों के साथ भी। इसलिये प्रथम भेद की सृष्टि ५१ प्रकार की हुई। इसी प्रकार दूसरा भेद एक सजातीय के साथ और ४९ विजातीयों के साथ संसृष्ट होता है। अतः उनके ५० भेद होते हैं। पहले भेद के साथ इस भेद की संसृष्टि पहले ही हो जाने के कारण इसकी गणना पुनः नहीं होती। इस प्रकार अंत तक गुणा करने से १३२६ संसृष्टि के होते हैं। इसी क्रम से तीनों संकरों के मिलाने से ३९७८ भेद होते हैं। इनके जोड़ने से ५३०४ भेद हुए और शुद्ध ५१ भेद मिला दिये गये तो ५३५५ हो गये। स्पष्टता के लिये पं० शिवदत्तकृत साहित्यदर्पण की टीका में गणना-परिपाटी का चित्र देखना चाहिये।

हम कह आये हैं कि अगूढ़ आदि गुणीभूत व्यंग्य के ४२ ही शुद्ध भेद होते हैं। ये शुद्ध भेद आठो प्रकार के होते हैं। अब ८ से गुणा करने पर इनके ३३६ शुद्ध भेद हुए। इन शुद्ध ३३६ भेदों को परस्पर मिश्रित भेद बनाने के लिये ३३६ से गुणा किया तो ११२८९६ भेद हुए। इनको ३ संकर और १ ससृष्टि, कुल ४ से गुणा किया तो ४५१५८४ मिश्रित भेद हुए और इनमें शुद्ध ३३६ भेदों को जोड़ दिया तो ४५१९२० गुणीभूत के भेद हुए। गुणनक्रम यों दिखाया जा सकता है— ४२ × ८ = ३३६; ३३६ × ३३६ = ११२८९६; ११२८९६ × ४ = ४५१५८४ × ३३६ = ४५१९२०।

इन भेदों के विचार तक मस्तिष्क में लाना साधारण काम नहीं, लक्षण, उदाहरण और उनका समन्वय तो अतिकष्टसाध्य भी नहीं है।

तेंतीसवीं किरण

ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य का विवेक

ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य काव्यों के सम्बन्ध में यह एक आशंका की जा सकती है कि जब ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के लक्षण पृथक् पृथक् हैं और दोनों के उदाहरण भी पृथक् पृथक् हैं तब यदि किसी किसी ध्वनि के उदाहरण में गुणीभूत व्यंग्य के लक्षण पाये जाँय और किसी किसी गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरण में ध्वनि के लक्षण पाये जायँ तो वहाँ दोनों में से किसका व्यवहार किया जाय ? जैसे,

नाभि ऊरु घन जघन छुइ नीबी बंधन टार।
पीन उरज मर्दन वही यह कर रसना हार॥ हिन्दी-प्रेमी

महाभारतीय स्त्री पर्व के एक पद्य का यह अनुवाद है। गांधारी की उक्ति श्रीकृष्ण के प्रति है। युद्ध में भूरिश्रवा के कटे हाथ को लेकर यह बात कही गयी है। इसका 'यह' पद कारुणिक दशा का द्योतक है। इस समय यह कटा हाथ समर-भूमि में धूलि-धूसर हो पड़ा हुआ है और गिद्ध-गीदड़ इस पर नजर गड़ाये हुए हैं। और 'वही' पद पूर्व की सजीव अवस्था का पूर्ण निदर्शक है। उस समय यह हाथ शूरों का संहारक, शरणार्थियों का अभयदाता और काम-कला में अत्यन्त कुशल था। इस पद्य में काम-शास्त्रोक्त औपरिष्टक काम-कलाओं का ही उद्घाटन है।

यहाँ स्मर्यमाण शृङ्गाररस अनुभूयमान करुण रस का पोषण कर रहा है। अतएव करुण-प्रधान है और शृङ्गार उसका अंग है। इससे यहाँ शृङ्गार करुण रस का अपरांग रस है और शृङ्गार की अप्रधानता के कारण ही यह मध्यम काव्य—गुणीभूत व्यंग्य माना जाता है।

यहाँ स्मर्यमाण नायक की रति उसकी पत्नी के प्रति है। इससे यह नायिका-विषयक, नायकाश्रय शृङ्गार रस है और नायिका का शोक नायक के लिये है। इससे यहाँ नायिकाश्रय और नायक-विषयक करुण रस है। स्मर्यमाण शृङ्गार रस से परिपुष्ट करुण रस की प्रधानता को लेकर यह ध्वनि काव्य और शृङ्गार रस (उसके स्थायी भाव रति) को लेकर गुणीभूत व्यंग्य काव्य है। दोनों को लेकर दोनों प्रकार के काव्यों का यह उदाहरण बन जाता है।

अब यहाँ उपर्युक्त शंका को प्रश्रय मिलता है कि क्यों न करुण रस की प्रधानता को लेकर इसे ध्वनि काव्य ही कहा जाय? अपराङ्ग शृङ्गार को लेकर गुणीभूतव्यंग्य क्यों कहा जाय? क्योंकि दोनों का इसमें समान प्रसर है।

इसका सीधा सा समाधान यह है कि प्राय: वर्णित विषयों में विभिन्न सजातीय तथा विजातीय काव्य भेदों का संकर और संसृष्टि रहती ही है। अर्थात् ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य में एक का दूसरे के साथ संमिश्रण रहता ही है। पर जहाँ जिसकी प्रधानता रहती है वहाँ उसी का नाम व्यवहार में आता है। अतिशयित चमत्कार को ही प्राधान्य प्राप्त होता है। अत: यहाँ अङ्गी करुण रस की अपेक्षा अंग शृङ्गार रस में ही चमत्काराधिक्य होने के कारण गुणीभूतव्यंग्य ही प्रधान रूप से उल्लेखनीय हुआ।

यहाँ शृङ्गार को प्राधान्य कैसे है, यह भी समझ लीजिये। इस पद्य में आया हुआ 'यह' तात्कालिक अनुभूयमान दशा का बोधक है। किन्तु, इससे प्रकरण-सापेक्ष करुण रस की सामग्री का संकेत मात्र ही होता है, करुण रस की प्रतीति नहीं होती। क्योंकि, इस पद्य में उसके ज्ञात होने का कोई स्वत: साधन नहीं है। इसके विपरीत इस पद्य में आद्यन्त शृङ्गार रस की व्यञ्जक सामग्री की ही भरमार है। इससे इसका व्यंग्य शृंगार रस प्रकरणव्यंग्य करुण रस का अंग होकर अधिक चमत्कारक है।

दर्पणकार ने गुणीभूत व्यंग्य के व्यवहार के तीन अन्य स्थलों का भी निर्देश किया है।[1] (१) जहाँ दीपक, तुल्ययोगिता आदि अलंकारों के प्रयोग में व्यञ्जित होने वाला उपमा आदि अलंकार का प्रसङ्ग हो (२) जहाँ व्यंग्य वाचक शब्दों द्वारा स्पष्ट हो जाय अर्थात् व्यंग्य की रमणीयता कम हो जाय (३) जहाँ व्यंग्य रसादि नगर आदि के वर्णन का अङ्ग हो जाय।

(क) तुल्ययोगिता में गुणीभूत व्यंग्य—

सर्ब ढके सोहत नहीं उघरे होत कुबेस।
अरध ढके छबि पात हैं कबि आखर, कुच, केस॥ प्राचीन

---

१ किंच यो दीपक-तुल्ययोगितादिषूपमाद्यलङ्कारो व्यंग्य: स गुणीभूतव्यंग्य एव। यत्र च शब्दान्तरादिना गोपनकृतचारुत्वस्य विपर्यास:, इत्यादि। साहित्यदर्पण

तीनों का क्रियारूप एक धर्म में संबंध होने के कारण यहाँ तुल्य-योगिता है। इनका उपमानोपमेय भाव छिपा हुआ है। यहाँ उपमालङ्कार व्यंग्य है। अप्रधान होने से गुणीभूतव्यंग्य है।

(ख) दीपक में गुणीभूत व्यंग्य—

देखे तें मन ना भरे तन की मिटे न भूख।
बिन चापे रस ना मिले, आम, कामिनी ऊख ॥ **प्राचीन**

यहाँ प्रस्तुत कामिनी और अप्रस्तुत आम, ऊख तीनों का एक धर्म 'बिन चापे रस ना मिले' से संबन्ध रहने से दीपक अलंकार है। यहाँ उपमेय और उपमान दोनों का एक धर्म कहने से उपमालंकार व्यंग्य होता है जो यहाँ भी गुणीभूतव्यंग्य है।

(ग) आदि शब्द से व्याजस्तुति, समासोक्ति आदि अलंकार लिये जाते हैं। उपमा आदि शब्द से श्लेष आदि अलंकारो का ग्रहण होता है।

दीबे कौं समान उपमान इन नैनन को,
कविन के मन को उकति अधिकाती हैं।
प्यारी के अनोखे अनियारे ईछ छ्वै छ्वै करि,
तीछन कटाछन तैं कटि कटि जाती हैं॥ **प्राचीन**

दो चरणों का भावार्थ यह है कि इन नैनों की उपमा देने के लिये कवियों के मन में उक्तियाँ उमड़ तो पड़ती हैं किन्तु प्यारी की अनोखी आँखों को छू छू कर उनके कुटिल कटाक्षों की बदौलत जहाँ की तहाँ कट जाती हैं। इससे कुटिल कटाक्षों की अत्यन्त तीक्ष्णता व्यञ्जित होती है। कवियों के हृदय में कुछ कहने की कल्पना का उठते ही कट जाना गजब की सूझ का साक्ष्य दे रहा है। किन्तु इसकी व्यञ्जकता के महत्त्व को 'अनियारे' (कोरदार) और 'तीछन' ये दो शब्द कम कर देते हैं इससे यह गुणीभूतव्यंग्य है। यदि इसमें ये दोनों शब्द नहीं आये होते तो यह व्यंग्य ध्वनि पद को प्राप्त कर लेता।

कान्ह के बाँकी चितौनि खुभी झुकि काल्हि जो ग्वारिन झाँकी गवाछनि।
देखि अनोखी सी, चोखी सी कोरनि ओखी परै जित ही तित जा छनि॥
मारे इ जात ,निहारै 'मुबारक' ये सहजैं कजरारे मृगाछनि।
काजर दै री न ऐ री सुहागिन! आँगुरी तेरी कटेगी कटाछनि॥

कल्ह ही तो तेरे कुटिल कटाक्ष कान्ह के कलेजे को पार कर गये हैं। तेरे नैन तो स्वाभाविक ही कजरारे हैं। इसलिये तू अपनी उँगली से

आँखों में काजल न दे नहीं तो उँगली ही कट जायगी। यहाँ भी कटाक्षों की तीक्ष्णता की व्यञ्जना का ह्रास 'चोखी सी कोरनि' शब्दों ने कर दिया है। इससे यहाँ भी गुणीभूतव्यंग्य ही है।

(३) जहाँ रसादि व्यंग्य नगरी आदि के वर्णन के अङ्ग हो जायँ—

जो अपने रंगीन गलों से धनपति का यश करते गान।
ऐसे किन्नरगण को लेकर बड़े बड़े कामी धनवान॥
करते हुए रसीली बातें रच सुरनर्तकियों का गोल।
बाहर के उपवन में जाकर लेते मौज जहाँ जी खोल॥ के.प्र.मिश्र

यहाँ सम्भोग शृंगार रस अलकापुरी के वर्णन का अंग हो जाने के कारण गुणीभूतव्यंग्य है।

साहस, बल, उद्गार भरा, रणचंडी का हुंकार भरा।
इसी भूमि-रज-कण-कण में अरि-नागों का फुंकार भरा॥ ह.घाटी

'हल्दी घाटी' का यह वर्णन है। इसमें जो वीररस व्यञ्जित होता है वह भूमि-वर्णन का अंग होने से गुणीभूतव्यंग्य हो गया है।

ध्वनिकार के मत से[1] रस आदि के तात्पर्य पर विचार करने से गुणीभूतव्यंग्य भी ध्वनिभाव को प्राप्त कर सकता है। जैसे,

कहूँ बनमाल, कहूँ गुंजन की माल, कहूँ संग सखा ग्वाल नाहि ऐसे भूलि गये हैं।
कहूँ मोरचन्द्रिका, लकुट पट पीत कहूँ, मुरली मुकुट कहूँ न्यारे डारि दये हैं॥
कुंडल अडोल कहूँ "सुन्दर" न बोलैं बोल, लोचन अलोल मानौ काहू हर लये हैं।
घूँघट की ओट दै कै चितवन की चोट करी, लालन तौ लोट पोट तब ही तें भये हैं॥

घूँघट की ओट से नायिका ने चितवन की जो चोट की तो लाल लोट-पोट हो गये, उनकी सुध-बुध जाती रही। इसमें शृङ्गार रस की ध्वनि है। यद्यपि जड़ता, मोह, आदि भावों की भी व्यञ्जना है जो प्रधान सी प्रतीत होती है। इससे शृङ्गार को इन भावों का अङ्ग मानकर गुणीभूतव्यंग्य हो सकता है। पर विचार करने से इन संचारियों की व्यञ्जकता ही सिद्ध होती है, व्यंग्यता नहीं।

यहाँ यह शंका होना स्वाभाविक है कि जब विचार से गुणीभूत-व्यंग्य भी ध्वनि ही हो जायँगें तब गुणीभूत का उदाहरण ही अप्राप्य हो

१ प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यंग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्य-पर्यालोचनया पुनः॥

जायगा ! किन्तु नहीं । ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्यों में जिसका स्थापन युक्ति-युक्त हो अर्थात् जिसमें चमत्काराधिक्य हो उसीको मानना उचित है । जैसे—

थाह लेना चाहता कपोत ज्यों गगन की,
मनमें ही किन्तु रह जाती चाह मन की !
त्यों ही मैं उनकी व्यर्थ थाह लेना चाहता,
मानो पूर्ण पारावार को हूँ अवगाहता ॥ **रायकृष्णदास**

अर्थ स्पष्ट है । इसमें व्यंग्य है असंभव काम को संभव कर डालने की तत्परता । किन्तु इसमें 'व्यर्थ' शब्द इस व्यञ्जना का वह महत्त्व नष्ट कर देता है । यहाँ किसी भाँति ध्वनि नहीं हो सकती ।

चौंतीसवीं किरण

वाच्य, लक्ष्य और अनुमेय से व्यंग्य की भिन्नता

१. व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ नहीं

ध्वनिविरोधियों का कहना है कि प्रकरण आदि के वश से जब शब्द एक ही समय में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों की प्रतीति कराता है फिर वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, यह मानने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि गीत आदि के शब्द एक साथ ही रस की व्यंजना भी करते हैं और वाच्यार्थ की प्रतीति भी कराते हैं । ठीक है । इस बात को हम मानते हैं कि प्रकरणवश ही शब्द विशिष्ट अर्थ की व्यंजना करता है और किसी समय यह व्यंजकता शब्द-स्वरूप में ही होती है और किसी समय शब्द की वाचकता-शक्ति में । अर्थबोध के बिना भी गीतादि के शब्दों से जो लौकिक रस-प्रतीति होती है वह भले ही शब्द और स्वरादि के स्वरूप के कारण हो, पर जहाँ वाच्यार्थ-ज्ञान के अनन्तर व्यंग्य-प्रतीति होती है वहाँ वाच्यार्थ-प्रतीति और व्यंग्य-प्रतीति में यौगपद्य नहीं पौर्वापर्य मानना ही पड़ेगा । यदि वाच्यार्थ-ज्ञान के बिना

---

१ प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते ॥
विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनियोजना ॥ ध्वन्यालोक

ही अलौकिक रस-प्रतीति होती तो काव्य सुनते ही सभी को रसास्वाद हो जाता। जो वादी ऐसा कहते हैं कि स्वरादि के साथ गीत के शब्द सुनते ही रसबोध होता है उन्हें भी यह मानना ही पड़ता है कि पहले गीत के शब्द सुन पड़ते हैं तब रसबोध होता है। इससे यह अवश्य मानना पड़ेगा कि शब्द-श्रुति और रसबोध में पूर्वापरत्व का भेद वहाँ भी है। वहाँ यह भेद रहते भी साधारणतः श्रूयमाण शब्द-परंपरा के साथ ही साथ वाच्यार्थ का बोध और तदविरुद्ध रसादि की प्रतीति होती है। निष्कर्ष यह निकला कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का ऐसा यौगपद्य नहीं होता जो दोनों की अभिन्नता सिद्ध कर दे।

किसी किसीं का कहना है कि वाच्यार्थ के सहारे ध्वनि काव्य में जो एक दूसरा अर्थ प्रतीत होता है उसको भी वाच्यार्थ ही कहना चाहिये। उसे व्यंग्यार्थ मानने से क्या लाभ? किन्तु, यह ठीक नहीं। कारण, शब्द जिस व्यापार से वाच्यार्थ का बोध कराता है उस व्यापार से व्यंग्यार्थ का बोध नहीं कराता। वाच्यार्थ शब्द के साथ साक्षात् संबद्ध रहता है और व्यँग्यार्थ वाच्यार्थ द्वारा आक्षिप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रकृति सर्वथा भिन्न है। इन दोनों के विषय भी भिन्न हैं और स्वरूप भी भिन्न। इससे वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों एक नहीं कहे जा सकते।

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रतीति एक रीति से नहीं होती। किसी किसी वाक्य से वाच्यार्थ की प्रतीति के समय पहले वाक्य-घटक पदार्थों की उपस्थिति होती है। तदनन्तर आकांक्षादि के वश से पदार्थों का अन्वय होने पर समुदित वाच्यार्थ का बोध होता है। सारांश यह कि वहाँ अवयवार्थ-प्रतीति-पुरस्सर समुदायार्थ-प्रतीति होती है। पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति इस प्रकार अवयवार्थ का अवगाहन नहीं करती। वह समुदित वाक्यार्थ से ही निष्पन्न होती है।

वाच्यार्थ द्वारा व्यंग्यार्थ प्रकाशित होने पर भी वाच्यार्थ अविकृत रूप में ज्यों का त्यों वर्तमान रहता है। जैसे बत्ती आदि अवयवों से निष्पादित दीपालोक द्रव्य-प्रकाश की अवस्था में निरवयव, अविभक्त या अखण्ड ही प्रतीत होता है, उसके बत्ती आदि अवयव नहीं भासित होते वैसे ही अखण्ड वाक्यार्थ ही व्यंग्यार्थ का बोध कराता है, व्यंग्यार्थ-बोधन-काल में उसके अवयव नहीं भासित होते। यह एक

बात है। दूसरी बात यह है कि कभी वाक्य से प्रतीयमान वाच्यार्थ प्रधान होता है तो कभी व्यंग्यार्थ। क्योंकि प्रधान व्यंग्यार्थ ही तो ध्वनि है। अतः वाचकता और व्यञ्जकता ये दोनों स्वतन्त्र व्यापार हैं। दोनों एक नहीं हो सकते।

अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य ध्वनि में वाच्यार्थ अन्यार्थ में संक्रमित हो जाता है और अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि में वाच्यार्थ की उपेक्षा ही कर दी जाती है। इस तरह वहाँ वाच्यार्थ का कुछ उपयोग ही नहीं होता। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का काम चल जायगा!

असंलक्ष्यक्रम ध्वनि में जो रसभावादि व्यंग्य होते हैं वे अभिधा द्वारा उपस्थापित वाच्यार्थ नहीं हैं। क्योंकि, रस आदि की अभिधा मात्र से आनन्दानुभव नहीं होता। शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम ध्वनि में अनेकार्थक शब्दों की 'संयोग-वियोग' आदि के द्वारा अभिधा शक्ति का नियन्त्रण हो जाने पर भी व्यंग्यार्थ का बोध होता है। एवं अर्थ-शक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम ध्वनि में अभिधा शक्ति के द्वारा वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर भी उसके पश्चात् जो वस्तु वा अलंकार की ध्वनि निकलती है उसका प्रत्यय अभिधा से पृथक् व्यंजना शक्ति के माने विना कभी संभव नहीं है। अतः वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ एक नहीं हो सकता।

२. व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ नहीं

यह बात ज्ञात हो चुकी है कि जहाँ वाच्यार्थ बाधित होकर अन्य अर्थ को लक्षित करता है वहाँ लक्षणा होती है। किन्तु जहाँ व्यंजना होती है वहाँ वाच्यार्थ बाधित नहीं होता। प्रत्युत वाचक शब्द या वाच्य अर्थ वस्तु, अलंकार वा रस को ध्वनित करता है। लक्षणा केवल शब्द-व्यापार है अर्थ-व्यापार नहीं, पर व्यंजना उभय-व्यापार है। क्योंकि जैसे शब्द व्यंजक होता है वैसे अर्थ भी व्यंजक होता है। इससे स्पष्ट है कि व्यंजना लक्षणा से भिन्न है।

लक्षणास्थल में लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ का स्थानापन्न हो जाता है। दोनों की प्रतीति नहीं हो सकती। 'गंगा में घर' कहने से 'गंगा' शब्द जिस समय गंगातट को लक्षित कराता है उस समय धारा का बोध नहीं

कराता। किन्तु व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का उपघात नहीं करता। दोनों का बोध होता है। लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ के बाधित होने पर प्रतीत होता है। किन्तु व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों का आश्रय लेकर भी खड़ा हो सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि अविवक्षितवाच्य ध्वनि में व्यंग्यार्थ और लक्ष्यार्थ का जब भेद लक्षित नहीं होता, क्योंकि वहाँ या तो वाच्यार्थ की प्रतीति नहीं होती या वाच्यार्थ अप्रधान होकर रहता है, जैसे कि 'गंगा में घर'। तब ऐसी जगह व्यंजना द्वारा उपस्थापित व्यंग्यार्थ के मानने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि अविवक्षित-वाच्य ध्वनि यद्यपि लक्ष्यार्थ-सी प्रतीत होती है तथापि वह लक्ष्यार्थ से सर्वथा भिन्न है। क्योंकि लक्षणा के और व्यंजना के व्यापार का क्षेत्र पृथक् पृथक् है। जहाँ-जहाँ लक्षणा होती है वहाँ सर्वत्र व्यंजना नहीं होती। रूढ़िलक्षणा में व्यंजना का कोई उपयोग नहीं होता। पर, अविवक्षित-वाच्य ध्वनि में प्रयोजनवती लक्षणा होती है। इसलिये प्रयोजन को व्यक्त करने के लिये व्यञ्जना की आवश्यकता रहती ही है। जहाँ प्रयोजनवती लक्षणा न होकर रूढ़िलक्षणा होती है वहाँ व्यञ्जना नहीं होती। जैसे 'बिकल सकल रनिवास' इसमें लक्षणा से रनिवास में रहने वाली व्यक्तियों का बोध तो होता है पर प्रयोजन-शून्य होने से लक्षणा होने पर भी व्यञ्जना का व्यापार नहीं होता। इसके विपरीत अविवक्षित-वाच्य ध्वनि से काम लेने पर भी प्रयोजन-की व्यक्ति लक्षणा द्वारा नहीं होती। लक्षणा केवल अन्वय या तात्पर्य की गड़बड़ी मिटा करके शाब्द-बोध मात्र कराकर कृतकार्य हो जाती है। उससे चमत्कारकारक प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ का बोध नहीं हो सकता। जैसे 'गंगा के किनारे' घर न कहकर 'गंगा में घर' कहने का जो प्रयोजन है पवित्रता और शीतलता की अधिकता का द्योतन, यदि वह प्रयोजन न माना गया और वक्ता का अभिप्राय सिद्ध नहीं हुआ तो फिर प्रयोजनवती लक्षणा का कोई प्रयोजन ही नहीं रहा। जहाँ लक्षणा में कुछ भी चमत्कार प्रतीत होगा वहाँ व्यञ्जना का समावेश अवश्य रहेगा। जहाँ ऐसी लक्षणा की जाती है वहाँ यही उद्देश्य रहता है कि व्यञ्जना की सहायता से चमत्कार प्रदर्शित किया जाय। अविवक्षित-वाच्य ध्वनि केवल लक्षणा का फल नहीं है।

३ व्यंग्यार्थ अनुमेय नहीं

वक्ता का अभिप्राय व्यक्त करने के लिये जैसे व्यञ्जक शब्द या शब्दों का प्रयोग किया जाता है वैसे ही उसी शब्द या शब्दों से वक्ता के वक्तव्य का अनुमान भी किया जा सकता है। फिर शब्दगत या अर्थगत व्यञ्जकता को अनुमान छोड़कर और क्या कहा जाय, यह प्रश्न है ? किन्तु विशेष समीक्षा करने पर ध्वननव्यापार को, जिसे व्यञ्जना-व्यापार वा व्यंजकता भी कहते हैं, अतिरिक्त मानना ही पड़ेगा; अनुमान में उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकेगा। यों तो सभी लोग किसी न किसी रूप मे अनुमान शब्द का प्रयोग करते हैं पर उसके यथार्थ स्वरूप को यहाँ जान लेना आवश्यक है। अनुमान करने के पहले अनुमानकर्त्ता को व्याप्तिज्ञान होना चाहिये। किसी एक व्याप्य वस्तु को दूसरी व्यापक वस्तु के साथ सदा वर्तमान देखकर यह व्याप्तिज्ञान प्राप्त होता है कि जहाँ पहली वस्तु रहती है वहाँ दूसरी वस्तु अवश्य रहती है। जैसे रसोई घर में धुएँ के साथ आग को देखकर यह व्याप्तिज्ञान होता है कि जहाँ जहाँ धुँआ रहता है वहाँ वहाँ आग रहती है। व्याप्तिज्ञान को कार्य-कारणादि-सम्बन्ध-ज्ञान भी कह सकते हैं। जिसको यह व्याप्तिज्ञान रहता है वह पहाड़ पर धुँआ देख कर सहज ही अनुमान कर लेता है कि यहाँ धुँआ है, इसलिये आग अवश्य होगी। इस अनुमान के चार अवयव होते हैं। १ पक्ष—जैसे, पर्वत आदि। २ साध्य—जैसे अग्नि आदि। ३ हेतु—जैसे, धूम आदि। दृष्टान्त—जैसे, रसोई घर आदि। इन्ही को लेकर अनुमान होता है।

वक्ता का अभिप्राय अनुमान का विषय हो सकता है। वक्ता दो प्रकार से अपना अभिप्राय प्रकट कर सकता है। एक प्रसिद्धार्थक वाचक शब्दों के प्रयोग द्वारा और दूसरे गूढार्थक व्यञ्जक शब्दों के प्रयोग द्वारा। पहले ढंग के प्रयोग से जो अभिप्राय प्रगट होगा वह तो सर्वसुलभ है किन्तु दूसरे ढंग के प्रयोग से जिस प्रकार का अभिप्राय प्रकाशित किया जाता है वह सर्वसुलभ नहीं। पहले प्रकार के शब्दों का प्रयोग होने पर, जिसको प्रयुक्त शब्द और उसके अर्थ का सम्बन्ध-ज्ञान है, वह वक्ता के अभिप्राय का अनुमान कर सकता है। पर, प्रयुक्त जिन विशिष्ट शब्दों का विशिष्ट अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध है ही नहीं, उनको देख सुनकर वक्ता के अभिप्राय का अनुमान हो ही नहीं सकता।

वक्ता की बाह्य चेष्टाओं से भले ही कोई कुछ मतलब लगाया करे, पर उन विशिष्ट शब्दों के विशिष्ट अर्थाश्रित अभिप्राय का अनुमान कभी ठीक नहीं उतरेगा, उसमें कोर-कसर रह ही जायगी। इससे व्यंग्यार्थ और अनुमान एक नहीं हो सकता।

महिमभट्ट जो यह कहते हैं कि शब्द हेतु है और व्यंग्यार्थ साध्य। हेतु और साध्य का जैसा अविनाभाव संबंध अन्यत्र होता है वैसा ही संबंध व्यञ्जक और व्यंग्यार्थ का भी है। फिर व्यंग्यार्थ को अनुमेय क्यों नहीं मान सकते? उनका यह कथन ग्राह्य नहीं है। क्योंकि, व्यंग्यार्थ अनुमेय नहीं हो सकता। नीचे के उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

नहीं स्वान वह बेखटक भ्रमौ भगत महराज।
नदी कूल बन रहत जो सिंह हत्यौ तेहि आज॥

इस पद्य की पहले व्याख्या हो चुकी है। निषेध इसका व्यंग्यार्थ है। महिमभट्ट इस निषेध का अनुमान यों करते हैं। यहाँ सिंह के प्रकट होने की सूचना धुएँ के ऐसा हेतु है और निषेध अग्नि के ऐसा साध्य है। पर यह अनुमान ठीक नहीं। यहाँ हेतु संदिग्ध है। या तो हेतु और साध्य का व्याप्तिग्रह प्रत्यक्षसिद्ध होना चाहिये या किसी प्रामाणिक द्वारा उपदिष्ट। यहाँ दोनों में से एक भी नहीं। सिंह के आने की सूचना जो हेतुरूप में गृहीत है वह किसी आप्त के द्वारा उपदिष्ट नहीं है। संभव है कहने वाली कुलटा हो जो इस झूठी बात से अपना मतलब गाँठना चाहती हो। अतः उसका कहना प्रमाण नहीं माना जा सकता। इससे इसे हेतु न कहकर हेत्वाभास कहेंगे। तब इससे साध्यसिद्धि दुष्कर है। एक बात और। वक्त्री का कुलटा होना अनुमान के तो प्रतिकूल है, पर निषेध की व्यंजना के अनुकूल। अतः वक्तृवैशिष्ट्य भी दोनों का विषयविभाग ही सिद्ध करता है। दूसरे, भय रहते भी गुरु वा प्रभु की आज्ञा से, या उत्कट प्रेम से या ऐसे ही अन्यान्य कारणों से भय-स्थान में भी जाया जा सकता है। ऐसे भी लोग हैं जो कुत्ते से तो डरते हैं पर सिंह से नहीं डरते। इससे यह हेतु अनैकान्तिक या व्यभिचारी है। साध्य 'निषेध' के अभाव-स्वरूप 'विधि' से व्याप्त होने के कारण उक्त हेतु विरुद्ध भी है। इस प्रकार यहाँ धूमाग्नि के समान साहचर्य का नियम न रहने से व्याप्तिज्ञान नहीं बनता। इस कारण यहाँ अनुमान से काम नहीं चल सकता।

'धोइ गई केसरि कपोल कुच गोलन की' इस उक्त पद्य में उपभोग के व्यंजक रूप से 'धोइ गई' आदि जो कुछ कहा गया है वह कारणान्तर से भी हो सकता है। इससे उसको हेतु मान कर उपभोग का अनुमान करना कठिन है। क्योंकि 'धोइ गई' आदि हेतु व्यभिचारी हैं। यदि यह कहें कि यहाँ 'महापापिन' शब्द से जैसे उपभोग रूप व्यंग्य की व्यंजना होती है वैसे अनुमान भी हो जायगा। वह भी ठीक नहीं। क्योंकि, दूती का महा-पापिन होना प्रमाण से निश्चित नहीं। अनुमान-प्रमाण के समान व्यञ्जना में व्याप्ति तथा पक्षता आदि का निर्धारण करना आवश्यक नहीं। इससे अप्रमाणित महापापिनीपन से भी व्यञ्जना का काम चल जायगा, किन्तु अनुमान का नहीं। इससे दोनों एक नहीं हो सकते।

परिशिष्ट

विचारों का मधुमय उत्स शब्द और अर्थ

शब्द है। शब्द के पीछे उसका सत्यस्वरूप अर्थ है। शब्द रटो, केवल अल्प फल है। शब्द के साथ उसके अर्थ से टक्कर लेने का ऋजु प्रयत्न करो, महती संप्राप्ति है। उससे रस का अनुभव होगा। रस का स्वाद लेना योग है। रस योगियों का भाग है। योगी अर्थ के साथ जूझते हैं, पण्डित शब्द के साथ। इसीलिये पण्डितों के भाग में तक्र ही आया। योगी रस पी रहे हैं पण्डित छाछ पीकर रह गये। पण्डित के सामने शब्द आया—सविता। शब्द की बाहरी परिधि में घूम घामकर पण्डित ने संतोष माना। सविता कहाँ है, क्या है, इस अर्थ को जिसने बूझा वह योग की ओर बढ़ा। मन को अर्थ के साथ बार बार टकरावो, बिजली की परस्पर चटचटाती हुई ऋणधन जिह्वाओं की तरह शब्द को अर्थ की सन्निधि में लाकर स्फुरित करो। वहीं अमृत स्वाद, रस और आनन्द है।

शब्द इंधन की तरह भारी है। अर्थ अग्नि के समान फूल की तरह हल्का। शब्द पृथिवी की ओर गिरता है, अर्थ आकाश की ओर उठकर तैरता है। शब्द भूमि का सरीसृप है, अर्थ आकाश का व्योमविहारी गरुड़ है। शब्द परिमित अर्थ अपरिमित है। शब्द मूर्त, अर्थ अमूर्त है। शब्द निरुक्त, अर्थ अनिरुक्त है। शब्द कहने में आ गया, अर्थ कथन से परे अनुभव या दर्शन चाहता है। शब्द जब अर्थ की ज्योति से चमकता है तब उसके सान्निध्य में अर्थ की धारायें छूटती हैं। जन्म भर शब्द की सेवा की तो 'डुकृञ् करणे' ही हाथ रहा। एक मुहूर्त्त के लिये भी अर्थ का दर्शन मिल गया तो जन्म जन्म के कल्मष भक से उड़ गये।

शब्द के द्वार पर सुनसान है। अर्थ के आँगन में अमृत भावों का कल्लोल है, आनन्द का अमृत गद्गदभाव है। शब्द के नेत्र बाहर की ओर हैं। अर्थ की दृष्टि अन्तर की ओर होती है। अर्थ के पास पहुँच कर आनन्द के आँसुओं की झड़ी लग जाती है। शब्द दशग्रीव रावण की तरह परिमित सिर वाला है। अर्थ सहस्रशीर्षा शेष की तरह अनन्तविस्तारी है। शब्द होकर भी नहीं रहता अर्थ विश्वभुवन का अभिभव करता है। शब्द दो चार पग रेंगता है, अर्थ सुपर्ण की तरह दूरंगम है। शब्द कुम्भकर्ण की तरह यहाँ निद्रालु है, अर्थ लक्ष्मण की तरह जागरणशील है। अर्थ का प्रजागर जिनके हाथ लग गया, वे जगत की रात में जागते रहते हैं।

शब्द जड़ाऊ आभरणों की भाँति है, अर्थ सहज लावण्य की तरह मोहक है। शब्द को पास बैठे हुए भी अपना पता बोलकर देना पड़ता है, अर्थ का सौरभ सौ कोस से अपनी ओर खींचता है। शब्द परकोटे खींचकर भेदभाव उत्पन्न करता है, अर्थ के उदार प्राङ्गण में स्थान की कमी नहीं। शब्द शरीर है,

अर्थ प्राण है। शब्दरूपी शरीर की श्री अर्थरूपी प्राण में है। अर्थ से विरहित शब्द अश्रीलतनू होता है। अश्रील ही अश्लील है। शब्द के पचड़े में विषय हमें अपनी ओर खींचते हैं, अश्लील रहते हैं। अर्थ का जीवन में जितना साक्षात् अवतार होता है उतना ही हम श्रीयुक्त होकर सुसंस्कृत और सम्भ्रान्त बनते हैं। अर्थ शब्द का सिर है, केवल शब्द कबन्ध है। सिर में श्री निवास करती है। शरीर में सौन्दर्य का प्रतीक सिर है। शब्द में आकर्षण का हेतु अर्थ है। अपने कर्म और संस्कारों से मनुष्य ने विश्व के पुष्कल सौन्दर्य में जो भाग पाया है, उस श्री का निवास सिर में रहता है। शब्द को भी कल्याण-साधन का जो बरदान मिला है उसका स्रोत अर्थ में है। शब्द कमल की भाँति उँमगते हुए सौन्दर्य से सुहावना लगता है, पर अर्थ उस पद्मनाल के भीतर का संचारी जीवनरस है। पद्मदल के शतदलों पर जो श्री विहार करती है, उस इन्दिरा का निवास तो वस्तुतः वहाँ है जहाँ इन्दीवर के गुह्य सप्त स्रोतों में रस का अजस्र प्रवाह है। शब्द का माधुर्य आनन्द होता है, पर काव्य में रस का मधुमय सोता तो उस अर्थ में है जिसके साथ शब्द हमारा परिचय करा देता है।

अर्थ कहाँ है? क्या अर्थ के साथ जीवन में हमारा कभी परिचय हो सका है? अर्थ अव्यक्त भाव है सही, पर है नितान्त सत्य। वह कहाँ नहीं है? क्या अर्थ की संप्राप्ति के लिये हमारा हृदय आन्दोलित होता है? ब्रह्मचर्य, तप इन शब्दों का मूर्त रूप क्या सहस्र बार भी हमने नहीं देखा है? पर इन शब्दों के पीछे जो अर्थ है उसके साथ हमारा कितनी बार संपर्क हुआ है? ब्रह्मचर्य किस स्थिति का नाम है, क्या हमें एक बार भी उस आनन्द से गद्गद होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है? अर्थ में जो मिठास, जो अमृत, जैसा स्वाद है उसको चखे बिना शब्द के चाहने से भी क्या होगा? शब्दों से भरा हुआ यह महान् आकाश है। सत्य-धर्म-तप-ब्रह्मचर्य-दीक्षा—ज्ञान-कर्म प्राण, कैसे कैसे अनमोल शब्द इस गंभीर प्रदेश में भरे हैं। विचित्र महिमा है कि हम जब चाहते हैं इन शब्दों का आवाहन कर लेते हैं। शब्दों के पीछे उनकी व्यञ्जना से समवेत अर्थ का महान् अर्णव है। शब्द और अर्थ में सरस्वती के दो बड़े फव्वारे हैं। शब्द वाक् है और अर्थ मन है। शब्द और अर्थ के बीच में जब प्राण का मेरुदण्ड जुड़ता है तभी जीवन में कर्म के द्वारा अर्थ की तहें खुलने लगती हैं। शब्द के अध्ययन का फल अर्थ का ज्ञान है। अध्ययन का व्रत लेकर भी जिसने अर्थ को नहीं जाना, या जानने की सचाई से कभी प्रयत्न नहीं किया, या प्रयत्न करता हुआ भी जो अपने संकल्प को विजयी नहीं बना सका उस अधीती के लिये शोक है। अर्थ का साक्षात्कार ज्ञान का सार और साहित्य का अन्तिम फल है। हे मनीषियो! मन से इस अर्थ को पूछो और रस के दिव्य स्वाद को प्राप्त करो।

विश्वभारती पत्रिका डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

शुद्धिपत्र

अनुस्वारों की, घ ध की, ब व की अशुद्धियाँ छोड़ दी गयी हैं। नहीं का नहों, जैसे का जेसे, हैं का हें, भी एक दो जगह हो गया है। किसी किसी प्रति में यत्र तत्र रेफ उड़ गया है—जैसे वाच्यार्थ—वाच्याथ। किसी किसी प्रति में ओकार का एकार उड़ गया है—जैसे भेदों-भेदा। और, किसी किसी प्रति में अत्तर-दोष से एक दो मात्रायें और एक दो अक्षर अस्पष्ट उठे हैं। इनसे कहीं पढ़ने और समझने में बाधा नहीं हो सकती। संदिग्ध स्थल में इनका निर्देश कर दिया गया है।

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
आसू	आँसू	८	१७
करे	करें	८	१८
म्रसाद	प्रसाद	१६	९
अह्मोपलब्ध	आह्मोपलब्ध	१९	६
भृगनि	भृंगनि	२६	२३
चञ्चल	चञ्चल	३०	३०
वित्र	चित्र	४०	६
आह्वान	आह्वान	४१	१६
नहों	नहीं	४७	२८
उसी	उसीका	५४	२१
प्रयोग	प्रयोग	६०	२७
| |	|——|		
सारोपा साध्यवसाना	सारोपा साध्यवसाना	६४	२०
लक्षण	लक्षणा	६६	२०
सुख का	सुख की	७१	२७
बोध	बोध	७३, ९४	२५, ६
याँहि	नाँहि	७४	१७
कर	करे	७४	१८
या	यों	८०	२३
विहँसता	विहँसत	८१	१
सन्बन्ध	सम्बन्ध	८७	१८
की	को	८९	१७
योजनवनी	योजनवती	९१	२३
घारक	धारक	९३	२१
प्रमत्त	प्रमत्त	१०७	२३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
लोम	लोभ	११०	१०
धर्मं	धर्म	११२	२६
विशेपता	विशेषता	११३	२१
मक्त	भक्त	११४	१२
कृष्ण	कृश	११४	३२
किसानों	किसानों के	११५	२
विरोधाभास	विरोधाभास	११५	८
वैलक्षराय	वैलक्षण्य	११५	२३
विशेषणती	विशेषणवती	१२०	१
तृष्णों	तृणों	१२१	३०
गान्य	मान्य	१२८	१२
वविन्न	पवित्र	१२८	१३
स्तुति	स्तुति	१४५	२५
नायका	नायक	१५१	३१
मुग्वे	मुग्धे	१५२	३०
तुमने	तुम	१६२	२
मा कँह	मों कँह	१६७	४
कुद्ध	क्रुद्ध	१८४	२०
गुजार	गुंजार	१८६	६
कि	की	२०७	३१
उघर	उधर	२१०	२९
तात्पय	तात्पर्य	२२६	१५
नायका	नायिका	२५२	१९
मघुर	मधुर	२९६	१४
उह	यह	३०९	८
व्यक्तिरेक	व्यतिरेक	३०९	२१
संकार	संकर	३२३	२८
अनुरणान	अनुरणन	३२४	१०
शास्त	शान्त	३३५	१२
उटि	उठि	३३९	१४
शब्दश्रित	शब्दाश्रित	३४०	१६
गूलक	मूलक	३४३	६